श्रेष्ठी देवचन्द लालभाई जहेरी.



जन्म १९०९ वैक्रमाब्दे
कार्तिकशुक्लैकादश्याम्
(देवदीपावली–सोमवासरे)
सूर्यपुरे.

निर्याणम् १९६२ वैक्रमाब्दे
पौषकृष्णतृतीयायाम्
(मकरसङ्क्रान्तिमन्दवासरे)
मुम्बय्याम्.

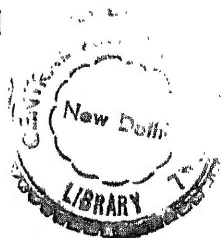
Seth Devchand Lalbhai Jain Pustakoddhar

Fund Series: No. 93

JAIN KUMĀR SAṀBHAVA MAHĀ KĀVYA

BY

S'RĪ JAYASHEKHARA SŪRI



With the Commentary of

S'RĪ DHARMASHEKHARA SŪRI

(of 15th Century)

Vikrama Era 2002]   Price Rs. 2-8-0   [*1946 A. D.*

श्रेष्ठि-देवचन्द्र-लालभाई-जैनपुस्तकोद्धारे ग्रन्थाङ्कः ९३

श्रीमदञ्चलगच्छीयकविचक्रवर्त्तिश्रीजयशेखरसूरिविरचितं—

जैनकुमारसंभवमहाकाव्यम् ।

तच्छिष्यश्रीधर्मशेखरसूरिकृतया टीकया सहितम् ।

अष्टमसर्गपर्यन्तं संशोधकाः, सम्पादकाश्च—

दिवङ्गताः आचार्याः श्रीमद्विजयक्षमाभद्रसूरयः ।

तेषां स्वर्गमनानन्तरं संशोधकः—

आचार्यश्रीमद्विजयलब्धिसूरीश्वरचरणचञ्चरीकः

विक्रमविजयो मुनिः ।

प्रकाशकौ—

हीराचन्द कस्तुरचन्द झवेरी

मोतीचन्द मगनभाई चोकशी

श्रेष्ठि-देवचन्द्र-लालभाई-जैनपुस्तकोद्धारसंस्थायाः कार्याधिकारिणौ ।

वि. सं. २००२ वीरात् २४७२ शाके १८६८ खिस्ताब्दं १९४६

प्रतीनां सार्द्धं सप्तशतम्

मूल्यं २½ रूप्यकसार्धद्वयम्

प्रकाशकः—
हीराचन्द कस्तुरचन्द झवेरी
मोतीचंद मगनभाई चोकशी
ट्रस्टी शेठ देवचंद लालभाई जै. पु. फंड.
गोपीपुरा, बडेखांनो चकलो, सुरत.

प्रिन्टरः—रामचंद्र येसू शेडगे, निर्णयसागर प्रेस,
नं. २६–२८ कोलभाट स्ट्रीट, मुंबई.

प्रस्तावना

विश्वसाहित्यमां, भारतीय साहित्य घणुं ज उच्चस्थान धरावे छे. भारतीय तत्त्ववेत्ताओए पोतानी विचारगंगानो स्रोत प्रत्येक भाषामां अने साहित्यनां विविध अंगोमां वहेवडाव्यो छे. भारतीय साहित्यकारोनी असाधारण मौलिकता ए छे के तेमनी रचनानुं ध्येय लोकमनोरंजन न बनतां लोकहितमां छे, अने तेथीज तेमनी कृतिओ सर्व बंधनोथी मुक्ति अने मानवताना आदर्शनी सुगंधिथी म्हेकी उठे छे.

भारतीय साहित्यने शणगारवामां जैन महर्षिओए आपेलो फाळो असाधारण महत्त्वनो छे. आत्महित अने लोकहितने खातर पोतानां जीवनने अर्पण करनारा आ पूज्योए शुद्ध मानवताने माटे ज सर्जन कर्युं छे. लोकमानसमां अनादिथी घर करी बेठेली आसुरी वासनाओना निर्मूल नाशनाज एक मात्र प्रयत्नने काजे साहित्यने तेमणे पोतानुं साधन बनाव्युं छे. अलबत्त ! केटलाक अपवादोमां, शृंगार आदि रसोनां पण अपूर्व वर्णनो तेमने करवां पड्यां छे ते पण बालबुद्धि जीवोने ते द्वारा धर्मामृतनां पान कराववा माटेज अने तेथी ज जैनाचार्योए नहि खेड्यो होय तेवो एक पण साहित्य-प्रदेश आपणने मळनार नथी. अपूर्व प्रतिभा, महान् सर्जनशक्ति अने आदर्श त्यागी जीवनना त्रिवेणीसंगमरूप

सागरमांथी एमणे वहावेली साहित्यभागीरथी साचेज लोकहितकर, पवित्र अने सुस्वादु छे.

जैन साहित्यस्रष्टाओए जनकल्याण अर्थे निर्माण करेला साहित्यने आडे सांप्रदायिक भावनाने आववा दीधी नथी. प्रत्येक दर्शनना साहित्योने पोतानी विवेचनशक्तिद्वारा एमणे विवेच्यां छे. 'न वदेद्यावनीं भाषाम्' नी मान्यता वाळा भारतना ए साहित्यकारोए फारसीभाषामां पण पोतानी ज्ञानगंगा वहावी छे. अने मुस्लीम साहित्यकार अब्दुल रहमानना 'संदेशरासक' ने टीका द्वारा सुसंस्कृत कर्यो छे. आ सिवाय भारतीय दर्शनकारोना ग्रन्थरत्नो परनी एमनी कृतिओने आलेखीये तो एक महा निबंध थई जाय. कन्नड-भाषानुं व्याकरण पण जैन विद्वानोनीज प्रसादी छे.

आम विश्वतोमुखी प्रतिभावान् जैन विद्वानोए विकसावेला अनेक क्षेत्रोमांनुं आ काव्य पण एक महान् उदाहरण छे. महाकवि कालिदासना कुमारसम्भवनुं अनुकरण आ काव्यमां छे. जेम कालिदासना कुमारसम्भवमां कार्तिकेयना जन्मनुं वर्णन छे तेम आ काव्यमां भगवान् श्री ऋषभदेव स्वामिना पुत्र श्री भरतजीना जन्मनुं वर्णन कविश्रीए कर्युं छे. प्रासंगिक वर्णन तरीके युगादिदेव श्री ऋषभ प्रभुनो जन्म, बाल्यावस्था सुनन्दा–सुमंगला साथे पाणिग्रहण चतुर्दशस्वप्न विगेरे वर्णनो कर्यां छे. तदुपरांत ऋतुओनुं अने प्रातःकाल आदिनुं पण मनोरम वर्णन कविश्रीए यथाव-सर कर्युं छे आ काव्य एक महाकाव्य छे अने महाकाव्यमां

होवा जोईता सघळा गुणो आमां आपणने प्राप्त थाय छे. पदलालित्य, अर्थगौरव, रसपूर्त्ति, शब्दालंकार अने अर्थालंकारोथी अलंकृत आ काव्य विद्वानोने अपूर्व आनन्द उत्पन्न करावे तेवुं छे. कविश्रीनी दर्शनशास्त्रो आदिमां पण असाधारण विद्वत्ता हती ए एमना ग्रन्थोनुं परिशीलन करनारने मुक्तकंठे स्वीकारवुं पडे तेम छे.

कविश्रीने आ काव्य रचवानी प्रेरणा सरस्वती तरफथी थई छे. आ काव्यना टीकाकार कविश्रीना ज शिष्य श्रीधर्मशेखरसूरिजी आना पहेला सर्गना पहेला अने बीजा श्लोकोनी टीका करतां आ प्रमाणे जणावे छेः "श्री जयशेखरसूरिजी स्तम्भतीर्थ (खंभात) मां समाधि ध्यानमां बेठेला हता त्यारे श्री भारती देवीए कह्युं के,-'प्रभो ! निश्चिन्त शा माटे बेठा छो ? आम कहीने 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि कोशलेति' तथा 'सम्पन्नकामां नयनाभिरामाम्' आ बे पादोथी शरु थता बे काव्यो आपी आ काव्यनी रचना करावी" टीकाना मंगलाचरणमां पोताना गुरु श्री जयशेखरसूरिजीनी स्तुति करतां 'यस्मै काव्ययुगप्रदानवरदा श्रीशारदा देवता' आ मुजब विशेषण आपे छे. तेमज कविश्रीए पोते पण आज काव्यना अन्तिम सर्गना छेल्ला पद्यमां 'वाणिदत्तवरः' आ पदनो उल्लेख पोताना विशेषण रूपे कर्यो छे जे उपरनी मान्यतानुं सारु समर्थन करे छे. खंभातमां उपरनो सरस्वती साथेनो वार्तालाप थयो होवाथी संभव छे के, आ ग्रन्थनी रचना खंभातमांज थई होय.

ग्रन्थकारनो परिचयः

आ काव्यना कर्ता आंचलगच्छीय श्री महेन्द्रप्रभसूरिना शिष्य आचार्य श्री जयशेखरसूरिजी छे. जो के, ग्रन्थकारे ग्रन्थना अन्तमां पोताना नाम निर्देश सिवाय विशेष कशो परिचय आप्यो नथी तेम छतां, तेओश्रीना अन्यान्य संस्कृत ग्रन्थोमां तेओए पोतानी विधिपक्ष (आंचलगच्छ) नी परंपरा आ मुजब सूचित करी छे—

१ आर्यरक्षितसूरि (आंचलगच्छ स्थापक)
|
२ जयसिंहसूरि
|
३ धर्मघोषसूरि
|
४ महेन्द्रसिंहसूरि
|
५ सिंहप्रभसूरि
|
६ अजितसिंहसूरि
|
७ देवेन्द्रसिंहसूरि
|
८ धर्मप्रभसूरि
|
९ सिंहतिलकसूरि
|
१० महेन्द्रप्रभसूरि[1]
|
१ मुनिशेखरसूरि — २ जयशेखरसूरि — ३ मेरुतुंगसूरि

---

१ श्री महेन्द्रप्रभसूरिनो जन्म वि. सं. १३६३ मां वडगाममां, दीक्षा वि. सं. १३७५ मां विजापुरमां, आचार्यपद वि. सं. १३९३ मां अणहिल्लपुरपाटणमां, गच्छनायकपद वि. सं. १३९८ मां खंभातमां, अने स्वर्गवास वि. सं. १४४४ मां थयो हतो.

कवीश्वरे पोतानो श्री महेन्द्रप्रभसूरिना मध्यमशिष्य तरीके निर्देश करी पोतानो दीक्षा समय श्री मुनिशेखरसूरि पछी अने श्री मेरुतुंगसूरिजी पहेलां सूचित कर्यो छे. अंचलगच्छनी पट्टावलिमां मेरुतुंगसूरिनो दीक्षासमय वि. सं. १४१८ मां बताव्यो छे अने जयशेखरसूरिजी ते पूर्वे दीक्षित थयेला होवाथी तेमनो जन्म विक्रमनी चौदमी शताब्दिना अन्तमां अगर पंदरमी शताब्दिना प्रारंभमां होवानुं अनुमान थई शके छे. तेमनो विशेष विहार गुजरात अने तेनी आसपास थयो होय तेम तेमना ग्रन्थरचनास्थलो उपरथी समजी शकाय छे. वि. सं. १४६२ सुधीनी तेमनी कृतिओ जोवा मळे छे तेथी ते पछीना नजदीकना समयमां तेमनुं अवसान थयुं हशे तेम अनुमानी शकाय छे.

कविश्रीनो संस्कृत प्राकृत भाषाओ उपरांत गुजराती भाषा उपर पण घणो सारो काबु हतो, ए तेमना त्रिभुवनदीपकप्रबन्ध आदि ग्रन्थो अवलोकतां स्हेजे जणाया विना नही रहे.

तेमनी संस्कृत प्राकृत गुजराती आदि कृतिओ नीचे मुजब छे—

१ उपदेशचिन्तामणि[1] (वि. सं. १४३६)
२ प्रबोधचिन्तामणि[2] (वि. सं. १४६४ खंभात)
३ धम्मिल्लचरित्रकाव्य[3]

---

१ मुद्रित हीरालालहंसराज. २ मुद्रित जैनधर्मप्रसारकसभा, भावनगर ३ मुद्रित ही० ह०.

४ जैनकुमारसंभवकाव्य

५ शत्रुंजयद्वात्रिंशिका[1]

६ गिरनारगिरिद्वात्रिंशिका

७ महावीरजिनद्वात्रिंशिका

८ आत्मावबोधकुलक (प्राकृत)

९ धर्मसर्वस्व

१० उपदेशमालावचूरि[2]

११ पुष्पमालावचूरि

१२ उपदेशचिन्तामण्यवचूरि

१३ क्रियागुप्तस्तोत्र

१४ छन्दशेखर[3]

१५ नवतत्त्वकुलक

१६ अजितशान्तिस्तव (प्रचलित नही, अन्य)

१७ संबोधसप्ततिका[4]

---

१ नं. ५-६-७ आ त्रणे ग्रन्थो कुमारपालचरित्र (हिन्दी) साथे जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर तरफथी प्रकाशित थया छे. २ नं. १० थी १३ ना ग्रन्थो जैनग्रन्थावलिमां जणाव्या छे. ३ जैनग्रन्थावलिमां नं. १४-१५-१६ ना कर्ता पण जयशेखरसूरि जणाव्या छे. तेम छतां तेओ आज आचार्य छे के अन्य तेनो खुलासो जोवामां आवतो नथी. जयशेखरसूरि नामना आचार्यो नागपुरीयतपागच्छ कृष्णर्षियगच्छ आदिमां थया छे. ४ आ ग्रन्थना उपर खरतरगच्छीय क्षेमशाखाना क्षेमराज-जयसोमना शिष्य गुणविनये वृत्ति सं. १६५१ मां रची छे.

१८ त्रिभुवनदीपकप्रबन्ध[1]
१९ नेमिनाथफागु (५८ कडीनो छे.)

आ सिवाय केटलांक स्तवनो बनाव्यानो उल्लेख मळे छे.

टीका अने टीकाकारः

आ ग्रन्थमां, काव्यकारना आशयने स्पष्ट करती काव्यकारना ज शिष्य श्री धर्मशेखरसूरिजी कृत टीका पण साथेज मुद्रित थई छे. अभ्यासिवर्गने काव्यकारनो आशय समजवामां सरलता पडे अने प्राथमिक अभ्यासियो पण लाभ लई शके ए हेतुथी टीकाकार महर्षिए टीकाने घणीज सरळ करी छे. टीकाकार पोतेज, टीकानी शरुआतमां, टीकानी रचनाने उद्देशीने लखे छे के 'अत्र ग्रन्थे च कापि समासं कृत्वा व्याख्या करिष्यते, कापि पर्यायमात्रमेव प्रोच्य व्याख्या करिष्यते' आ पोतानी करेली प्रतिज्ञा मुजब संक्षेपमां पण स्पष्टार्थावबोधक टीका करी छे.

टीकाकारे टीकानी रचना सं. १४८३ मां, सपादलक्ष-देशमां,[2] षट्पुर नामना नगरमां करी छे. आ सिवाय तेमणे पोताना विषे कशोज उल्लेख प्रशस्तिमां कर्यो नथी. तेमज अन्य ग्रन्थोमां पण तेमना विषेनो उल्लेख हजी सुधी मारा जोवामां आव्यो नथी.

---

१ आ ग्रन्थ पोताना प्रबोधचिन्तामणिनो काव्यमय अनुवाद छे. परमहंसप्रबन्ध, प्रबोधचिंतामणि चौपाई, अंतरंग चौपाई आदि पण तेना नामो छे. २ जुओः प्रशस्तिश्लोक नं. ४-६ आजना अजमेर (मारवाड) ना आसपासनो प्रदेश.

आ टीकानुं संशोधन श्रीमाणिक्यसुन्दरसूरिजीए कर्युं छे एम टीकाकारे टीकानी प्रशस्तिना पांचमा श्लोकमां तथा प्रत्येक सर्गना अन्तमां उल्लिखित कर्युं छे. श्री माणिक्यसुन्दर-सूरिजी काव्यकार श्रीजयशेखरसूरिजीना लघुगुरुभ्राता श्री मेरुतुङ्गसूरिजीना शिष्य छे. तेमणे पण संस्कृत गुजराति गद्य आदिमां अनेक कृतिओ रची छे[1]

प्रस्तुत संस्करणः

आ ग्रंथना नीचे मुजब बे संस्करण आ प्रकाशन पहेलां छपाई गयां छे.

श्रावक भीमसी माणेक तरफथी प्रकरणरत्नाकरना भागमां केवळ मूल अने तेनुं पं. हीरालाल हंसराजे करेलुं गुजराती भाषावतरण घणां वर्षो अगाउ मुद्रित थयुं छे. बीजुं संस्करण जामनगरनी 'आर्यरक्षितपुस्तकोद्धार संस्था' तरफथी गत वर्ष-मांज प्रकाशन पाम्युं छे. तेमां धर्मशेखरसूरिजी कृत टीका पण मुद्रित थई छे. परंतु ते अने अहिं प्रकाशन पामती टीका एकज होवा छतां केटलाक स्थलोए फेरफारवाळी छे. आ फेरफार, संभव छे के, प्रतिना कोई वांचके कर्यो होय अथवा तो प्रस्तुत संस्करणना संपादके कर्यो होय. उक्त संस्करण मुद्रित थई रह्युं हशे त्यारेज स्व० विद्वान् आचार्य श्री विजयक्षमाभद्रसूरिजी महाराजे, प्रस्तुत वांचको समक्ष रजु

१ वधु परिचय माटे जुओः मो. द. देसाईकृत जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास.

थता संस्करणनुं संपादन शरु कर्युं हतुं. हुं मानुं छुं के, तेमने जामनगरनी उक्तसंस्था तरफथी थई रहेला प्रकाशननी जाण नहीं होय तेथीज तेमणे आ शरु कर्युं हशे. जो आपणी पुस्तक-प्रकाशन संस्थाओ एक बीजाना सहकारथी अने पोतानी प्रवृत्तिओनी अन्योन्य माहिती आपवा पूर्वक कार्य करे तो एकजातनां कार्यो पाछळनो श्रम, शक्ति अने द्रव्यनो दुरुपयोग थतो अटके अने अन्य उपयोगी कार्यो थई शके.

कमभाग्ये, आ प्रकाशनना अढार फोर्म (२८८ पृ०. ८ सर्ग) मुद्रित थया पछी, विद्वान् आचार्य श्रीविजयक्षमाभद्र-सूरिजी महाराज वढवाण केम्प (काठीयावाड) मां वि. सं. २००० ना आषाढ शुक्ल एकमना अमंगल प्रभाते विकराल कालना दुरुच्छेद पंजामां बेंतालीस वर्षनी उमरे अनेक धर्मसेवा अने श्रुतसेवा करवानी भावना साथे सपडाई गया अने परिणामे आ पुस्तकनुं मुद्रण त्यांथीज अटकी पड्युं.

पूज्य व्याख्यान वाचस्पति कविकुलकिरीट गुरुदेव श्री विजय लब्धिसूरीश्वरजी महाराजानी शुभनिष्ठा मां गत चातुर्मास अत्र थयुं दरमियान शेठ देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंडना ट्रस्टीओ श्री हीराचंद कस्तुरचंद झवेरी अने श्री बाबुभाई प्रेमचंद झवेरीए अधुरा रहेला आ कार्यने संपूर्ण करी आपवानुं कहेतां में आ कार्य हाथ धर्युं संशोधन माटे कोई हस्तप्रतो मने आपी नथी, पू. क्षमाभद्रसूरि महाराजे तैयार करेल प्रेस कॉपीना आधारेज में आ

पुस्तकनुं नवमा सर्गथी संशोधन कर्युं छे. प्रेस कॉपीमां पण तेनी कई हस्तप्रतना आधारे कॉपी करावी छे, तेनो निर्देश नथी, तेथी कया भंडारनी कई हस्त प्रत के प्रतोना आधारे आनी कॉपी थई छे ते कहेवाने हुं समर्थ नथी.

आ पुस्तकना संशोधनमां, खास करीने प्रस्तावनाना लेखनमां मुनिश्री भास्करविजयजीए आपेली मदद माटे तेमने धन्यवाद आप्या सिवाय केम चाले?

अन्तमां, प्रेसदोष, संशोधनदोष अगर तो मतिमंदता आदिना योगे जे कांई स्खलना रही जवा पामी होय तेनुं संशोधन करी अभ्यासिओ आनुं अध्ययन-परिशीलन करे अने ते द्वारा वीतरागभाषित सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन, अने सम्यग् चारित्र रूप रत्नत्रयीनी यथाशक्ति आराधनामां वधुने वधु आगळ वधे एम इच्छु छुं.

लालबाग जैन उपाश्रय,
भुलेश्वर, मुंबई ४
आषाढ शु. ८ वि. सं. २००२

पू. आचार्यदेव श्रीमद्विजय-
लब्धिसूरीश्वरचरणसेवक
मुनि विक्रमविजय

आभारदर्शन ।

सद्गत पू० आचार्य श्री क्षमाभद्रसूरिजीथी दैववशात् संपूर्ण नहि करी शकायलुं आ जैनकुमारसंभव महाकाव्य सद्भाग्ये पूज्य आचार्यवर श्री विजयलब्धिसूरिजीना मुंबई चातुर्मास दरम्यान तेमना विद्वान शिष्यरत्नो मुनिप्रवर श्री विक्रमविजयजी तथा श्री भास्करविजयजीना सानंद सहकारने परिणामे संपूर्णता पामी शक्युं छे, ते बदल फंड तरफथी तेओश्रीनो अहीं आभार मानवानी अमे तक लइए छीए.

प्रस्तुत ग्रन्थना रचयिता विषे प्रस्तावनामां विस्तृत रीते कहेवायुं छे एटले अहिं ते बाबतनुं पुनरुच्चारण जरूरनुं नथी; परंतु आ संस्थाना व्यवस्थापको प्राचीन अने अप्रकट रहेला जैन साहित्यादिना ग्रंथोनुं प्रकाशन करवा सदा उत्सुक छे—अने रहेशे. तेओ आशा राखे छे के तेवा प्राचीन ग्रंथोना प्रकाशन माटे धुरंधर विद्वान जैनमुनिओ तथा श्रावक समुदाय तरफथी फंडना व्यवस्थापकोने योग्य मार्गदर्शन तथा सहाय मळशे. आ फंडद्वारा जैन साहित्यना छूपां अनेक रत्नो जाहेरमां मूकाय अने ते द्वारा जैन शासननी कीर्तिपताका दिगन्तमां फरकती रहे ए अमारी भावना छे.

आ प्रकाशनमां सहाय करनारा सर्वेनो फरी वार आभार मानी विरमीए छीए.

ली०

हीराचंद कस्तुरचंद झवेरी

मोतीचंद मगनभाई चोकशी

व्यवस्थापको

श्री दे० ला० जै० पु० फंड.

[illegible]

श्रेष्ठि-देवचन्द्र लालभाई-जैनपुस्तकोद्धारे—

श्रीमदञ्चलगच्छीयकविचक्रवर्त्तिजयशेखरसूरिविरचितं

जैनकुमारसंभवमहाकाव्यम् ।

तच्छिष्यश्रीधर्मशेखरसूरिकृतटीकया सहितम् ।

विश्वहितबोधिदायकश्रीअमीविजयगुरुभ्यो नमः

॥ अर्हम् ॥

अथ प्रथमः सर्गः प्रारभ्यते ।

अस्त्युत्तरस्यां दिशि कोशलेति,
पुरी परीता परमर्द्धिलोकैः ।
निवेशयामास पुरः प्रियायाः,
स्वस्या वयस्यामिव यां धनेशः ॥ १ ॥

सम्पन्नकामा नयनाभिरामाः,
सदैवजीवत्प्रसवा अवामाः ।
यत्रोज्झितान्यप्रमदाऽवलोका
अदृष्टशोका न्यविशन्त लोकाः ॥ २ ॥

युग्मम् ।

टीकाकारमङ्गलाचरणम्—

ध्यात्वा श्रीशारदां देवीं, नत्वा श्रीगुरूनपि ।
कुमारसम्भवस्येयं, विवृतिर्लिख्यते मया ॥ १ ॥

यस्मै काव्ययुगप्रदानवरदा, श्रीशारदा देवता,
श्रीमज्जैनकुमारसम्भवमहाकाव्यादिकर्त्ता कलौ ॥
सिद्धान्तोदधिचन्द्रमाः सहृदयश्रेणीशिरःशेखरः,
सोऽयं श्रीजयशेखराख्यसुगुरुर्जीयाज्जगन्मङ्गलम् ॥२॥

अत्राऽयं किल सम्प्रदायः—लौकिककाव्यानुसारेण 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि' इति सप्ताक्षराणि वर्त्तन्ते इति न ज्ञातव्यं किन्तु श्रीस्तंभतीर्थे श्रीमदञ्चलगच्छगगनप्रभाकरेण यमनियमासनप्राणायामाद्यष्टाङ्गयोगविशिष्टेन समाधिध्यानोपविष्टेन निजमतिजितसुरसूरिणा परमगुरुश्रीजयशेखरसूरिणा चन्द्रमण्डलसमुज्ज्वलराजहंसस्कन्धोषितया चञ्चच्चलकुण्डलाद्याभरणविभूषितया भगवत्या श्रीभारत्या प्रभो ! त्वं कविचक्रवर्तित्वं च प्राप्य निश्चित इवासीनः किं करोषि ? इति प्रोच्य (अस्त्युत्तरस्यां दिशि कोशलेति० ॥ १ ॥ सम्पन्नकामा नयनाभिरामा० ॥ २ ॥ एतदाद्यकाव्ययुग्मं दत्वा विहितसुरासुरसेवश्रीयुगादिदेवसत्कजन्मबालकेलियौवनमहेन्द्रस्तवनसुमंगलासुनन्दापाणिग्रहणचतुर्दशस्वप्नदर्शनभरतसंभवप्रातर्वर्णनपुरःसरं जैनं श्रीकुमारसम्भवमहाकाव्यं कारितं, यथा लौकिककुमारसम्भवे कुमारः कार्तिकेयः तस्य सम्भवस्तथा अत्र कुमारो भरतः तस्य संभवो ज्ञेयः । शिशवश्च सर्वेऽपि कुमारा उच्यन्ते अतः कुमारसम्भव इति नाम्ना महाकाव्यमत्रापि ज्ञेयम् । तेन आदौ ध्यात्वा श्रीशारदां देवीं इति प्रारम्भे न दुष्टम् । अत्र ग्रन्थे च क्वापि समासं कृत्वा व्याख्या करिष्यते, क्वापि शब्दस्य पर्यायमात्रमेव प्रोच्य व्याख्या करिष्यते ।

अस्त्युत्तरस्यां दिशि कोशलेति० । अस्ति विद्यते—कासौ

कर्तृ० ? कोशला अयोध्या इति पुरी नगरी । अयोध्यायाः शाश्वतत्वेन त्रिकालव्यापकत्वेऽपि वर्तमाननिर्देशः । अतीतभविष्यतोः कालयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन अवस्तुत्वात् वर्त्तमानस्यैव कालस्य वास्तवत्वात् । यदागमः "भवति स नामातीतः प्राप्तो यो नाम वर्त्तमानत्वम् । एष्यंश्च नाम स भवति यः प्राप्स्यति वर्तमानत्वम् ॥ १ ॥" क्वास्ति उत्तरस्यां दिशि कौबेर्यां ककुभि । इह यद्यपि नानादेशनिवेशभाजनं जनं प्रतीत्य विवक्षितनगर्यादिकनियमनं न तादृशीं सङ्गतिमङ्गति तथापि सकले दिग्मण्डले उत्तरस्याः प्रशस्यत्वात् तन्नामोत्कीर्त्तनं चकार कविः, स्वाक्रान्तं दक्षिणदिशमाश्रित्य वा । कथंभूता कोशला ? परमर्द्धिलोकैः परीता–परमा ऋद्धिर्धनकनकवसनादिका येषां ते परमर्द्धयस्ते च ते लोकाश्च परमर्द्धिलोकास्तैः परीता परिगता अन्विता इति यावत्, अथ कोशलामेव प्रधानपुरुषकर्तृत्वेन विशिनष्टि—धनेशो धनद उत्तरदिक्पालो यां कोशलां पुरीं निवेशयामास स्थापयामास, ऋषभजन्मतः पूर्वलक्षाणां विंशतौ व्यतीतायाम् । एवं हि **आगमे** श्रूयते, यदा किल भगवान् ऋषभस्वामी अस्या अवसर्प्पिण्यास्तृतीयारकस्यावसाने विश्वव्यवहारवन्ध्यत्वेन मुग्धमतीनां प्रजानां निखिलन्यायप्रदर्शनाय राज्यभारमङ्गीचकार । तदा च सौधर्मसुरपतिनिदेशवशंवदो धनदो वर्ण्यसौवर्णप्राकारां अभ्रंलिहस्फुटस्फाटिकागारां संभवन्नवनवपूजोत्सवविहारां नवयोजनविस्तारां द्वादशयोजनायामां सरःसरसदीर्घिकागृहवाटिकारामाभिरामां काले भविष्यदयोध्याभिधानां विनीतां पुरीं निवेशयामास । ततः

दूरस्थानगास्तदासन्ननरानाहुस्ते कुशला इति कालेन सा कोशला अभूत् । एतेन दक्षिणभरतार्धमध्यवर्तित्रिभागरूपस्य कौशलायाः स्थानस्य शाश्वतत्वं तन्निवेशस्य च गृहप्राकारारामलक्षणस्य धनदकर्तृकत्वं उक्तं भवति । उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्याः आत्मनः सम्बधिन्याः प्रियाया इष्टायाः । (पुरः) पुरतो नगर्याः अलकाया वयस्यामिव सखीमिव । सख्यं हि समानशीलयोरेव शोभते इत्यनेन कोशलायाः केनाऽपि रामणीयकगुणेन अलकायाः सादृश्यं मन्यन्ते । तेन च कोशलायां दृष्टायां अदृष्टामप्यलकां दृष्टामिव मन्यन्ते । अन्योऽपि धनेशो धनवान् स्वस्याः प्रियायाः कान्तायाः पुरोऽग्रे वयस्यां सखीं निवेशयति । **ननु** इदं शास्त्रं नगरसागरशैलऋतुचन्द्रार्कोदयोद्यानजलकेलिमधुपानसुरतमन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयविवाहविप्रलम्भकुमारवर्णनरूपविशिष्टाष्टादशवर्णनोपेतत्वान्महाकाव्यम् तच्चादौ मङ्गलाभिधानमन्तरेण (कथं) श्रोतुः प्रवृत्तिनिमित्तं भवति । **नैवम्** । अस्य महाकाव्यस्य तत्र तत्राधिकारे श्रीऋषभदेवनाममन्त्रपवित्रितस्य सर्वस्याऽपि मङ्गलमयत्वात् मङ्गलमयस्यापि मङ्गलान्तरकरणे अनवस्थादौस्थ्यस्य दुर्निवारत्वात् । न हि प्रकाशमयः प्रदीपः स्वप्रकाशे प्रदीपान्तरमपेक्षते । **किञ्च** 'यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते', इति वचनात् बहुभिस्तीर्थकृद्भिरध्यासितायाः कोशलायास्तीर्थरूपतैव । शास्त्रारम्भे च तन्नामग्रहणात् कर्तुः श्रोतुश्च निश्चितो मङ्गलाभ्युदय इति सुस्थम् ॥ १ ॥ सम्पन्नकामा नयनाभिरामा—यत्र यस्यां नगर्यां एवंविधा, लोका न्यविशन्त, धातूनामनेकार्थत्वात् वसन्ति स्म 'निविशः' (३।३।२४) इति सूत्रेणा-

त्मनेपदमत्र । किंलक्षणा लोकाः? सम्पन्नकामाः सम्पन्नाः कामा अभिलाषा मनोरथा येषां ते सम्पन्नकामास्तत्कालमेव प्राप्तमनोवाञ्छितसर्वसुखसम्पत्तित्वात्, पुनः किं० ? नयनाभिरामाः नयनानां लोचनानाम् अभिरामाः मनोज्ञाः सर्वाङ्गसौभाग्यसुन्दरत्वात् । पुनः किंविशिष्टाः? सदैव जीवत्प्रसवः सर्वकालं जीवितावधि जीवन्तः प्रसवा अपत्यानि येषां ते सदैवजीवत्प्रसवाः। पुनः किंविशिष्टाः? अवामा न परस्परं प्रतिकूला मिथः-सौहार्दपरत्वात् । पुनः किंविशिष्टाः? उज्झितान्यप्रमदावलोका उज्झितस्त्यक्तोऽन्यप्रमदानां परस्त्रीणामवलोको दर्शनं यैस्ते उज्झित० परस्त्रीपराङ्मुखत्वेन परनारीसहोदरेति लब्धबिरुदत्वात् । पुनः किंविशिष्टाः? अदृष्टशोकाः न दृष्टः शोको यैस्ते अदृष्टशोकाः इष्टवस्त्वादेरवियोगत्वात् ॥ २ ॥

चन्द्राश्मचञ्चत्कपिशीर्षशाली
सुवर्णशालः श्रवणोचितश्रीः ।
यत्राभितो मौक्तिकदत्तवेष्ट-
ताटङ्कलीलामवहत्पृथिव्याः ॥ ३ ॥

चन्द्राश्मचञ्चत्कपिशीर्षशाली० । यत्र यस्यां नगर्यां सुवर्णशालः स्वर्णप्राकारः अभितः समन्ततः पृथिव्या मौक्तिकदत्तवेष्टितां ताटङ्कलीलां मौक्तिकैर्दत्तो वेष्टो यस्मिन् एवंविधो यस्ताटङ्कः कर्णाभरणं तस्य लीलां अवहत् । किंलक्षणः सुवर्णशालः? चन्द्राश्मचञ्चत्कपिशीर्षशाली चन्द्रकान्तसत्कानि चञ्चन्ति प्रसरन्ति कपिशीर्षाणि तैः शाली शोभमानः । पुनः किंविशिष्टः? श्रवणोचितश्रीः श्रवणायोचिता योग्या श्रीः शोभा यस्य स

श्रव० । ताटङ्कपक्षे श्रवणोचितश्रीः, कर्णस्य योग्या श्रीर्लक्ष्मी यस्य सः ॥ ३ ॥

नदद्भिरर्हद्भवनेषु नाट्य-
क्षणे गभीरध्वनिभिर्मृदङ्गैः ।
यत्राऽफलत्केलिः कलापिपङ्क्ते-
र्विनापि वर्षा घनगर्जिताशा ॥ ४ ॥

नदद्भिरर्हद्भवनेषु नाट्य० । यत्र यस्यां नगर्यां केलिः क्रीडा, कलापिपङ्क्तेः मयूराणां श्रेणेः, वर्षाकालं विनापि घनगर्जिताशा मेघगर्जारवस्याशा अफलत् । वर्षाशब्दो बहुवचनान्तो ज्ञेयः यथा प्राणदारासुप्रमुखाः । कैर्मृदंगैः । मृदङ्गैः किं कुर्वद्भिः ? अर्हद्भवनेषु सर्वज्ञप्रासादेषु नाट्यक्षणे नाटकावसरे नदद्भिः शब्दायमानैः । किंविशिष्टैर्मृदङ्गैः ? गम्भीरध्वनिभिः गम्भीरो ध्वनिर्नादो येषां ते गम्भीरध्वनयः तैः ॥ ४ ॥

हर्षादिवाधःस्थितनायकानां
प्राप्य स्थितिं मौलिषु मन्दिराणाम् ।
यस्यां क्वणत्किङ्किणिकानुयायि
नित्यं पताकाभिरकारि नृत्यम् ॥ ५ ॥

हर्षादिवाधःस्थितनायकानां० । यस्यां नगर्यां पताकाभिः नित्यं निरंतरं नृत्यं अकारि, उत्प्रेक्षते हर्षादिव । किं कृत्वा ? मन्दिराणां आवासानां मौलिषु शृङ्गेषु स्थितिं प्राप्य । किंविशिष्टानां मन्दिराणाम् ? अधःस्थितनायकानां अधःस्थिता नायका स्वामिनो येषु, अत एव हेतोः पताकानां उपरिस्थितत्वहर्षान्नृत्यमिति भावः ।

किंलक्षणं नृत्यम् ? क्वणत्किंकिणिकानुयायि शब्दायमानक्षुद्रघंटिकाघर्घरिकामनुगच्छत् ॥ ५ ॥

तमिस्रपक्षेऽपि तमिस्रराशे-
रुद्धेऽवकाशे किरणैर्मणीनाम् ।
यस्यामभूवन्निशि लक्ष्मणानां
श्रेयोऽर्थमेवावसथेषु दीपाः ॥ ६ ॥

तमिस्रपक्षेऽपि तमिस्रराशे० । यस्यां पुर्यां लक्ष्मणानां लक्ष्मीवतां आवसथेष्वावासेषु निशि रात्रौ दीपाः श्रेयोऽर्थमेव मङ्गलार्थमेवाभूवन्, निशि इत्यत्र 'मासनिशासनस्य शसादौ लुग्वा' (सि० २।१।१००) इति सूत्रेणाकारलोपः । क्व सति ? तमिस्रपक्षेऽपि अन्धकारपक्षेऽपि, तमिस्रराशेरन्धकारसमूहस्य मणीनां किरणैरवकाशं रुद्धे सति । अत एव दीपानां श्रेयोऽर्थत्वमेव तमसो मणिकरणैरेव रुद्धत्वादिति भावः ॥ ६ ॥

रत्नौकसां रुग्निकरेण राकी-
कृतासु सर्वास्वपि शर्वरीषु ।
सिद्धिं न मन्त्रा इव दुःप्रयुक्ता
यत्राऽभिलाषा ययुरित्वरीणाम् ॥ ७ ॥

रत्नौकसां० । यत्र यस्यां नगर्याम् इत्वरीणामसतीनां अभिलाषाः मनोरथाः सिद्धिं न ययुः न गताः, क इव ? दुःप्रयुक्ता अविधिव्यापारिता मन्त्राः (इव) सिद्धिं न यान्ति । कासु सतीषु ? रत्नौकसां रत्नमयावासानां रुग्निकरेण कान्तिसमूहेन, सर्वास्वपि शर्वरीषु रात्रिषु, राकीकृतासु राका पूर्णिमा तत्सदृशासु कृतासु

रात्रिषु । कुलटाचौराणामभिलाषसाधकं तम एव, तत्र च तन्नास्तीति भावः ॥ ७ ॥

यद्वेश्मवातायनवर्त्तिवामा-
जने विनोदेन बहिःकृतास्ये ।
व्योमाम्बुजोदाहरणं प्रमाण-
विदां भिदामापदभावसिद्ध्यै ॥ ८ ॥

यद्वेश्मवातायनवर्तिवामा० । प्रमाणविदां तार्किकाणां व्योमांबुजोदाहरणम्—आकाशकमलदृष्टान्तः, अभावसिद्ध्यै अभावसिद्ध्यर्थं प्रयुक्तं सत् भिदामापत् भेदं प्राप । यदसद्वस्तु प्रमाणेन स्थाप्यते सा अभावसिद्धिः कथ्यते । महीतले घटो नास्ति यथा आकाशे कमलम् । क सति ? यद्वेश्मवातायनवर्त्तिवामाजने यस्या नगर्या धवलगृहसत्कगवाक्षवर्तिनि स्त्रीजने, अत्र जातावेकवचनम्, विनोदेन बहिःकृतास्ये सति कौतुकेन गवाक्षस्य द्वारिकाया बहिःकृतमुख इत्यर्थः । स्त्रीणां मुखान्येव आकाशे कमलानि सत्यानि । अत एवाकाशकमलानामसत्कल्पना वादिनां व्यर्था जातेति भावः ॥ ८ ॥

युक्तं जनानां हृदि यत्र चित्रं
वितेनिरे वेश्मसु चित्रशालाः ।
यत्तत्र मुक्ता अपि बन्धमापु-
र्गुणैर्वितानेषु तदद्भुताय ॥ ९ ॥

युक्तं जनानां हृदि यत्र चित्रं० । यत्र यस्यां पुर्यां वेश्मसु आवासेषु चित्रशाला जनानां लोकानां हृदि चित्रं युक्तं वितेनिरे-

निरे विस्तारयामासुः चित्रशब्देन चित्रकर्म आश्चर्यं वा । चित्रशालाश्चित्रं कुर्वन्ति, एतद्युक्तं यस्य यद्वस्तु स्यात् स तदन्येभ्योऽपि दत्ते युक्तमेतत् । यत् तत्र तासु चित्रशालासु मुक्ता अपि गुणैर्वितानेषु बन्धम् आपुः प्रासास्तदद्भुताय आश्चर्याय जातम्, ये मुक्ताः सिद्धाः स्युस्ते गुणैः सत्वरजस्तमोलक्षणैः बन्धं कथमाप्नुवन्ति ? अथवा ये वितानेषु मुक्ताः स्थापिताः स्युः ते गुणैर्विनयादिभिर्बन्धं कथम्० ? अथवा ये मुक्ताश्चौरादयः स्युः ते गुणै रज्जुभिश्च० ? इत्थं विरोधः । अथ विरोधपरिहारमाह—मुक्ताशब्देन मौक्तिकानि वितानेषु चन्द्रोद्द्योतेषु गुणैस्तन्तुभिर्बन्धं आपुरिति तत्त्वम्, अत्र विरोधालङ्कारो ज्ञेयः ॥ ९ ॥

प्रभुप्रतापप्रतिभग्नचौरे
पौरे जने ज्योतिषिकैर्न यत्र ।
चौराधिकारः पठितोऽपि सम्यक्
प्रतीयते सानुभवेन वन्ध्यः ॥ १० ॥

प्रभुप्रतापप्रतिभग्नचौरे० । यत्र यस्यां पुर्यां ज्योतिषिकैर्गणकैश्चौराधिकारः सम्यक् पठितोऽपि न प्रतीयते स ज्ञायते स । किंभूतश्चौराधिकारः ? अनुभवेन विना वन्ध्यो फललक्षणया रहितः, कोऽपि चौर्यं न करोतीति भावः । क सति ? पौरे जने नागरिकलोके प्रभुप्रतापप्रतिभग्नचौरे सति—प्रभोः श्रीऋषभदेवस्य प्रतापात् प्रतिभग्नाश्चौरा येन स प्रभुप्रताप० तस्मिन् ॥ १० ॥

पणायितुं यत्र निरीक्ष्य रत्न-
राशिं प्रकाशीकृतमापणेषु ।

रत्नाकराणां मकराकरत्व-
मेवावशिष्टं बुबुधे बुधेन ॥ ११ ॥

पणायितुं यत्र निरीक्ष्य रत्न० । यत्र यस्यां नगर्यां बुधेन विदुषा रत्नाकराणां मकराकरत्वं मकरमत्स्यादीनामाकरत्व-मेवावशिष्टं उद्धृतं बुबुधे ज्ञातवान् । किं कृत्वा ? आपणेषु हट्टेषु पणायितुं व्यवहर्तुं रत्नराशिं मौक्तिककर्केतनहंसगर्भपद्मरागादि-रत्नसमूहं प्रकाशीकृतं प्रकटीकृतं वीक्ष्य दृष्ट्वा । समुद्रस्य रत्नाकर-मकराकर इति द्वे नाम्नी प्रसिद्धे । रत्नाकरत्वं पुर्या गृहीतं, मकराकरत्वं तु समुद्रे स्थितमिति भावः ॥ ११ ॥

यच्छ्रीपथे सञ्चरतो जनस्य
मिथो भुजेष्वङ्गदघट्टनोत्थैः ।
व्यतायत व्योमगतैः स्फुलिङ्गै-
र्नक्षत्रचित्रं न दिवाऽपि कस्य ॥ १२ ॥

यच्छ्रीपथे सञ्चरतो जनस्य० । यत्र यस्यां नगर्यां व्योमगतै-राकाशस्थितैः स्फुलिङ्गैर्दिवापि दिवसेऽपि कस्य पुरुषस्य नक्षत्र-चित्रं नक्षत्रसत्काश्चर्यं न व्यतायत न विस्तारयामास, 'तनूयी विस्तारे' तन् ह्यस्तनीत अङ् 'क्यः शिति' (सि० ३।४।७०) इति (क्यः) ततश्च 'तनः क्ये' (सि० ४।२।६३) इति नकारस्थाने आकार इति प्रयोगो ज्ञेयः । किंलक्षणैः स्फुलिङ्गैः० ? यच्छ्रीपथे सञ्चरतो जनस्य मिथो भुजेषु अङ्गदघट्टनोत्थैः, यस्यां नगर्यां राजमार्गे सञ्चरतो जनस्य लोकस्य मिथः परस्परं भुजेषु बाहुषु अङ्गदानां बाहुरक्षाणां घट्टनमास्फुलनम्, ततः समुत्थितैरुत्पन्नैरित्यर्थः ॥ १२ ॥

हल्लीसके श्रीजिनवृत्तगानै-
र्यद्बालिकालिः किल चारणर्षीन् ।
शुश्रूषमाणानिह निश्चलय्या-
ऽलुम्पद्दिवः सप्तऋषिव्यवस्थाम् ॥ १३ ॥

हल्लीसके श्रीजिनवृत्तगानैर्यद्बालिकालिः० । यस्याः पुर्या बालिकानां श्रेणिः । किल इति सत्ये । दिव आकाशस्य सप्तऋषिव्यवस्थां अलुम्पत्, सप्तेभ्योऽप्यधिकतरा मुनयो जाता इत्यर्थः । किं कृत्वा? हल्लीसके श्रीजिनवृत्तगानैः, रासकमध्ये श्रीऋषभदेवस्य गुणगानैः, इहाकाशे । शुश्रूषमाणान् श्रोतुमिच्छतः । चारणर्षीन् आकाशगामिनो मुनीन् । निश्चलय्य निश्चलीकृत्य ॥ १३ ॥

दत्तोदकभ्रान्तिभिरिन्द्रनील-
भित्तिप्रभाभिः परिपूर्यमाणाः ।
आनाभिनीरा अपि केलिवापी-
र्यस्यां जनो मन्दपदं जगाहे ॥ १४ ॥

दत्तोदकभ्रान्तिभिरिन्द्रनील० । यस्यां पुर्यां जनो लोकः केलिवापीः क्रीडासक्तवापीर्मन्दपदं मन्दमन्दपदन्यासं यथा भवति तथा जगाहे अवगाहयामास । किंलक्षणा वापीः? आनाभिनीरा अभि नाभिं यावदेव नीरं यासां ता आना० । पुनः किंविशिष्टाः? इन्द्रनीलभित्तिप्रभाभिः परिपूर्यमाणाः इन्द्रनीलसत्कमणिभित्तेः प्रभाभिः सामस्त्येन भ्रियमाणाः । किंविशिष्टाभिरिन्द्रनीलभित्तिप्रभाभिः? दत्तोदकभ्रान्तिभिर्दत्ता उदकस्य भ्रान्तिर्याभिस्ताभिर्दत्तो० ॥ १४ ॥

यियाचिषौ यत्र जने यथेच्छं
कल्पद्रुमाः कल्पितदानवीराः ।
निवारयन्ति स्म मरुद्विलोल-
प्रवालहस्तैः प्रणयस्य दैन्यम् ॥ १५ ॥

यियाचिषौ यत्र जने यथेच्छम्० । यत्र यस्यां नगर्यां कल्पद्रुमाः कल्पवृक्षा मरुद्विलोलप्रवालहस्तैर्वायुना चञ्चलानि किशलयान्येव हस्तास्तैर्जने लोके 'तृणं लघु तृणात् तूलं तूलादपि हि याचकः' इति न्यायात् प्रणयस्य दैन्यं याच्ञाया दीनभावं निवारयन्ति स्म, किंविशिष्टे जने? यथेच्छं यियाचिषौ यदृच्छया गृहभूषणादि याचितुमिच्छौ, किंलक्षणाः कल्पद्रुमाः? कल्पितदानवीराः वाञ्छितदाने समर्थाः ॥ १५ ॥

पूषेव पूर्वाचलमूर्ध्नि घूक-
कुलेन घोरं ध्वनतापि यत्र ।
नाखण्डि पाखण्डिजनेन पुण्य-
भावः सतां चेतसि भासमानः ॥ १६ ॥

पूषेव पूर्वाचलमूर्ध्नि घूक० । यत्र यस्यां नगर्यां पाखण्डिजनेन सतां चेतसि भासमानो देदीप्यमानो पुण्यभावो न अखण्डि न खण्डयामास । किंलक्षणेन पाखण्डिजनेन? घोरं ध्वनतापि रौद्रं यत् (तत्) प्रलपतापि । क इव? पूषा इव, यथा पूषा सूर्यो घोरं ध्वनतापि घूककुलेन न खण्ड्यते । सूर्यः किंलक्षणः? पूर्वाचलमूर्ध्नि उदयाचलमस्तके भासमानः ॥ १६ ॥

इति पुरीवर्णनम्

इक्ष्वाकुभूरित्यभिधामधाद्भू-
यदा निवेशात्प्रथमं पुरोऽस्याः ।
नाभेस्तदा युग्मिपतेः प्रपेदे
तनूजभूयं प्रभुरादिदेवः ॥ १७ ॥

इक्ष्वाकुभूरित्यभिधामधा० । यदा यस्मिन्नवसरे अस्याः पुरो नगर्या निवेशाद्रचनाया प्रथमं पूर्वं भूर्भूमिरिक्ष्वाकुभूरित्यभिधां नाममधात् धरति स, तदा तस्मिन्नवसरे आदिदेवप्रभुर्युग्मिपतेर्नाभेर्युगलिस्वामिनो नाभिनृपस्य तनूजभूयं पुत्रभावं प्रपेदे प्रपन्न इत्यर्थः । तनूजभूयमित्यत्र तनूजेन भवनं तनूजभूयं 'हत्याभूयं भावे' (५।१।३६) इति सूत्रेण भूय इति निपातः ॥ १७ ॥

यत्रोदरस्थे मरुदेव्यदीव्य-
त्पुण्येति साध्वीति न कस्य चित्ते ।
श्रीधाम्नि सन्मौलिनिवासयोग्ये
महामणौ रत्नखनिः क्षमेव ॥ १८ ॥

यत्रोदरस्थे० । यत्र यस्मिन् भगवति उदरस्थे सति मरुदेवी पुण्या इति पवित्रा निःपापत्वात्, साध्वी इति निर्मलशीलत्वात्, कस्य चित्ते न अदीव्यत् न दिदीपे, केव ? रत्नखनिः क्षमेव, यथा रत्नखनिः क्षमा महामणौ उदरस्थे मध्यस्थिते सति कस्य चित्ते न दीप्यति; अपि तु सर्वस्यैव चित्ते दीप्यत इति भावः । किंविशिष्टे भगवति ? श्रीधाम्नि श्रियः शोभाया गृहे । पुनः किंविशिष्टे भगवति ? सन्मौलिनिवासयोग्ये सतां साधूनां शीर्ष-

निवासयोग्ये । मणिपक्षे श्रीधाम्नि श्रियो लक्ष्म्या गृहे, पुनः किं० ? सन्मौलिनि० ? प्रशस्यमुकुटस्य निवासयोग्ये ॥ १८ ॥

यो गर्भगोऽपि व्यमुचन्न दिव्यं
ज्ञानत्रयं केवलसंविदिच्छुः ।
विशेषलाभं स्पृहयन्न मूलं
स्वं सङ्कटेऽप्युज्झति धीरबुद्धिः ॥ १९ ॥

यो गर्भगो० । यो भगवान् गर्भगोऽपि गर्भस्थितोऽपि दिव्यं देवलोकसम्बन्धि ज्ञानत्रयं मतिश्रुतावधिलक्षणं न व्यमुचत् न मुक्तवान्, किंविशिष्टो भगवान् ? केवलसंविदिच्छुः केवलज्ञानं प्राप्तुकामः । दृष्टान्तमाह—धीरबुद्धिः पुमान् विशेषलाभं स्पृहयन् वाञ्छन् सङ्कटेऽपि मूलं स्वं मूलद्रव्यं नोज्झति न त्यजति ॥ १९ ॥

मध्येनिशं निर्भरदुःखपूर्णा-
स्ते नारका अप्यदधुः सुखायाम् ।
यत्रोदिते शस्तमहोनिरस्त-
तमस्ततौ तिग्मरुचीव कोकाः ॥ २० ॥

मध्येनिशं० । यत्र यस्मिन् भगवति उदिते जाते सति नारका अपि सुखायां सुखानुभवं अदधुः धरति स्म । सुखायामित्यत्र 'सुखादेरनुभवे' (३।४।३४) इति आयप्रत्यये श्रद्धावत् सुखायाशब्दः, किंलक्षणा नारकाः ? मध्ये चित्तेऽनिशं निरन्तरं निर्भरं दुःखपूर्णाः क्षेत्रजाऽन्योन्यकृतपरमाधार्मिककृतत्रिविधवेदनाभिर्बाढं दुःखिता इत्यर्थः । के इव ? कोकाश्चक्रवाका इव, यथा कोकास्तिग्मरुचि सूर्ये उदिते सति सुखायां सुखं दधति,

किंलक्षणाः कोकाः ? मध्येनिशं निशाया मध्ये रात्रौ निर्भरेण दुःखेन पूर्णा पूरिताः । किंविशिष्टे भगवति ? शस्तमहोनिरस्ततमस्ततौ—प्रशस्ततेजसा निराकृता तमस्ततिः पापश्रेणिर्येन । सूर्यपक्षे तमोऽन्धकारं ज्ञेयम् ॥ २० ॥

निवेश्य यं मूर्द्धनि मन्दरस्या-
चलेशितुः स्वर्णरुचिं सुरेन्द्राः ।
प्राप्तेऽभिषेकावसरे किरीट-
मिवानुवन्मानवरत्नरूपम् ॥ २१ ॥

निवेश्य यं० । सुरेन्द्रा इन्द्रा अभिषेकावसरे जन्माभिषेकसमये प्राप्ते सति यं भगवन्तं अनुवन् स्तुवन्ति स्म । किं कृत्वा ? अचलेशितुः पर्वतेश्वरस्य मन्दरस्य मेरोर्मूर्द्धनि मस्तके किरीटं मुकुटमिव स्वर्णरुचिं सुवर्णकान्तिं यं स्वामिनं निवेश्योपवेश्य, किं वि० भगवन्तम् ? मानवरत्नरूपं मनुष्येषु रत्नप्रायम्, अन्यस्याप्यचलेशितुः पृथ्वीपतेर्मूर्द्धनि मस्तके मुकुटो निवेश्यते । अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः, कीदृशो मुकुटः ? स्वर्णरुचिः, पुनः कीदृशः ?—मानवरत्नरूपः, माया लक्ष्म्या वा नवरत्नरूपश्च यः स मानवः ॥ २१ ॥

सुपर्वसु स्वानुचरेषु तोषा-
दिक्षुदण्डेऽस्य सुपर्वणीन्द्रः ।
शिशोर्विदित्वा रुचिमाशुवंश-
मिक्ष्वाकुनामाङ्कितमातनिष्ठः ॥ २२ ॥

सुपर्वसु स्वानु० । इन्द्रः आशु शीघ्रं इक्ष्वाकुनामाङ्कितवंशमातनिष्ट विस्तारयामास । कस्मादिव ? उत्प्रेक्षते—स्वानुचरेषु

निजसेवकेषु सुपर्वसु देवेषु तोषाद्धर्षादिव । किं कृत्वा? अस्य स्वामिनः शिशोर्बालस्य सत् इक्षुदण्डे रुचिं अभिलाषं विदित्वा ज्ञात्वा, किंविशिष्टे इक्षुदण्डे ? सुपर्वणि शोभनपर्वणि । सुपर्व-शब्देन देवा उच्यन्ते । शोभनपर्वत्वात् सुपर्वा उच्यते, अत एव हेतोः देवेष्वपि तोष इति भावः । कोऽर्थः—अतीतवर्तमानैष्यतां आद्यार्हतां वंशस्थापनादि हरेर्जीतमति कृत्वा शक्रो वंशस्थापने प्रस्तुते इक्षुयष्टिहस्त आगतोऽर्हद्दृष्टिं इक्षौ इक्षुविषये स्वामिनो रुचिं दृष्ट्वोचे—प्रभो ! किं इक्षु अकुर्भक्षयसि 'अकु भक्षणे' इति । अर्हन् करं प्रासारयत् अतो हेतोः हरिरिक्ष्वाकुवंशमस्थापयत् । तदाऽन्येऽपि क्षत्रिया इक्षुं भुञ्जते तेन भवन्तीक्ष्वाकवः । प्रभोश्च पूर्वजाः काश्यं इक्षुरसं पीतवन्तस्ततः काश्यपगोत्रम् । इक्षवश्च तदा पानीयवल्लीवद्रसं गलन्ति स ॥ २२ ॥

विलोक्य यं पालनके शयालुं
यशोऽस्य लोकत्रयपूरकं च ।
कार्यं कलामञ्चति कारणस्ये-
त्युक्तिर्मृषैवानिमिषैरघोषि ॥ २३ ॥

विलोक्य यं० । अनिमिषैर्देवैरित्युक्तिर्मृषैवालीकैवाऽघोषि-घोषिता । इतीति किम्? कार्यं कारणस्य कलां अञ्चति प्राप्नोति, किं कृत्वा यं भगवन्तं पालनके शयालुं विलोक्य स्वपनशीलं दृष्ट्वा, च अन्यत्, अस्य भगवतो यशो लोकत्रयपूरकं विश्व-व्यापकं च विलोक्य । कार्यं घटः कारणं मृत्पिण्डः, मृत्पिण्डानु-मानेन च घटः स्यात्, अत्र तु भगवान् कारणं यशस्तु कार्यं

भगवान् पालनके माति यशो लोकत्रयेऽपि न माति, अत एव कार्यकारणयोः सादृश्ये मृषात्वमिति भावः ॥ २३ ॥

आशाम्बरः शान्तविकल्पवीचि-
मना विना लक्ष्यमचञ्चलाक्षः ।
बालोऽपि योगस्थितिभूरवश्यः
स्वस्यायतौ यः कमनेन मेने ॥ २४ ॥

आशाम्बरः० यो भगवान् कमनेन कन्दर्पेण आयतौ उत्तरकाले स्वस्य आत्मनः अवश्यो मेने मन्यते स्म । किंविशिष्टो भगवान्, बालोऽपि योगस्य स्थितेर्मर्यादायाः भूः स्थानं, पुनः किंविशिष्टो भगवान्? आशाम्बरः आशा दिश एव अम्बराणि वस्त्राणि यस्य सः, पुनः किंविशिष्टो भगवान्? शान्तविकल्पवीचिमना—उपशान्ता विकल्पानां वीचयः कल्लोला यत्र एवंविधं मनो यस्य सः, पुनः किंविशिष्टो भगवान्? लक्ष्ये विलोकनीयं वस्तु विनापि अचञ्चलाक्षो निश्चललोचनः, योगवानपि एवंविधः स्यात्, भगवानपि एवंविधः, अतः कमनस्य मनसि भगवत्यजेयत्वशङ्का जातेति भावः ॥ २४ ॥

अस्तन्यपायीति विनिश्चितोऽपि
कामं पयोऽपीप्यदिति स्वमातुः ।
चिराय चेतश्चकितं चकार
सितेन धौताधरपल्लवो यः ॥ २५ ॥

अस्तन्यपायी० यो भगवान् अस्तन्यपायीति विनिश्चितोऽपि स्तन्यं न पिबतीत्येवंशीलोऽस्तन्यपायी इति निर्णीतोऽपि स्वमातुरा-

त्मीयजनन्याः, चेतो मनश्चिराय चिरकालम्, इति असुना प्रकारेण, चकितं चकार, इति इति किम्? का स्त्री अमुं बालं पयो दुग्धं अपीप्यत् पाययति स । अथ पयःपानशङ्कायां हेतुमाह—किंविशिष्टो भगवान्? स्मितेन धौताधरपल्लवः हास्येन प्रक्षालितोष्ठपल्लवः । तीर्थकृतः सर्वेऽपि बाल्ये मातुः स्तन्यपानं न कुर्वत इति भावः ॥ २५ ॥

अश्वोघदम्भाद्बहिरुद्गतेन
माता न माता हृदि संमदेन ।
परिप्लुताक्षी तनुजं स्वजन्ती
यं तोषदृष्टेरपि नो बिभाय ॥ २६ ॥

अश्वोघदं० माता मरुदेवी यं तनुजं स्वजन्ती आलिङ्गन्ती सती तोषदृष्टेरपि संतोषदृशोपि नो बिभाय बिभेति स, किंविशिष्टा माता?, सम्मदेन परिप्लुताक्षी, हर्षेण प्लावितलोचना । किंविशिष्टेन संमदेन? हृदि न माता, मातीति मात्, तेन माता, पुनः किंविशिष्टेन संमदेन? अश्वोघदम्भाद्बहिरुद्गतेन अश्रुप्रवाहमिषाद्बहिर्निःसृतेन ॥ २६ ॥

अव्यक्तमुक्तं स्खलदंह्रियानं
निःकारणं हास्यमवस्त्रमङ्गम् ।
जनस्य यद्दोषतयाभिधेयं
तच्छैशवे तस्य बभूव भूषा ॥ २७ ॥

अव्यक्तमुक्तं० जनस्य लोकस्येति सर्वत्र सम्बध्यते । यत्

* लोकदृष्टेरपि इत्यत्र टीकायां च समीचीनं भाति, शेषं तु तत्त्वविदो विदाङ्कुर्वन्तु, संपादकः.

अव्यक्तं उक्तं मनमनत्वेन भाषणम्, स्खलदंह्रियानं लुडन्स्थूडचरणाभ्यां गमनम् । निःकारणं कारणं विना हास्यम् । अवस्त्रमङ्गं वस्त्ररहितं शरीरम् । दोषतया अभिधेयं दूषणत्वेन वाच्यं स्यात्, तस्य भगवतः शैशवे बाल्ये भूषा आभरणं बभूव ॥ २७ ॥

दूरात्समाहूय हृदोपपीडं
माद्यन्मुदा मीलितनेत्रपत्रः ।
अप्यङ्गजं स्नेहविमोहितात्मा
यं तात तातेति जगाद नाभिः ॥ २८ ॥

दूरात्समाहूय० नाभिर्यं भगवन्तं दूरात्समाहूय आकार्य हृदोपपीडं हृदयेन उपपीड्य तात तात इति जगाद, किंविशिष्टं भगवन्तम्? अङ्गजं पुत्रमपि । नाभिः कीदृक्? स्नेहविमोहितात्मा स्नेहेन विमोहित आत्मा यस्य सः । पुनः कीदृग् नाभिः? माद्यन्मुदा मीलितनेत्रपत्रः माद्यन् उन्मादं प्राप्नुवता मुदा हर्षेण मीलितो नेत्रे लोचनपक्ष्मणी यस्य सः ॥ २८ ॥

भारेण मे भूभरणाभियोगि-
भुग्नं शिरो मा भुजगप्रभोर्भूत् ।
इतीव ताते ह्वयति द्रुतं यो
मन्दांह्रिविन्यासरसं चचाल ॥ २९ ॥

भारेण मे० यो भगवान् ताते पितरि नाभौ आह्वयति आकारयति सति द्रुतं शीघ्रं मन्दांह्रिविन्यासरसं मन्दचरणन्यासरसं यथा भवति तथा चचाल, उत्प्रेक्षते इतीव इतिकारणादिव । इति इति किम्? मे मम भारेण, भुजगप्रभोः शेष-

नागाधिराजस्य, भूभरणे अभियोगि उद्यमकारि, शिरो मस्तकम्, भुग्नं वक्रं मा भूत् ॥ २९ ॥

य: खेलनाद्धूलिषु धूसरोपि
कृताप्लवेभ्योऽधिकमुद्दिदीपे ।
तारैरनभ्रैः प्रभया नु भानु-
रभ्रावलिप्तोप्यधरीक्रियेत ? ॥ ३० ॥

यः खेलनाद्धूलिषु धूलिषु खेलनात् क्रीडनात् धूसरोपि यो भगवान् कृताप्लवेभ्यः कृतस्नानेभ्योऽधिकमुद्दिदीपे । तस्य दृष्टान्तोऽत्र—अभ्रानुलिप्तोऽपि अभ्राच्छादितोऽपि भानुः सूर्यः अनभ्रैरभ्ररहितैस्तारैः प्रभया किं अधरीक्रियेत ? अपि तु नैव ॥ ३० ॥

उद्भूतबालोचितचापलोऽपि
लुलोप यो न प्रमदं जनानां ।
कस्याऽप्रियः स्यात्पवनेन पारि-
प्लवोऽपि मन्दारतरोः प्रवालः ॥ ३१ ॥

उद्भूतबालोचित—उद्भूतबालोचितचापलोऽपि प्रकटीभूतबाल्ययोग्यचपलभावोऽपि, यो भगवान् जनानां लोकानां प्रमदं हर्षं न लुलोप न लुप्तवान्, मन्दारतरोः प्रवालकल्पवृक्षस्य प्रवालः किशलयः पवनेन परिप्लावितोऽपि चपलोऽपि सन् कस्य पुंसोऽप्रियः स्यादपि तु न कस्यापि ॥ ३१ ॥

लसद्विशेषाकृतिवर्णवेषा
लेखाः परेषामसुलंभमर्भम् ।
यं बालहारा इव खेलनौघैः
कटीतटस्थं रमयांबभूवुः ॥ ३२ ॥

लसद्विशेषाकृतिवर्णवेष० लेखा देवा यं भगवन्तं अर्भं बालरूपं कटीतटस्थं रमयांबभूवुः, किंविशिष्टाः लेखाः ? लसद्विशेषाकृतिवर्णवेषाः, (लसन्त) आकृतिश्च वर्णश्च वेशश्च आकृतिवर्णवेषा येषान्ते लसद्विशेषाकृतिवर्णवेषा, कोऽर्थः देवानं देहः स्वभावेन केशरोमनखमांसचर्मअस्थिनसावसारुधिरमलमूत्ररहितः शुभवर्णादियुक्तः, पुद्गलनिःपन्नतेजोमयश्च स्यात् विशेषः, ते देवा वैक्रियरूपं कृत्वा सर्वोत्तमवर्णवेषादि धृत्वा भगवन्तं रमयामासुः इति भावः, किंविशिष्टं भगवन्तम् ? बालं परेषां सामान्यानां असुलभं दुःप्राप्यम् । लेखाः के इव ? बालहारा इव, यथा बालहारा नृपबालक्रीडाकारका बालं कटीतटस्थं रमयन्ति ॥ ३२ ॥

रसालसालं प्रति दत्तदृष्टौ
श्रोतुं च सूक्तानि सतृष्णकर्णे ।
अनन्यकृत्या अभजन्नमर्त्या
यत्र स्वभक्त्या शुकवित्वमुच्चैः ॥ ३३ ॥

रसालसालं—अमर्त्या देवा यत्र यस्मिन् भगवति विषये उच्चैरत्यर्थं स्वभक्त्या शुकवित्वं शुकपक्षित्वं पक्षे आशुकवित्वं शीघ्रकवीश्वरत्वं अभजन् सेवन्ते स्म, किंलक्षणा अमर्त्याः ? अनन्यकृत्याः । न विद्यते अन्यत् कृत्यं येषान्ते अनन्यकृत्याः, किंविशिष्टे भगवति ? रसालसालं सहकारवृक्षं प्रति दत्तदृष्टौ सति, पुनः किंविशिष्टे भगवति ? च अन्यत् । सूक्तानि सुभाषितानि श्रोतुं सतृष्णकर्णे ॥ ३३ ॥

परार्थदृष्टिं कलहंसकेकि-
कोकादिकेलीकरणैककाले ।

नीत्वाभिमुख्यं सुखतो यमीशं
मुधाभिधानं विबुधैर्न दध्रे ॥ ३४ ॥

परार्थदृष्टिं० विबुधैः देवैः विबुध इति अभिधानं नाम, मुधा न दध्रे न धृतं, विबुधा देवा विद्वांसो वा कथ्यन्ते । हेतुमाह—किं कृत्वा ? यं ईशं स्वामिनम्, अथवा यमिनः संयमिनः तेषामीशम्, सुखतः सुखेनैव अभिमुख्यं स्वसांमुख्यम्, नीत्वा प्राप्य, कैः करणैः कारणभूतैः ? अकाले अप्रस्तावे कलहंसकेकिकोकादिकेलीकरणैः, कलहंसा राजहंसाः, केकिनो मयूराः, कोकाश्चक्रवाकाः, इत्यादिपक्षिणां क्रीडाविधानैः, किंविशिष्टं यम् ? परार्थदृष्टिं परस्मिन् अर्थे घटपटादिके दृष्टिर्यस्य सः परार्थदृष्टिस्तं परार्थदृष्टिं पक्षे परमार्थदृष्टिम् विबुधत्वस्य एतदेव फलम्, यत् सुखेनैव सर्वकार्यसाधनमिति भावः ॥ ३६ ॥

क्रोडीकृतः काञ्चनरुग् जनन्या
प्रियङ्गुकान्त्या घननीलचूलः ।
यः सप्तवर्षोपगतः सुमेरोः
श्रियं ललौ नन्दनवेष्टितस्य ॥ ३५ ॥

क्रोडीकृतः० यो भगवान् सप्तवर्षोपगतः सप्तवर्षसंयुक्तः सन् सुमेरोर्मेरुपर्वतस्य श्रियं शोभां ललौ गृहीतवान्, किंलक्षणस्य सुमेरोः ? नन्दनवेष्टितस्य नन्दनेन परिवेष्टितस्येत्यर्थः, किंविशिष्टो भगवान् ? प्रियङ्गुकान्त्या, नीलकान्त्या, जनन्या मरुदेव्या, क्रोडीकृत उत्सङ्गे उपवेशितः, पुनः कीदृग् भगवान् ?

काञ्चनरुग् सुवर्णवर्णकान्तिः, पुनः कीदृग् भगवान् ? घननीलचूलः, घनो मेघस्तद्वन्नीला कृष्णा, चूला शिखा, यस्य स घननीलचूलः । अर्थवशात् विभक्तिपरिणामः, सुमेरुः कीदृग् ? काञ्चनरुक् काञ्चनमयः, पुनः कीदृग् ? घननीलचूलः घना दृढा नीलवर्णचूला चूलिका यस्य स, सप्तवर्षोपगतः सप्तभिः वर्षैः क्षेत्रैरुपगतः तद्यथा भरहं १ हेमवयं २ ति हरिवासं ३ तो महाविदेहं ४ च । रम्मय ५ हेरण्णवयं ६ एरवयं ७ चेव वासाइं ॥ एतैः सप्तक्षेत्रैर्युक्त इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

पुरा परारोहपराभववस्या-
वश्याः कशाकष्टमदृष्टवन्तः ।
बबन्धिरेऽनेन बलात् कुरङ्गा
इवोल्लसन्तः शिशुना तुरङ्गाः ॥ ३६ ॥

पुरा परारोह० अनेन भगवता शिशुना बालेन सता तुरङ्गा अश्वा बलात् हठात् बबन्धिरे बध्यन्ते स्म, किंलक्षणा तुरङ्गाः ? पुरा पूर्वं परारोहभवस्य अवश्याः अन्यच्चटनस्य पराभवस्य न वश्याः । पुनः किं कृतवन्तः तुरङ्गाः ? कशाकष्टं अदृष्टवन्तः कशायाः तर्जनकस्य कष्टं कदापि न दृष्टं यैस्ते कशाकष्टमदृष्टवन्तः । पुनः किं कुर्वन्तः ? कुरङ्गा इव उल्लसन्तः हरिणा इव ऊर्ध्वमुत्पतन्तः ॥ ३६ ॥

करे करेणुः स्वकरेण मत्तो,
वने चरन् येन धृतो बलेन ।
रोषारुणं चक्षुरिहादधानो,
गात्रं धुनानोऽपि न मोक्षमाप ॥ ३७ ॥

करे करेणुः० करेणुर्हस्ती गात्रं धुनानोऽपि मोक्षं न आप, किंविशिष्टः करेणुः ? वने चरन् । पुनः कीदृग् ? येन भगवता, करे शुंडादण्डे, स्वकरेणात्मीयहस्तेन बलेन धृतः, किं कुर्वाणः ? इह भगवति, रोषारुणं चक्षुरादधानो निवेशयन् ॥ अत्र वृत्ते द्वितीयार्थो लिख्यते करे करेणुः करो राजदेयभागस्तत्र करे, अणुः सूक्ष्मः अदायकत्वात् योगी स्वकरेण आत्मीयतेजसा मत्तो मामी वनेचरन् योगिनां प्रायो वनचारित्वात्, पुनः किंविशिष्टः ? बलेन सामर्थ्येन, येन या लक्ष्मीस्तस्या इनः स्वामी कृष्णः तेन धृत आदृतो वैष्णवत्वात् केषांचिद्योगिनां, किं कुर्वाणः ? इह भगवति रोषारुणं चक्षुरादधानो जैनानिष्टत्वात्, पुनः किं कुर्वाणः ? अश्वकर्म गजकर्म नडलिकर्म रेचकपूरकादिभिर्गात्रं धूनानोपि चालयन्नपि, अत एव कारणात् मोक्षं मुक्तिं न प्राप, सम्यग्दर्शनं विना न मोक्ष इति जिनवचनात् ॥ ३७ ॥

चापल्यकृद्बाल्यमपास्य सोऽथ
स्वे यौवनं वासयतिस्म देहे ।
साध्वौचितीं द्युम्नविशेषदाना-
त्प्रकाशयामास तदप्यमुष्य ॥ ३८ ॥

चापल्यकृद्बाल० अथोऽनन्तरं स भगवान् स्वे आत्मीये देहे यौवनं वासयतिस्म, किं कृत्वा ? बाल्यं अपास्य बाल्यभावं परित्यज्य, किंलक्षणं बाल्यम् ? चापल्यकृत् चपलभावं करोतीति चापल्यकृत् । तदपि यौवनम्, अमुष्य भगवतो, द्युम्नं द्रव्यं बलं वा, तस्य विशेषदानात् साधोः सज्जनस्य, औचितीं

उचितं गुणं प्रकाशयामास, उपकारकारके प्रत्युपकारः क्रियते इति सतां लक्षणमिति भावः ॥ ३८ ॥

अथ भगवतो रूपवर्णनमाह—'मानवा मौलितो वर्ण्या देवाश्चरणतः पुनः' इति न्याये सत्यपि भगवतो मानवत्वेऽपि तीर्थंकराणां देवत्वमेव कथ्यते ॥

तस्याननेन्दावुपरिस्थितेऽपि,
पादाब्जयोः श्रीरभवन्न हीना ।
धत्तां स एव प्रभुतामुदीते,
द्रुह्यन्ति यस्मिन्न मिथोऽरयोऽपि ॥ ३९ ॥

तस्य भगवत आननेन्दौ मुखचन्द्रे उपरिस्थितेऽपि पादाब्जयोश्चरणकमलयोः श्रीर्लक्ष्मीर्हीना न अभवत् । स एव पुमान् प्रभुतां धत्तां यस्मिन् पुरुषे उदीते सति मिथः परस्परं अरयोऽपि वैरिणोपि न द्रुह्यन्ति न द्रोहं कुर्वंतीत्यर्थः, मुखं चन्द्रश्चरणौ कमले, एषां च विरोधः, स च भगवता भग्न इति भावः ॥३९॥

दत्तैर्नमद्भिः ककुभामधीशै-
श्चान्द्रैः किरीटैर्निजराजचिह्नैः ।
पद्भ्यां प्रभोरङ्गुलयो दशापि,
कान्ता अभूष्यन्त मिषान्नखानाम् ॥ ४० ॥

दत्तैर्नमद्भिः० प्रभोः श्रीऋषभदेवस्य पद्भ्यां दशाऽपि अङ्गुलयः कान्ता मनोज्ञाः पत्न्या(?) वा नखानां मिषात् मणिकिरीटैर्मणिमयैर्मुकुटैरभूष्यन्त अलंकृताः । किंविशिष्टैः किरीटैः? नमद्भिः नमस्कारं कुर्वद्भिः । ककुभामधीशैः दिक्पालैर्दत्तैः,

पुनः किं० ? निजराजचिह्नैः । अन्योऽपि यो महान्तं राजानं सेवते, स निजराजचिह्नानि पुरो ढौकयते ॥ ४० ॥

अन्तः ससारेण मृदुत्वभाजा,
पादाब्जयोरूर्ध्वमवस्थितेन ।
विलोमताऽधायि तदीयजङ्घा-
नालद्वयेनालमनालमेतत् ॥ ४१ ॥

अन्तः ससारेण० तदीयजङ्घानालद्वयेन तस्यैव भगवतो जङ्घारूपनालद्विकेन, अलं अत्यर्थं विलोमता लोमरहितत्वं अन्यनालेभ्यो विसदृशत्वं वैपरीत्यं वा अधायि धार्यतेस्म, एतत् अनालं सम्यक्, किंलक्षणेन जङ्घानालद्वयेन ? अन्तः ससारेण मध्ये संभरेण, पुनः किं० ? मृदुत्वभाजा सौकुमार्यं सेवमानेन, पुनः किं० ? पादाब्जयोरूर्ध्वं अवस्थितेन अतोऽन्य-कमलनालेभ्योऽत्र वैपरीत्यमिति भावः ॥ ४१ ॥

धीराङ्गनाधैर्यभिदे पृषत्काः,
पञ्चेषुवीरस्य परेऽपि सन्ति ।
तदूरुतूणीरयुगं विशाल-
वृत्तं विलोक्येति बुधैरतर्कि ॥ ४२ ॥

धीरांगना० बुधैर्विद्वद्भिस्तदूरुतूणीरयुगं तस्य भगवता ऊरूरूपं भस्त्रकयुग्मं विलोक्य इति अतर्कि विचारितम्, किं विशिष्टं ऊरुतूणीरयुगम् ? विशालवृत्तं विशालं च तत् वृत्तं च विशाल-वृत्तम्, इति इति किम् ? धीरांगनाधैर्यभिदे शीले निश्चलचित्तानां स्त्रीणां धैर्यस्य भिदे भेदाय, पञ्चेषुवीरस्य उन्मदन १ मदन २ मोदन ३ तपन ४ शोषण ५ रूपा (पञ्च) इषवो बाणा

यस्य स पञ्चेषुः, तस्य पञ्चेषुवीरस्य परे अन्ये पृषत्का बाणाः सन्तीति बहून् बाणान् विना भल्लकयुग्मं न स्यात् इति वितर्कः ॥ ४२ ॥

कटीतटीमप्यतिलंघ्य धाव-
ल्लावण्यपूरः प्रससार तस्य ।
तथा यथा नाऽनिमिषेन्द्रदृष्टि-
द्रोण्योऽप्यलं पारमवाप्तुमस्य ॥ ४३ ॥

कटीतटी० तस्य भगवतो लावण्यपूरः तथा प्रससार, किं कुर्वन् लावण्यपूरः ? कटीतटीमप्यतिलंघ्य धावन् । 'लि लौ' (सि० १।३।६५) इत्यनेन पदेन तस्य लत्वं जातम्, यथाऽनिमिषेन्द्रदृष्टिद्रोण्योऽपि अनिमिषा देवास्तेषामिन्द्राः देवेन्द्राः तेषां दृष्टिद्रोण्यो दृग्बेडा अथवा अनिमिषेंद्रा मत्स्येषु समर्थास्तेषु दृष्टिर्येषां ते अनिमेषेन्द्रदृष्टयो धीवरास्तेषां द्रोण्यो बेडा अपि अस्य लावण्यपूरस्य पारं अवाप्तुं प्राप्तुं नाऽलं न समर्था अभूवन्, प्रायः प्रचुरे पयःपूरे बेडानामप्यसमर्थत्वमिति युक्तम् ॥ ४३ ॥

सनाभितामञ्चति नाभिरेकः,
कूपस्य तस्योदरदेशमध्ये ।
प्रभाम्बुनेत्रांजलिभिः पिपासुः,
कथं वितृष्णा जनताऽस्तु तत्र ॥ ४४ ॥

सनाभितामञ्चति० तस्य भगवत उदरदेशमध्ये एको नाभिः कूपस्य सनाभितां सादृश्यं अञ्चति प्राप्नोति, तत्र नाभौ जनता जनसमूहः कथं वितृष्णा तृष्णारहितास्तु अपितु नैव भवतु,

किं कर्तुकामा जनता नेत्रांजलिभिः दृष्टिरूपांजलिभिः प्रभांबु प्रभारूपजलं पिपासुः पातुमिच्छुः ॥ ४४ ॥

उपर्युरः प्रौढमधः कटी च,
व्यूढान्तराभूत्तलिनं विलग्नम् ।
किं चिन्मयेऽस्मिन्ननुयोजकानां,
त्रिलोकसंस्थाननिदर्शनाय ॥ ४५ ॥

उपर्युरः० अस्मिन् भगवति सर्वत्र योज्यते, उपरि उरो वक्षःस्थलं प्रौढम्, च अन्यत्, अधः कटी व्यूढा विस्तीर्णा । अन्तरा अव्ययशब्दः मध्ये, विलग्नं उदरं तलिनं कृशं अभूत्, किमर्थम्? चिन्मये ज्ञानमये अस्मिन् भगवति अनुयोजकानां पृच्छकानाम् किं त्रिलोकसंस्थाननिदर्शनाय । कोऽर्थः ज्ञानमयो भगवान् सर्वलक्षणोपेतत्वात् जडानां लोकानाम् वेत्रासनसमोऽधस्तादित्यादि त्रैलोक्यसंस्थानं अदर्शयत् तथाऽपि लोका न ज्ञातवन्तः, पश्चात्तेषां स्वीयमेवं रूपं दर्शयामास, भगवान् इति तात्पर्यार्थः ॥ ४५ ॥

व्यूढेऽस्य वक्षस्य वसत्सदा श्री-
वत्सः किमु छद्मधिया प्रवेष्टुम् ।
रुद्धः परं बोधिभटेन मध्य,
मध्यूषिवासीद्बहिरंग एव ॥ ४६ ॥

व्यूढे०—श्रीवत्सो लाञ्छनं कन्दर्पो वाऽस्य भगवतो व्यूढे विशाले वक्षसि हृदये किमु छद्मधिया कपटबुद्ध्या प्रवेष्टुं सदा अवसत्, परं केवलं बोधिभटेन सम्यक्तत्वपरिज्ञानरूपसुभटेन रुद्धः सन् बहिरंग एवासीत्, किं कृतवता बोधिभटेन?

मध्यं अध्यूषिषा मध्ये उषितेन, 'वसं निवासे' वस्, अधिपूर्वः अध्युवास क सकानौ परोक्षावच्च कसन् प्रत्ययः, ततो द्वित्वे- वस्य संप्रसारणे उत्वेऽधिना सह यत्वे इडागमे षत्वे अध्यूषिवत्स इति स्यात्, ततस्तृतीयैकवचने अधुट्स्वरादौ सेटस्यापि इट सहितस्य च शब्दस्योत्वे नलोपेऽध्यूषिषा इति स्यात् ॥ ४६ ॥

यत्र त्रिलोकी निहितात्मभारा,
शेते सुखं पत्रिणि पत्रिणीव ।
सोऽसन्मते तद्भुज एव शेषः,
कोऽन्यो जराजिह्मगतेर्विशेषः ॥ ४७ ॥

यत्र त्रिलोकी० यत्र भुजे त्रिलोकी निहितात्मभारा न्यस्त आत्मीयभारो यया सा निहितात्मभारा सुखं शेते स्वपिति । केव ? पत्रिणीव यथा पत्रिणी पक्षिणी पत्रिणि वृक्षे सुखं शेते । तद्भुज एव असन्मते शेषः, अस्मदीयमते जिनशासने तस्य भगवत एव भुजरूपशेषनागाधिराजोऽस्तु जराजिह्मगतेर्वृद्धसर्पस्य विशेषः अन्यः शेषः कः ? न कोऽपि ॥ ४७ ॥

पाणेस्तलं कल्पपुलाकिपत्रं,
तस्यांगुलीः कामदुघास्तनांश्च ।
चिंतामणींस्तस्य नखानमंस्त,
दानावदानावसरेऽर्थिसार्थः ॥ ४८ ॥

पाणेस्तलं० अर्थिसार्थो याचकसमूहः तस्य भगवतो दाना- वदानावसरे दानमेव अवदानं शुद्धकर्म तस्य अवसरे, एतत् सर्वत्र योज्यते, अर्थिसार्थो दानावदानावसरे तस्य भगवतः पाणेस्तलं कल्पपुलाकिपत्रं कल्पवृक्षसत्कं पत्रं अमंस्त मन्यते

स, च अन्यत्, तस्य भगवतः अङ्गुलीः कामदुघास्तनानमंस्त; तस्य नखान् चिंतामणीनमंस्त ॥ ४८ ॥

येन त्रिलोकीगतगायनौघं,
जिगाय धीरध्वनिरस्य कण्ठः ।
क्रमेण तेनैव किमेष रेखा-
त्रयं कृतं साक्षिजनैर्बभार ॥ ४९ ॥

येन त्रिलोकी०—अस्य भगवतः कण्ठो येन क्रमेण त्रिलोकीगतगायनौघं, त्रिभुवनस्थानां गायनानां समूहं जिगाय इति जितवान्, किंलक्षणः कण्ठः ? धीरध्वनिः धीरो गम्भीरो ध्वनिः शब्दो यस्य स धीरध्वनिः । एष कण्ठस्तेनैव क्रमेण किं रेखात्रयं बभार, किंविशिष्टं रेखात्रयम् ? साक्षिजनैः कृतम्, कोऽर्थः ? त्रिभुवने तावता स्वामिकण्ठसदृग् धीरध्वनिर्नास्तीत्यर्थः ॥ ४९ ॥

यज्जातिवैरं स्मरता तदास्यां-
भोजन्मनाऽभंजि जगत्समक्षम् ।
निशारुचिस्तत्किमपत्रपिष्णुः,
सोऽयं दिवाभूद्विधुरप्रकाशः ॥ ५० ॥

यज्जातिवैरं० यत् तदास्यांभोजन्मना तदीयमुखकमलेन अयं विधुश्चन्द्रो जगत्समक्षं विश्वसाक्षिकं अभंजि जीयतेस्म इत्यर्थः, किं कुर्वता तदास्यांभोजन्मना ? जातिवैरं स्मरता, सोऽयं विधुश्चन्द्रः तत् तस्मात् कारणात् दिवा दिवसे किं अप्रकाशो अप्रकट एवाभूत्, किंलक्षणो विधुः ? अपत्रपिष्णुः लज्जनशीलः, पुनः किं० ? निशायां रुचिः कान्तिः यस्य स

निशारुचिः, अन्योऽप्यपत्रपिष्णुर्दिवा अप्रकाशः स्यात्, तस्यैव हि निशायां रुचिरभिलाषः स्यात् ॥ ५० ॥

ओष्ठद्वयं वाक्समयेऽवदात-
दन्तद्युतिप्लावितमेतदीयम् ।
बभूव दुग्धोदधिवीचिधौत-
प्रवालवल्लीप्रतिमल्लितश्रि ॥ ५१ ॥

ओष्ठद्वयं० एतदीयं ओष्ठद्वयं दुग्धोदधिवीचिधौतप्रवालवल्लीप्रतिमल्लितश्रि दुग्धोदधेः क्षीरसमुद्रस्य वीचिभिः कल्लोलैः धौतायाः क्षालितायाः प्रवालवल्लेः प्रतिमल्लिता प्रतिमल्लीकृता श्रीर्येन तत् दुग्धोदधिश्रीर्बभूव, किंविशिष्टं ओष्ठद्वयम्? वाक्समये वचनावसरे अवदातदन्तद्युतिप्लावितं उज्ज्वलदन्तसत्कक्रिरणैर्व्याप्तं ओष्ठद्वयं प्रवालवल्लीसदृशं दन्तद्युतयः क्षीरसमुद्रकल्लोलसदृशाश्चेति इति भावः ॥ ५१ ॥

व्यक्तं द्विपङ्क्तिभवनादजस्रं,
श्रीरक्षणे यामिकतां प्रपन्नाः ।
द्विजा द्विजेशस्य तदाननस्य,
लक्ष्मीसमूहं प्रभुदत्तमूहुः ॥ ५२ ॥

व्यक्तं द्विपङ्क्ति० द्विजेशस्य इति । तस्य भगवत आननं मुखं तदेव द्विजेशश्चन्द्रस्तस्य द्विजा दन्ता लक्ष्मीसमूहं शोभासमुदयं ऊहुर्वहन्ति स्म, किंविशिष्टं लक्ष्मीसमूहम्? प्रभुणा मुखेन दत्तं मुख एव स्थिता दन्ताः शोभां भजन्त इति, किंलक्षणा द्विजाः? व्यक्तं प्रकटं द्विपङ्क्तिभवनात् अजस्रं निरंतरं श्रीरक्षणेण यामिकतां आरक्षकतां प्रपन्नाः, दन्तैरेव मुखस्य शोभा स्यात् ।

अथ द्वितीयपक्षे द्विजानां ब्राह्मणानां ईशः स्वामी द्विजेशः तस्य द्विजा ब्राह्मणा प्रभुणा स्वामिना दत्तं लक्ष्मीसमूहं वहंति स । व्यक्तं द्विपङ्क्तिभवनादित्यादि अत्राऽपि योज्यम् ॥ ५२ ॥

अदान्मृदुर्मार्दवमुक्तियुक्त्या,
युक्तं तदीया जनतासु जिह्वा ।
लोला स्वयं स्थैर्यगुणं तु सभ्या-
नभ्यासयन्ती कुतुकाय किं न ? ॥ ५३ ॥

अदान्मृदुः० तदीया तस्य भगवतः सम्बन्धिनी जिह्वा जनतासु जनसमूहेषु उक्तियुक्त्या वचनं चातुर्यं मार्दवं सौकुमार्ययुक्तं अदात्, किंलक्षणा जिह्वा ? मृदुः कोमला अत एव हेतोर्मार्दवं अदात्, तु पुनः स्वयं लोला चपला सती सभ्यान् सभाजनान् स्थैर्यं गुणं अभ्यासयन्ती कुतुकाय किं न स्यादपि तु स्यादेव । कोऽर्थः ? स्वामिनो जिह्वया सर्वथा स्थैर्यभावः स्वान्ते उत्पाद्यते ॥ ५३ ॥

प्राणं जगज्जीवनहेतुभूतं,
नासा यदौन्नत्यपदं दधाति ।
कर्मारिमाराय तदग्रवीक्षा,
दीक्षादिनान्तेन ततो निधाता ॥ ५४ ॥

प्राणं जगज्जीवनहेतुभूतं० नासा नासिका प्राणं पवनं बलं वा यद् दधाति । किंलक्षणा नासा ? औन्नत्यपदं उच्चतायाः स्थानम् । प्राणं किंलक्षणम् ? जगज्जीवनहेतुभूतं जगतो विश्वस्य जीवनाय हेतुभूतं तत् तस्मात् कारणात् तेन भगवता कर्मारिमाराय कर्मरूपशत्रूणां विनाशाय आदीक्षादिनात् दीक्षादिनमारभ्य

तदग्रवीक्षा तस्या नासिकाया अग्रनिरीक्षणं विधास्यता । कोऽर्थः ? स्वामी दीक्षानन्तरं स्वनासाग्रदत्तदृक् कर्मशत्रून् हनिष्यतीति भावः, यो बलवान् स्यात् तस्यैव वीक्षा शत्रुहननावसरे क्रियते ॥ ५४ ॥

श्रेयस्करावुल्लसदंशुराशी,
पार्श्वद्वयासीनजनेषु यस्य ।
कलौ कपोलावकरप्रयत्न-
हैमात्मदर्शत्वमशिश्रियाताम् ॥ ५५ ॥

श्रेयस्करा०, तस्य भगवतः कलौ मनोज्ञौ कपोलौ पार्श्वद्वयासीनजनेषु उभयोः पार्श्वयोः उपविष्टलोकेषु अकरप्रयत्नहेमात्मदर्शत्वं हस्तापक्रमरहितस्वर्णमयदर्पणत्वं अशिश्रियातां आश्रितवन्तौ, किंविशिष्टौ कपोलौ ? श्रेयस्करौ मङ्गलकर्तारौ । पुनः किंविशिष्टौ ? उल्लसदंशुराशी उद्गच्छत्किरणसमूहौ ॥५५॥

वितेनुषी श्मश्रुवने विहारं,
दोलारसाय श्रितकर्णपालिः ।
स्फुरत्प्रभावारि चिरं चिखेल,
तदाननाम्भोजनिवासिनी श्रीः ॥ ५६ ॥

वितेनुषी० तदाननाम्भोजनिवासिनी तस्य भगवतो मुखकमलवासिनी श्रीर्लक्ष्मीः, स्फुरत्प्रभावारि प्रसरत्प्रभारूपजले, चिरं चिरकालं चिखेल क्रीडाञ्चकार, वारिशब्दो व्यंजनान्तोऽत्र ज्ञेयः । किंलक्षणा श्रीः ? श्मश्रुवने कूर्चरूपोद्याने विहारं विचरणं वितेनुषी कृतवती, पुनः किंविशिष्टा श्रीः ?

दोलारसाय श्रितकर्णपालिः आन्दोलनरसकृते श्रिता कर्णपालिर्यया सा दोलारसाय श्रितकर्णपालिः ॥ ५६ ॥

पद्मानि जित्वा विहिताऽस्य दृग्भ्यां,
सदा स्वदासी ननु पद्मवासा ।
किमन्यथा सावसथानि याति,
तत्प्रेरिता प्रेमजुषामखेदम् ॥ ५७ ॥

पद्मानि० अस्य भगवतो दृग्भ्यां पद्मवासा लक्ष्मीर्ननु निश्चितं सदा सर्वदा स्वदासी विहिता, किं कृत्वा ? पद्मानि जित्वा, किमन्यथा सा पद्मवासा तत्प्रेरिता ताभ्यां दृग्भ्यां प्रेरिता प्रेमजुषां प्रीतिमतां आवसथानि गृहाणि अखेदं खेदरहितं यथा भवति तथा याति, कोऽर्थः ? स्वामिदृग्भ्यां भक्तलोकानां दारिद्र्यदौर्भाग्यादयो दोषा नश्यन्ति, पदे पदे संपदश्च विजृंभन्त इति भावः ॥ ५७ ॥

कृष्णाभ्ररेखाभ्रमतो निभाल्य,
तद्भ्रूयुगं यौवनवह्नितप्तैः ।
अकारि नृत्यं प्रमदोन्मदिष्णु-
मनोमयूरैर्विलसत्कलापैः ॥ ५८ ॥

कृष्णाभ्र० प्रमदोन्मुदिष्णुमनोमयूरैः प्रमदानां स्त्रीणाम् उन्मदिष्णूनि उन्मादसंयुक्तानि मनांस्येव मयूरा प्रमदोन्मुदि० । तैः प्र० मयूरैः । पक्षे प्रमदेन हर्षेण उन्मुदिष्णुमनसो ये मयूरास्ते प्रेम० तैर्मयूरैः नृत्यं नाट्यं अकारि कृतं, किं कृत्वा ? तद्भ्रूयुगं तस्य भगवतो भ्रूयुगलं कृष्णाभ्ररेखाभ्रमतो निभाल्य कृष्णा श्यामा या अभ्ररेखा तस्या यो भ्रमो विभ्रमस्तस्मात् । कृष्णा कृष्णा ।

किंविशिष्टैः प्रमदोन्मुदिष्णुमनोमयूरैः ? यौवनरूपलैश्यानरेण सेवितैः, पुनः किंवि० ? विलसत्कलापैः विलसत् कलनां आपः प्राप्तिः येषु तैः विलसत्कलापास्तैर्विल०, पक्षे विकसन्मोरपिच्छैः ३ दवानलादिसंभवे वह्निसत्वं च मयूराणां अपि स्यात् ॥ ५८ ॥

भ्रान्त्वाखिलेऽङ्गेऽस्य दृशो वशानां,
प्रभापयोऽक्षिप्रपयोर्निपीय ।
छायां चिरं भ्रूलतयोरुपास्य,
भालस्थले सन्दधुरध्वगत्वम् ॥ ५९ ॥

भ्रान्त्वा० वशानां स्त्रीणां दृशोऽस्य भगवतोऽखिले समस्ते अङ्गे भ्रान्त्वा, ततः परं अक्षिप्रपयोर्लोचनरूपप्रपयोः प्रभापयः प्रभारूपजलं निपीय पीत्वा भ्रूलतयोर्भ्रूवल्ल्योः छायां कान्ति वा चिरं चिरकालं उपास्य सेवित्वा, भालस्थले अध्वगतं पथिकत्वं सन्दधुः सन्दधते स्म, अन्यत्रापि पथिकयः अङ्गनाम्नि देशे भ्रान्त्वा प्रपासु पयः पीत्वा लतासु छायामुपास्य स्थलमार्गे गमनं कुर्वन्ति ॥ ५९ ॥

अर्धं च पूर्णं च विधुं ललाट-
मुखच्छलाद्वीक्ष्य तदङ्गभूतौ ।
न के गरिष्ठां जगुरष्टमीं च,
राकां च तन्नाथतया तिथिषु ॥ ६० ॥

अर्धं च पूर्णं च० के विज्ञपुरुषा अष्टमीं च अन्यत् राकां च पूर्णिमां च तन्नाथतया तौ अर्धपूर्णौ विधुनाथौ ययोस्तत्तन्नाथयोर्भावस्तन्नाथतया, तिथिषु पञ्चदशस्वपि, गरिष्ठां न जगुर्न २३

कथयामासुः, अपि तु जगुरेव । किं कृत्वा? अर्धं च अन्यत् पूर्णं च विधुं चन्द्रं ललाटमुखच्छलात्तदङ्गभूतौ तस्य भगवतोऽङ्गभूतौ अवयवतां गतौ वीक्ष्य दृष्ट्वा । कोऽर्थः? स्वामिभालं अर्धचन्द्रसदृक् वक्त्रं संपूर्णचन्द्रमण्डलसदृक्षं चाभूत्, तेनाष्टमीपूर्णिमास्यौ, सर्वतिथिमध्ये गरिष्ठे जाते कथ्येते ॥ ६० ॥

द्विष्टोऽपि लोकैरमुना स्वमूर्ध्नि,
निवेशितः केशकलापरूपः ।
वर्णोऽवरः श्रीभरमाप नाथ-
प्रसादसाध्ये ह्युदये कुलं किम्? ॥ ६१ ॥

द्विष्टोऽपि लोकै० अवरः अप्रशस्यो वर्णः श्यामवर्णको नीचवर्णको वा, श्रीभरं शोभासमूहं आप प्राप, किंविशिष्टः वर्णः? लोकैर्द्विष्टोऽपि, पुनः किंविशिष्टः? अमुना भगवता स्वमूर्ध्नि आत्मीयमस्तके निवेशत आरोपितः, पुनः किंविशिष्टः? केशकलापरूपः केशकलाप एव रूपं यस्य सः, हि निश्चितं नाथप्रसादे साध्ये उदये सति कुलं किं वीक्ष्यते? कोऽर्थः? नृपो यस्य प्रसादाभिमुखं स्यात् तस्याऽकुलीनस्यापि सम्पदः स्युरिति भावः, उक्तं च—"सुप्रसन्नविशदस्य भूपतेर्यत्र यत्र विलसन्ति दृष्टयः । तत्र तत्र शुचिता कुलीनता दक्षता सुभगता च गच्छति ॥ १ ॥" ६१ ॥

बुद्ध्वा नवश्मश्रुसमाश्रिताङ्क-
श्रीकं निशोदीतमदोमुखेन्दुम् ।
केशौघदम्भात्किमु पुष्पतारा-
लङ्कारहारिण्यभिसारिकाभूत् ॥ ६२ ॥

बुद्ध्वा नवश्म० निशा रात्रिः, केशौघदम्भात् केशानां ओघः समूहस्तस्य दम्भात् मिषात् किमु अभिसारिकाऽभूत्, "अलंकृता या प्रियं याति कथ्यते साभिसारिका"। किं कृत्वा? अदोमुखेन्दुम् अमुष्य भगवतो मुखेन्दुः अदोमुखेन्दुः तं अदोमुखेन्दुं मुखचन्द्रं उदीतं उदितं बुद्ध्वा ज्ञात्वा, किंलक्षणं अदोमुखेन्दुम्? नवश्मश्रुसमाश्रिताङ्कश्रीकं नवीनकूर्चेणैव आश्रिता अङ्कश्रीः लाञ्छनश्रीर्येन तं नवश्मश्रु० अत्र स्वार्थे कः प्रत्ययो ज्ञेयः। किंलक्षणा रात्रिः? पुष्पतारालङ्कारहारिणी पुष्पाण्येव तारकास्तेषामलङ्कारस्तेन हारिणी मनोज्ञा या सा पुष्पतारा०। यतः शिरसि पुष्पाणि स्युः रात्रौ च तारकाः स्युरिति भावः। एतावता मुखं पूर्णचन्द्रसमं केशकलापश्च रात्रिसम इति भावः ॥ ६२ ॥

वर्णेषु वर्णः स पुरस्सरोऽस्तु,
योऽजस्रमाशिश्रियदङ्गमस्य ।
अवेपियच्छायलवेऽपि लब्धे,
लोके सुवर्णश्रुतिमाप हेम ॥ ६३ ॥

वर्णेषु वर्णः० सप्तलक्षणेषु वर्णेषु श्वेतरक्तादिषु पुरःसरोऽग्रेसरोऽस्तु, यः पीतवर्णोऽजस्रं निरंतरं अस्य भगवतो अङ्गं आशिश्रियत् आश्रयति स्म, अवेपि 'टुवेपृङ् केपृङ् गेपृङ् कपुङ् चलने' इतिधातोरिनि प्रत्यये वेपिन् इति स्यात् अतः कारणादवेपिनि निश्चले यच्छायलवेऽपि यस्य भगवतः कान्तिलेशोऽपि सति हेम सुवर्णं लोके लोकमध्ये सुवर्णश्रुतिं सुष्ठु शोभनो

वर्णः सुवर्ण इति ख्यातिं आप, भगवान् सुवर्णवर्णशरीरो वर्तते इति भावः ॥ ६३ ॥

द्युम्नं जगद्भृत्युपयोगि गुप्तं,
यच्छैशवेऽभूत्परमार्थदृष्टेः ।
तद्यौवनेनोत्सववत्प्रकाश-
मकारि माद्यत्प्रमदेन तस्य ॥ ६४ ॥

द्युम्नं० यत् द्युम्नं बलं पक्षे धनं तस्य भगवतः शैशवे बाल्ये गुप्तं अभूत्, किंविशिष्टस्य तस्य ? परमार्थदृष्टेः परमार्थे मोक्षे दृष्टिर्दर्शनं यस्य, पक्षे परमा प्रकृष्टाऽर्थद्रव्ये दृष्टिः । किंलक्षणं द्युम्नम्? जगद्भृत्युपयोगि जगतो भृतिर्मरणं पक्षे जगतो विश्वस्य भृतिः पोषणं तत्र उपयोगि। धनवान् जगतः पोषणं कर्तुं समर्थः, भगवान् मेरुं दण्डं पृथ्वीं छत्रं कर्तुं समर्थः । तत् द्युम्नं यौवनेन प्रकाशं प्रकटमकारि क्रियते स्म। किंवत्? उत्सववत् यथा उत्सवेन द्युम्नं धनं प्रकाशं क्रियते । किंलक्षणेन यौवनेन ? माद्यत्प्रमदेन-माद्यन्त्यः प्रमदाः स्त्रियो येन तत् माद्यत्प्रमदम्, तेन माद्यत्प्रमदेन । पक्षे प्रमदो हर्षो ज्ञेयः ॥ ६४ ॥

यूनोऽपि तस्याजनि वश्यमश्व-
वारस्य वाजीव सदैव चेतः ।
सशङ्कमेवोरसिलोऽप्यनङ्ग-
स्तदङ्गजन्मा तदुपाचरत्तम् ॥ ६५ ॥

यूनोऽपि० तस्य भगवतो यूनोऽपि यौवनाधिरूढस्यापि चेतश्चित्तं सदैव वश्यं, अजनि जातम्। कस्येव ? अश्ववारस्येव । यथा अश्ववारस्य वाजी तुरगो वश्यो भवति । तत् तस्मात् कारणात्,

उत्कलितोऽपि बलवानपि, अनङ्गः कन्दर्पः, तं भगवन्तं सशङ्कमेव वश्यो भवति, तथा उपचारात् सेवते स्म । किंलक्षणोऽनङ्गः? तदङ्गजन्मा तस्य चित्तस्याङ्गजन्मा पुत्रः । यदि पिता वश्यस्तदा पुत्रोऽप्यवश्यं वश्य एव स्यादिति ॥ ६५ ॥

पश्चादमुष्यामरवृन्दमुख्याः,
पदाभिषेकं प्रथयाम्बभूवुः ।
प्रागेव पृथ्व्यां प्रससार दुष्ट-
चेष्टोरगीवज्रमुखः प्रतापः ॥ ६६ ॥

पश्चादमुष्या०—अमरवृन्दमुख्या सुरेन्द्राः अमुष्य स्वामिनः पदाभिषेकं पश्चात् प्रथयाम्बभूवुर्विस्तारयामासुः अमुष्य भगवतः प्रतापः पृथ्व्यां प्रागेव प्रथममेव प्रससार प्रसरतिस्म । किंलक्षणः प्रतापः? दुष्टचेष्टोरगीवज्रमुखः दुष्टानां अन्यायकारिणां चेष्टा, सैव उरगी सर्पिणी, तां प्रति वज्रमुखो गरुडसमानः ॥ ६६ ॥

आनर्चुरिन्द्रा मकरन्दबिन्दु-
सन्दोहवृत्तस्नपनावयत्नम् ।
मन्दारमाल्यैर्मुकुटाग्रभाग-
श्रद्धैर्नमन्तोऽनुदिनं यदंह्री ॥ ६७ ॥

आनर्चुरिन्द्रा० इन्द्रा यदंह्री यस्य स्वामिनः पादौ, मन्दारमाल्यैः मन्दारस्य कुसुममालाभिः, अयत्नं उपक्रमं विनैव, आनर्चुः पूजयामासुः । किंलक्षणौ यदंह्री? मकरन्दबिन्दुसन्दोहवृत्तस्नपनौ । मकरन्दबिन्दूनां समूहेन निष्पन्नस्नानौ । किंलक्षणैर्म-

न्दारमाल्यैः ? मुकुटाग्रभागभ्रष्टैर्मुकुटस्याग्रभागात् भ्रष्टैः पतितैः । किं कुर्वन्तः सुराः ? अनुदिनं निरन्तरं नमन्तः । स्वयमेव नमतां मालापतने स्नात्रं पूजा च स्यात्, अतोऽयत्नमिति उक्तम् ॥ ६७ ॥

आमोक्षसौख्यांहतिसंधयास्मि-
न्नात्मातिरिक्तेऽभ्युदिते पृथिव्याम् ।
अशिश्रियन्मन्दरकन्दराणि,
संजातलज्जा इव कल्पवृक्षाः ॥ ६८ ॥

आमोक्षसौ० कल्पवृक्षा मन्दरकन्दराणि मेरोर्गुहा अशिश्रियन् आश्रितवन्तः । उत्प्रेक्षते, संजातलज्जा इव उत्पन्नलज्जा इव । क सति ? अस्मिन् भगवति आमोक्षसौख्यांहतिसन्धया, मोक्षावधि यत् सौख्यं तस्य अंहतिर्दानं तद्विषये सन्धा प्रतिज्ञा तया । आत्माऽतिरिक्ते आत्मनोऽधिके पृथिव्यां अभ्युदिते सति कल्पवृक्षैरात्मभ्योऽपि अधिकदातारं भगवन्तं वीक्ष्य लज्जया मेरुगुहा आश्रिताः ॥ ६८ ॥

स्वर्गायनैः स्वर्गिपतेः सभाया-
माविष्कृते कीर्त्यमृते तदीये ।
तत्पानतस्तृप्यति नाकिलोके,
सुधा ग्रहीतारमृते मुधाभूत् ॥ ६९ ॥

स्वर्गायनैः० सुधा अमृतम्, ग्रहीतारं ग्राहकम्, ऋते विना, मुधा निःफलाभूत् । क सति ? स्वर्गायनैस्तुम्बरुनारदाद्यैः गायनैः, स्वर्गिपतेरिन्द्रस्य सभायाम्, तदीये तस्य स्वामिनः सत्के, कीर्त्यमृते आविष्कृते प्रकटीकृते सति । पुनः क सति ? तत्पानतस्तस्य

कीर्त्यमृतस्य पानात्, नाकिलोके स्वर्गिलोके, तृप्यति तृप्तिं प्राप्नुवति सति ॥ ६९ ॥

मेरौ नमेरुद्रुतले तदीयं,
यशो हयास्यैरुपवीण्यमानम् ।
श्रोतुं विशालाऽपि सुरैः समेतैः,
सङ्कीर्णतां नन्दनभूरलम्भि ॥ ७० ॥

मेरौ नमेरुद्रुतले० सुरैर्देवैर्विशालापि विस्तीर्णापि नन्दनभूः नन्दनवनभूमिः सङ्कीर्णतामलम्भि सङ्कीर्णत्वं प्रापिता । किंलक्षणैः सुरैः ? तदीयं तस्य भगवतो यशः श्रोतुं आकर्णयितुं समेतैर्मिलितैः । किंलक्षणं यशः ? मेरौ मेरुपर्वते नमेरुद्रुतले नमेरुनाम्नो वृक्षस्य तले, हयास्यैः किंनरैरुपवीण्यमानं वीणयां गीयमानम् ॥ ७० ॥

यशोऽमृतं तस्य निपीय नागा-
ङ्गनास्यकुण्डोद्भवमद्भुतेन ।
शिरो धुनानस्य भुजङ्गभर्तु,-
र्भूभार एवाभवदन्तरायः ॥ ७१ ॥

यशोऽमृतं० भुजङ्गभर्तुः शेषनागाधिराजस्य, अद्भुतेन आश्चर्येण, शिरो धुनानस्य शीर्षं धुनतः सतः, भूभार एव अन्तरायोऽभवत् । किं कृत्वा ? तस्य स्वामिनो यशोऽमृतं निपीय पीत्वा, किंविशिष्टं यशः ? नागाङ्गनाऽऽस्यकुण्डोद्भवम्, पातालकन्याया मुखमेव कुण्डं तस्मादुत्पन्नम्, न च कुण्डेष्वमृतं वर्तत इति वचनात् ॥ ७१ ॥

धत्तां यशोऽस्याखिललोलगर्व-
सर्वस्वसर्वङ्कषताभिमानम् ।
गुणैर्दृढव्यूढघनैर्निबद्ध,-
मपि त्रिलोकाटनलम्पटं यत् ॥ ७२ ॥

धत्तां यशो० अस्य भगवतो यशः अखिललोलगर्वसर्वस्वसर्वङ्कषताभिमानम्, अखिलाः समस्ता लोलाश्चपला ये पदार्थास्तेषां यद्गर्वसर्वस्वं तस्य सर्वङ्कषता सर्वोन्मूलनता तस्याभिमानं अहङ्कारं धत्तां बिभर्तु । कोऽर्थः ? भगवतो हि यशस्त्रिभुवने सर्वचपलपदार्थेभ्योऽप्यतिचपलत्वेन विश्वं व्याप्नोति स । यद् यशो गुणैरौदार्यधैर्यगाम्भीर्यचातुर्यमाधुर्यादिभिर्दवरकैः वा निबद्धं बद्धमपि त्रिलोकाटनलम्पटं विश्वभ्रमणारसिकं वर्तते । किंलक्षणैर्गुणैः ? दृढव्यूढघनैः दृढा निश्चलाश्च व्यूढा विस्तीर्णाश्च घना निचिताश्च दृढव्यूढघनास्तैर्दृढव्यूढघनैः ॥ ७२ ॥

स एव देवः स गुरुः स तीर्थं,
स मङ्गलं सैष सखा स तातः ।
स प्राणितं स प्रभुरित्युपासा-
मासे जनैस्तद्गतसर्वकृत्यैः ॥ ७३ ॥

स एव देवः० जनैर्लोकैः स एव भगवान् इति अमुना प्रकारेण उपासामासे सेव्यतेस्म । उपासामासे इति क्रियापदं अष्टसु स्थानेषु संयोज्यते । स पुनः भगवान् देव इति चतुःषष्टीन्द्रसुरासुरनरप्रभृतिलोकैः सेव्यपादारविन्दत्वात् । स भगवान् गुरुरिति लोकानां आचारविचारव्यवहारकलाविद्याशिल्पविज्ञानादिप्रकाशकत्वात् । स जिनस्तीर्थमिति “अगाधे विमले शुद्धे सत्य-

शीलसमे हृदि । स्नातव्यं जङ्गमे तीर्थे ज्ञानार्जवदयापरैः," इत्यादितीर्थलक्षणाश्रितत्वात् । स स्वामी मङ्गलमिति सर्वपापच्छेदकत्वात् । स एष जिनः, सखा मित्रं आश्रितजनानां श्लाघ्यकर्मोद्यमकारकत्वात् । स स्वामी तातः पिता इति भव्यानां अन्तरङ्गशत्रुरक्षकत्वात् । स भगवान् प्राणितं जीवितमिति, पुण्यभाजां पुण्यरूपजीवितदायकत्वात् । स जिनः प्रभुः स्वामी इति सकलरीतिनीतिस्थितिभिः प्रजानां पालकत्वात् । किंविशिष्टैः जनैः ? तद्गतसर्वकृत्यैः तस्मिन् भगवति गतानि स्थितानि सर्वकृत्यानि येषां ते तद्गतसर्वकृत्यास्तैस्तद्गतसर्वकृत्यैः ॥ ७३ ॥

योगीश्वरोऽभिनवमन्यतनुप्रवेश-
मभ्यस्तवानुदरकन्दरगः स्वमातुः ।
बालो युवाप्यनपहाय तनूं स याव-
द्वेदं विवेश हृदयानि यदीक्षकाणाम् ॥ ७४ ॥

योगीश्वरो० यो भगवान् योगीश्वरः सन् अभिनवं नवीनं अन्यतनुप्रवेशं अभ्यस्तवान्, किंविशिष्टः भगवान् ? स्वमातुरुदरकन्दरगः आत्मीयजनन्या उदरमेव कन्दरं तत्र स्थितः, अन्योऽपि योगी कन्दरमध्ये परकायप्रवेशविद्यामभ्यसति । स जिनो बालो युवापि सन् तनूं शरीरं अनपहाय अत्यक्त्वा ईक्षकाणां आलोकनपराणां यद् हृदयानि यावद्वेदं यथालाभं विवेश प्रविष्टवान् । अन्यो योगी निजशरीरं त्यक्त्वा अन्यस्य एकस्य कस्यचित् शरीरे परकायप्रवेशविद्यया प्रविशति, अयं तु भगवान् शरीरं अत्यक्त्वा परेषां शरीरे प्रविवेश अतोऽत्रापूर्वता । कोऽर्थः ? भगवान् बालो युवापि यैर्दृष्टस्तेषां हृदये

प्रविष्टः जिनं विना लोकचित्ते नान्यो जनः स्थित इति भावः। यावद्वेदमिति 'विद्लृती लाभे' विद्। यावत् पूर्वं 'यावतो-विन्दजीवः' (सि० ५।४।५५) इति सूत्रात् यथा यावज्जीवं तथा यावद्वेदमिति प्रयोगः ॥ ७४ ॥

अप्राप्यकारि नयनं न मृषाह जैनः,
सम्पृच्य चेद्भगवतो वपुषा विदध्युः।
सेवामुपासकदृशस्तदिमा अपीह
दध्युः, कराद्यवयवा इव दिव्यभूषाम् ॥ ७५ ॥

अप्राप्यकारि—जैनः नयनं लोचनं अप्राप्यकारीति दूरस्थमेव स्वविषयग्राहकं मृषा अलीकं न आह न जल्पति, जैनानां हि स्पर्शनरसनघ्राणश्रवणेन्द्रियाणि प्राप्यकारीणि स्पृष्टविषयग्राहकत्वात्, नयनमनसी त्वप्राप्यकारिणी दहनाद्यसम्भवे अस्पृष्टविषयग्राहकत्वात्, ('पुट्ठं सुणेइ सद्दं रूवं पुण पासई अपुट्ठं तु') इत्यागमवचनात्, अत्रोपपत्तिमाह—चेत् यदि उपासकदृशः सेवकदृष्टयः भगवतो वपुषा संपृच्य सेवाकरणेन दिव्यभूषां कङ्कणमुद्रामुकुटादिकां दधति, तथा दृशः। तासां कज्जलमेव भूषणं च स्यात्, न तु स्वर्णादि। 'परहस्तेन वाणिज्यम्, सेवा सन्देशतस्तथा। तादृगेव फलं धत्ते, लोकेऽपि श्रूयते किल' इति ॥ ७५ ॥

हृदि ध्याते जातः कुसुमशरजन्मा ज्वरभरः,
श्रुते चान्यश्लाघावचनविरुचित्वं श्रवणयोः ॥
दृशोर्दृष्टे स्पष्टेतरविषयगत्यामलसता,
तथापीह स्नेहं दधुरमरवध्वो निरवधिम् ॥ ७६ ॥

हृदि ध्याते० इह भगवति हृदि ध्याते सति कुसुमशरजन्मा ज्वरभरः कामज्वरसमूहो जातः । च अन्यत् इह स्वामिनि श्रुते सति श्रवणयोः कर्णयोः अन्यश्लाघा वचनविरुचित्वं जातं, अन्येषां प्रशंसावचनेऽरुचिरुत्पन्ना । इह भगवति दृष्टे सति दृशोर्लोचनयोः इतरविषयगत्यां अलसता स्पष्टा जाता अन्यत्रावलोकने आलस्यं प्रकटं जातम् । तथापि अमरवध्वो देव्य इह भगवति निरवधिं अवधिरहितं स्नेहं दधुः । यस्मिन् ध्याते ज्वरः, श्रुतेऽरुचिः, दृष्टे आलस्यं जायते, तत्र स्नेहः कथं भ्रियते इति विरोधः ॥ ७६ ॥

नारीणां नयनेषु चापलपरीवादं विनिघ्नन् वपुः-,
सौन्दर्येण विशेषितेन वयसा बाल्यात्पुरोवर्तिना ॥
निर्जेतापि मनोभवस्य जनयंस्तस्यैव वामाकुले,
भ्रान्तिं कालमसौ निनाय विविधक्रीडारसैः कञ्चन ७७

नारीणां नयनेषु० असौ भगवान् विविधक्रीडारसैः कञ्चन कालं कियन्तं समयं निनाय गमयतिस्म । किं कुर्वन्? वपुःसौन्दर्येण शरीरमनोहरत्वेन निश्चलताकरणात् नारीणां स्त्रीणां नयनेषु लोचनेषु चापलपरीवादं चपलताया अपवादं विनिघ्नन् विनाशयन् । किंलक्षणेन वपुःसौन्दर्येण? बाल्यात् पुरोवर्तिना बाल्यादग्रेसरेण वयसा यौवनलक्षणेन विशेषितेन विशेषविशिष्टतां सश्रीकतां प्रापितेन । किं कुर्वन् भगवान्? मनोभवस्य कामस्य निर्जेतापि वामाकुले स्त्रीवर्गे रूपश्रिया तस्यैव मनोभवस्य भ्रान्तिं अयमेव

कामदेव इति भ्रमं जनयन् उत्पादयन् । यो यस्य निर्जेता स्यात् स तस्यैव भ्रान्तिं कथं उत्पादयति इति चित्रम् ॥ ७७ ॥

इति श्रीअञ्चलगच्छे कविचक्रवर्तिश्रीजयशेखरसूरिविरचितस्य जैनकुमारसम्भवस्य तच्छिष्यश्रीधर्मशेखरसूरिविरचितटीकायां श्रीमाणिक्यसुन्दरसूरिशोधितायां प्रथमसर्गव्याख्या समाप्ता ॥ १ ॥

॥ अथ द्वितीयः सर्गः प्रारभ्यते ॥

तदा हरेः संसदि रूपसम्पदं,
प्रभोः प्रभाजीवनयौवनोदिताम् ।
अगायतां तुम्बरुनारदौ रदो-
च्छलन्मयूखच्छलदर्शिताशयौ ॥ १ ॥

तदा हरेः० तदा तस्मिन् अवसरे तुम्बरुनारदौ हरेरिन्द्रस्य संसदि सभायां प्रभोः श्रीऋषभदेवस्य रूपसम्पदं रूपलक्ष्मीं अगायतां गायतः स्म । किंलक्षणं रूपसंपदम् ? प्रभाजीवनयौवनोदितां प्रभाया जीवनं यद्यौवनं तस्मादुदितां उत्पन्नाम्, किंलक्षणौ तुम्बरुनारदौ ? रदोच्छलन्मयूखच्छलदर्शिताशयौ रदेभ्यो दन्तेभ्य उच्छलन्तो ये मयूखाः किरणास्तेषां च्छलेन मिषेण दर्शिताशयौ दर्शित प्रकटित आशयो अभिशयो याभ्यां तौ रदोच्छलन्मयूखदर्शिताशयौ एतावता विशदचित्तौ ॥ १ ॥

प्रभुः प्रभाम्भोनिधिरामरी सभा,
किमु स्तुमस्तौ यदि गातुमुद्यतौ ।
मणिर्महार्घ्यः शुचिकान्ति काञ्चनम्,
कला कलादस्य कलापि वर्ण्यताम् ॥ २ ॥

प्रभुः प्रभाम्भोनिधि०, प्रभुः श्रीऋषभदेवः प्रभाम्भोनिधिः प्रभाया अम्भोनिधिः समुद्रो वर्तते, सभा आमरी अमराणामियमामरी देवसभा वर्तते। वयं किमु स्तुमः, यदि तौ तुम्बरुनारदौ गातुं उद्यतौ। अत्र दृष्टान्तमाह—मणिर्महार्घो बहुमूल्यो वर्तते, काञ्चनं सुवर्णं शुचि कान्ति पवित्ररुक् वर्तते, ततः परं कलादस्य सुवर्णकारस्य कला मनोज्ञा कलापि वर्ण्यताम् ॥ २ ॥

गुणाढ्यया गेयविधिप्रवीणया,
न वीणया गीतमदोऽन्वगायि न।
सरस्वती पाणितलं न मुञ्चती,
किमौचितीतश्च्यवते कदापि सा ॥ ३ ॥

गुणाढ्यया गेयविधिप्रवीणया० वीणया अदस्तुम्बरुनारदसम्बन्धि गीतं न न अन्वगायि नहि नहि अनु पश्चाद्गीयते स्म, अपितु गीयते स्म। अत्र द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः। किंविशिष्टया वीणया? गुणाढ्यया गुणैस्तंत्रीभिः विवेकादिभिर्वा आढ्यया समृद्धया। अन्या गायिनी गुणैर्माधुर्यादिभिराढ्या स्यात्। पुनः किंविशिष्टया? गेयविधौ गेयं गानं तस्य विधौ प्रवीणया निपुणया। सा वीणा औचिती औचित्यगुणात् किं कदापि च्यवते भ्रश्यति अपितु नैव। किंकुर्वती वीणा? सरस्वतीपाणितलं सरस्वत्या हस्ततलं न मुञ्चती। यः सरस्वत्याः समीपं न मुञ्चति, तस्य विवेकाद्या गुणाः स्युः। अत्र किं चित्रम् ॥ ३ ॥

निनिन्दुरेकेऽमरधेनुजं पयो,
मरुद्द्रुमाणाममपरे फलावलीम्।

परेऽर्णवालोडनसाधितां सुधां,
प्रभोः पिबन्तश्चरितामृतं सुराः ॥ ४ ॥

निनिन्दुरेके० एके देवा अमरधेनुजं पयः कामधेनुसंबन्धि दुग्धं निनिन्दुर्निन्दन्ति स्म । णिदि कुत्सायामिति धातोः प्रयोगः इति क्रिया सर्वत्र योज्यते । अपरे देवा मरुद्द्रुमाणां मरुतो देवास्तेषां द्रुमाः कल्पवृक्षाः तेषां फलावलीम् । अपरे सुराः सुधां अमृतम् । किंलक्षणां सुधाम् ? अर्णवालोडनेन करणात् साधितां समुद्रस्य आलोडनं मथनं ततः साधितां प्रकटिताम् । किं कुर्वन्तः सुराः ? प्रभोः श्रीऋषभदेवस्य चरित्रामृतं पिबन्तः । कोऽर्थः ? देवानां श्रीयुगादिदेवचरितामृतं कामधेनुदुग्ध-कल्पवृक्षफल-सुधानिर्यासादिभ्योऽप्यधिकतरं सरसं जातम् अतोऽमरधेनु-मरुद्द्रुमकरीर इति हीनशब्दौ साभिप्रायौ, सुधायाः प्रयास साध्यत्वमेव दोषः ॥ ४ ॥

श्रवाः श्रियं प्रापुरमी प्रभोर्गुणै-,
र्वयं वृथाभारकृतः किमासहे ।
मुदा शिरः स्वं धुनतां सभासदा-
मितीव पेते किल कर्णवेष्टकैः ॥ ५ ॥

श्रवाः श्रियं० किल इति सत्ये । सभासदां सभ्यानां कर्ण-वेष्टकैः कुण्डलैः पेते पतितम् । उत्प्रेक्षते, इतीव इतिकारणादिव इतीति किम् ? अमी सभासदः सभ्याः प्रभोर्गुणैः श्रवः श्रियं कर्णशोभां प्रापुः, वृथाभारकृतो मुधाभारकारिणो वयं किं आसहे किं तिष्ठामः । किं कुर्वतां सभासदाम् ? मुदा हर्षेण स्वं शिरः स्वीयं मस्तकं धुनताम् । कर्णवेष्टकः पुंनपुंसको ज्ञेयः ॥५॥

यशोऽमृतौघः प्रससार तन्मुखा,-
त्तथा प्रभोः पार्षदनिर्जरैर्यथा ।
अयं श्रवः कूपकहृत्सरेष्वमान्,
दृगध्वनावामि मुदश्रुदम्भतः ॥ ६ ॥

यशोऽमृतौघः० तन्मुखात् तयोस्तुम्बरुनारदयोर्मुखात् प्रभोः श्रीऋषभदेवस्य यशोऽमृतौघः यशोऽमृतस्य उद्यत्प्रवाहस्तथा प्रससार प्रसरति स, यथा पार्षदनिर्जरैः सभ्यदेवैरेवं यशोऽमृतौघः मुदश्रुदम्भतो हर्षाश्रुमिषात् दृगध्वना दृष्टिमार्गेण वाम्यते स । किं कुर्वन् यशोऽमृतौघः ? श्रवः कूपकहृत्सरेष्वमान् । श्रवणरूपकूपहृदयरूपसरोवरेषु अमान् मातुमशक्तः ॥ ६ ॥

ध्रुवं दृशोश्च श्रवसोश्च सङ्गतं,
प्रवाहवर्त्मान्तरमस्ति देहिनाम् ।
श्रुतिं गतो गीतरसो दृशोदभूत्,
मुदश्रुदम्भाद् द्युसदां किमन्यथा ? ॥ ७ ॥

ध्रुवं दृशोश्च० देहिनां प्राणिनां ध्रुवं निश्चितं दृशोर्दृष्ट्योः च अन्यत् श्रवसोः कर्णयोः अन्तरं मध्यसत्कं प्रवाहवर्त्म प्रवाहमार्गं संगतं मिलितं अस्ति, अन्यथा गीतरसः द्युसदां देवानां श्रुतिं कर्णं गतः सन् मुदश्रुदम्भात् दृशा किं उदभूत् प्रकटो बभूव । कोऽर्थः ? स्वामिनो गीतेन देवानां लोचनानि हर्षाश्रुजलप्लाविजातानि, गीतस्य रसत्वारोपादयं कवेर्भावो ज्ञेयः ॥ ७ ॥

कथामृतं पीतवतां विभोरभूद्
यथा ऋभूणां श्रवसोर्भृशं सुखम् ।
तथा दृशोरर्तिरदोदिदृक्षया,
न जन्तुरेकान्तसुखी क्वचिद्भवे ॥ ८ ॥

त्रिलोकभर्तुः० अथो अथोऽनन्तरं सुरेश्वरः इन्द्रः प्रास्थित चचाल । स्थाधातुः प्रपूर्वकः 'संविप्रावात्' (सि० ३।३।६३) इति सूत्रेणात्मनेपदी अद्यतनीत 'अड्धातोरा०' (सि० ४।४।२९) अडागमः 'इश्च स्थादः' (४।३।४१) अद्यतन्यामात्मने इत्यनेन आस्थाने इति प्रास्थित इति सिद्धम्, किंलक्षण इन्द्रः ? वैक्रियांगभृत् वैक्रियं नवीनं अंगं बिभर्तीति वैक्रियांगभृत् । देवेन्द्रा भवधारिणीयदेहेनैव देवलोकान्तर्भ्रमन्ति, परं मनुष्यलोकमागच्छन्तो हि उत्तरवैक्रियरूपं कुर्वन्तीति वैक्रियांगधारीन्द्र इत्यर्थः । पुनः किंविशिष्ट इन्द्रः ? परमार्हतः परमजैनः । पुनः किं कुर्वन् ? त्रिलोकभर्तुः जिनेन्द्रस्य विवाहावसरं विदन् । किं कृत्वा ? सभ्यान् विसृज्य । पुनः किंविशिष्टः इन्द्रः ? उपसर्जनीकृतापरक्रियः । उपसर्जनीकृता गौणीकृता निरादरीकृता अपराः क्रियाः कर्तव्यानि येन स उपसर्जनीकृतापरक्रियः ॥ १२ ॥

स्वयं प्रयाणे वद किं प्रयोजनं,
समादिशेष्टं तव कर्म कुर्महे ।
इमाः सुराणामनुगामिनां गिरो,
यियासतस्तस्य ययुर्न विघ्नताम् ॥ १३ ॥

स्वयं प्रयाणे० अनुगामिनां पश्चाद्गामिनां सुराणां देवानां इमा गिरो यियासतो गन्तुमिच्छतस्तस्य इन्द्रस्य विघ्नतां अन्तरायतां न ययुः न गच्छन्तिस्म । इमाः काः ? हे स्वामिन् ! वद ब्रूहि स्वयं प्रयाणे किं प्रयोजनं किं कार्यम् ? समादिश आदेशं देहि । वयं तव इष्टं कर्म कुर्महे ॥ १३ ॥

व्रजैः सुराणामनुवव्रजे व्रज-
न्नसावनुक्त्वाप्यतिरिक्तभक्तिभिः ।
बलात् किमामंत्रयते बलाहकः,
स यद्बलाकापटलैः परीयते ॥ १४ ॥

व्रजैः सुरा० असौ इन्द्रो अनुक्त्वापि व्रजन् अकथयित्वैव गच्छन् सुराणां देवानां व्रजैः समूहैरनुवव्रजे अनुगम्यतेस्म । किंलक्षणैः सुराणां व्रजैः ? अतिरिक्तभक्तिभिः अधिकभक्तिभिः । बलाहको मेघः । बलात् किं आमंत्रयते आकारयति अपितु नैव । यत् यस्मात् कारणात् । स बलाहकः बलाकापटलैः बकपत्नीसमूहैः परीयते परिव्रियते ॥ १४ ॥

न चिक्लिशे क्वापि विभोः प्रयोजनात्
स योजनानामयुतानि लङ्घयन् ।
पदे पदे प्रत्युत तद्विवन्दिषा-
रसेन कृष्टो गतिलाघवं दधौ ॥ १५ ॥

न चिक्लिशे क्वापि० स इन्द्रः क्वापि न चिक्लिशे न खेदमाप्तवान् । 'क्लिशंचू उपतापे', क्लिश् परोक्षा ए । किं कुर्वन् इन्द्रः ? विभोः प्रयोजनात् स्वामिकार्यात् योजनानामयुतानि दशसहस्राणि लंघयन् । अयुतानि इति उपलक्षणमात्रमेतत् यथा योजनानां दशसहस्राणि तथा क्वापि लक्षाणि, क्वापि दशलक्षाणि लंघयन्नित्याद्यपि ज्ञेयम् । पदे पदे प्रत्युत तद्विवन्दिषा प्रत्युत इति विशेषतस्तद्विवन्दिषा तस्य भगवतो वन्दनेच्छा तस्या रसेन कृष्टः सन् । गतिलाघवं, गतौ शीघ्रत्वं दधौ ।

कोऽर्थः ? स्वामिवन्दनोत्कण्ठया वडी (?) १ चपला २ वेगा ३ जवनतरीभिश्चतसृभिर्गतिभिरतित्वरितं चलितः ॥ १५ ॥

शिरांसि सर्पन् रुचकादिभूभृतां,
तदग्रसिद्धायतनस्थितार्हतः ।
विलंबभीरुर्मनसैव सोऽनम-
न्नयं न भिन्त्ते विबुधेशिता यतः ॥ १६ ॥

शिरांसि सर्पन्० स इन्द्रः रुचकादिभूभृतां शिरांसि सर्पन् रुचकादिपर्वतशीर्षाणि गच्छन् सन् तदग्रसिद्धायतनस्थितार्हतस्तदग्रे जिनभुवनेषु (ये) स्थितार्हतस्तान् मनसैव अनमत । किंलक्षण इन्द्रः ? विलम्बभीरुः विलंबात् भयवान् यतो यस्मात् कारणात् । विबुधेशिता इन्द्रः, पक्षे विद्वन्मुख्यः, नयं न्यायं न भिन्त्ते अन्यथाकरोति; श्रेयो हि प्रतिबध्नाति पूज्यपूजाव्यतिक्रम इति ॥ १६ ॥

न तस्य वज्रेऽपि विलोकितेऽधरै-
र्धरैर्बभूवे क्वचिदंजनादिभिः ।
तदीयमौलौ प्रतिमा अकृत्रिमाः,
सदासते यज्जगदेकपालिनाम् ॥ १७ ॥

न तस्य वज्रेऽपि० तस्य इन्द्रस्य वज्रे विलोकितेऽपि दृष्टेऽपि सति अञ्जनादिभिर्धरैः पर्वतैः क्वचिदधरैः कातरैर्न बभूवे । यत् यस्मात् कारणात्, तदीयमौलौ तेषां पर्वतानां मस्तके, जगदेकपालिनां जिनेन्द्राणां अकृत्रिमाः शाश्वत्यः प्रतिमाः सदा आसते तिष्ठन्ति । कोऽर्थः ? पर्वतानां शत्रुरिन्द्रो वज्रेण

पर्वतपक्षच्छेदित्वात् । अंजनाचलाद्या इन्द्रं दृष्ट्वा मनागपि न क्षुभ्यन्तेस्म, स्वशीर्षे शाश्वतजिनप्रतिमानां स्थितत्वात् ॥ १७ ॥

रुचाञ्जनक्ष्माधरमौलिमूलयां-
तरा तमस्यंचति सूचिभेद्यताम् ।
निरुद्धचक्षुर्विषयः स चिन्मयीं,
चरन् सहस्राभ्यधिकां दृशां दधौ ॥ १८ ॥

रुचांजन० स इन्द्रः चरन् सन् सहस्रेभ्योऽधिकां सहस्रादधिकां चिन्मयीं ज्ञानमयीं दृशां दधौ धत्तेस्म । क सति ? अंजनक्षमाधरमौलिमूलया, अंजनाचलमस्तके मूलमुत्पत्तिर्यस्यास्तया एवंविधया रुचा कान्त्या तमसि अन्धकारे सूचिभेद्यतां अंचति गच्छति सति । सूचीभिरन्धकारं न भेद्यते, तथापि कविधर्म्मोऽयम् । यतः कविशिक्षायामुक्तम्—'तिमिरस्य तथा मुष्टिग्राह्यत्वं सूचिभेद्यता'मिति । किंविशिष्टः इन्द्रः ? अत एव कारणात् निरुद्धचक्षुर्विषयो निरस्तनेत्रगोचरः । कोऽर्थः ? अञ्जनाचलो अतीव कृष्णः, तेन तत्रान्धकारं सूचिभेद्यम्, तत्र इन्द्रः सहस्रनेत्रैरपि न पश्यति, पश्चात् ज्ञानदृशैवान्तश्चलितः ॥ १८ ॥

लतामयागारशया रिरंसया,
सुराः सदारा ददृशुस्तमध्वगम् ।
स तानपश्यन्नतिवेगतस्त्रपा-
जडान्न चक्रेऽचलमूर्ध्नि चाचलिः ॥ १९ ॥

लतामया०, सदाराः सकलत्राः सुरा देवास्तं इन्द्रं अध्वगं मार्गस्थं ददृशुः पश्यन्तिस्म । किंलक्षणाः सुराः ? रिरंसया क्रीडे-

च्छया लतामयागारशया वल्लीमयगृहे शेरते इति लतामया० । स इन्द्रः अतिवेगतोऽपश्यंस्तान् सुरान् त्रपाजडान् लज्जया मूर्खान् न चक्रे । किंलक्षण इन्द्रः ? अचलमूर्ध्नि चाचलिः, पर्वतमस्तके चलनशीलः । चाचलिरिति निपातो ज्ञेयः ॥ १९ ॥

दिवाकरस्योर्ध्वमधश्च रेजिरे,
नभोऽजिरे ये प्रखरांशुदण्डकाः ।
अमी महेन्द्रस्य दिवोऽवरोहतः,
करावलंबत्वमिव प्रपेदिरे ॥ २० ॥

दिवाकरस्यो० ये दिवाकरस्य सूर्यस्य प्रखरांशुदण्डकाः कठिनकिरणरूपदण्डका नभोऽजिरे गगनाङ्गणे ऊर्ध्वम् अधश्च रेजिरे राजन्तेस्म । ते अमी प्रखरांशुदण्डकाः । महेन्द्रस्य सौधर्मेन्द्रस्य, दिवोऽवरोहतः आकाशात् उत्तरतः सतः, करावलंबत्वं हस्ताधारत्वमिव प्रपेदिरे, प्रपद्यन्तेस्म । इवशब्दोऽत्र शंकायाम् । कोऽर्थः ? यदा कोपि ऊर्ध्वभूमितोऽध उत्तरति तदा बद्धवंशाद्यवलंब्याऽधो याति, तथा इन्द्रोऽपि सूर्यकिरणदण्डकाधारेणाधो उत्तरति स्म इति भावः ॥ २० ॥

विवाहहर्म्ये त्रिजगत्प्रभोर्युवा-
मवाप्स्यथः किं न मणिप्रदीपताम् ।
इति प्रलोभ्याह्वयदिन्दुभास्करौ,
कृतातिथेयौ पथि संगतौ हरिः ॥ २१ ॥

विवाहहर्म्ये त्रि० हरिरिन्द्रः इन्दुभास्करौ चन्द्रसूर्यौ इति अमुना प्रकारेण प्रलोभ्य लोभयित्वा आह्वयत्, आकारयति स्म । इतीति किम् ? युवां त्रिजगत्प्रभोः श्रीऋषभदेवस्य

विवाहहर्म्ये विवाहमण्डपे मणिप्रदीपतां मणिसंबन्धिमाङ्गलिकरूपप्रदीपत्वं किं न अवाप्स्यथः, अपि तु प्राप्स्यथ एवेत्यर्थः। किंलक्षणौ इन्दुभास्करौ? कृतातिथेयौ कृतं आतिथेयं प्राघूर्णत्वं याभ्यां तौ कृतातिथेयौ। पुनः किंविशिष्टौ? पथि मार्गे संगतौ मिलितौ ॥ २१ ॥

निमेषविश्लेषिसमग्रहग्मये,
प्रिये सदा सन्निहितेऽत्र वज्रिणि।
क्वचिन्न या मुह्यति सा किमायसी,
शचीति तं वीक्ष्य जगुः शशिप्रियाः ॥ २२ ॥

निमेषविश्लेष० शशिप्रिया रोहिण्यादयः तं इन्द्रं वीक्ष्य दृष्ट्वेति जगुः परस्परमिति जल्पन्तिस्म। इतीति किम्? सा शची इन्द्राणी किं आयसी लोहमयी, या शची, अत्र अस्मिन् प्रिये इन्द्रे भर्तरि सदा संनिहिते समीपस्थे सति क्वचिन्न मुह्यति मूढत्वं न दधाति। किंलक्षणे इन्द्रे? वज्रिणि वज्रयुक्ते। पुनः किंविशिष्टे इन्द्रे? निमेषविश्लेषिसमग्रदृग्मये निमेषरहिते समस्तलोचनरूपे। कोऽर्थः? रोहिण्याद्याः स्वभर्तारं सौम्यं सोमं दृष्ट्वा सहस्रलोचनैर्विकरालरूपं वज्रयुक्तं च इन्द्रं दृष्ट्वा शच्या एव सर्वंसहत्वं प्रशंसति स्म। यद्यपि च जैनानामिन्द्रस्य शरीरे सहस्रलोचनत्वं नोच्यते तथापि काव्यं लोकानुरोधेनैव स्यादिति ॥ २२ ॥

विलोचनैरूर्ध्वमुखैर्वियत्युड्ड-
रधोमुखैर्वार्धिजलेऽतिनिर्मले।

स विप्रकीर्णा अवलोकयन्मणी-
रणीयसीमप्यविदन्न मुद्भिदम् ॥ २३ ॥

विलोचनैरू० स इन्द्रः अणीयसीमपि स्वल्पामपि मुद्भिदं हर्षभेदं न अविदन् न अलभत् । अणुशब्दस्याग्रे ईयनुस् प्रत्यये स्त्रीत्वे नलोपे अणीयसी स्यात् । किं कुर्वन् ? वियति आकाशे ऊर्ध्वमुखैर्विलोचनैर्दृग्भिरुडूर्नक्षत्राणि अवलोकयन्, अधोमुखैर्लोचनैरतिनिर्मले वार्द्धिजले समुद्रपानीये विप्रकीर्णा विक्षिप्ता मणीः-रुचकस्फटिकलोहिताक्षमरकतप्रभृतिमणिसमूहान् अवलोकयन् । उडुशब्दः स्त्रीनपुंसकलिङ्गो ज्ञेयः, मणिशब्दस्तु पुंस्त्रीलिङ्गो ज्ञेयः ॥ २३ ॥

अविश्रमे वर्त्मनि तस्य यायिनः,
श्रमस्य यः कोऽपि लवोऽजनिष्ट सः ।
अनोदि दुग्धोदधिशीकरैस्तटा-
चलस्खलद्वीचिचयोत्पतिष्णुभिः ॥ २४ ॥

अविश्रमे वर्त्मनी० तस्य इन्द्रस्य अविश्रमे विश्रामरहिते वर्त्मनि मार्गे यायिनो गच्छतः सतः श्रमस्य यः कोऽपि लवोऽजनिष्ट जातः, स श्रमस्य लवः दुग्धोदधिशीकरैः क्षीरसमुद्रस्य जलकणैरनोदि नुद्यते स । किंलक्षणैर्दुग्धोदधिशीकरैः ? तटाचलस्खलद्वीचिचयोत्पतिष्णुभिः तटेषु ये अचलाः पर्वतास्तेषु स्खलन्त्य आस्फालन्त्यो ये वीचयः कल्लोलास्तासां चयात् समूहात् उत्पतिष्णुभिरुत्पतनशीलैः । कोऽर्थः ? इन्द्रस्य सार्धराजप्रमाणं मार्गमतिक्रम्यागच्छतः सतो यः श्रमो जातः स शीतलैः क्षीरसमुद्रजलकणैः स्फेटित इति भावः ॥ २४ ॥

प्रभूतभौमोष्मभयंकरः स्फुर-
न्महाबलेनांजनभंजनच्छविः ।
निजानुजाऽभेदधियामुना घनः,
पयोधिमध्यान्निरयन्निरैक्ष्यत ॥ २५ ॥

प्रभूतभौमो० अमुना इन्द्रेण घनो मेघः निजानुजाभेदधिया स्वीयलघुभ्रातुर्नारायणस्यैक्यबुद्ध्या पयोधिमध्यात् समुद्रमध्यात् निरयन् निर्गच्छन् निरैक्ष्यत दृष्टः । किं लक्षणो घनः? प्रभूतभौमोष्मभयंकरः प्रभूतस्य प्रचुरस्य भौमोष्मणः भूमिसत्कबाष्पस्य भयंकरः । पुनः किंविशिष्टः घनः? महाबलेन वायुना स्फुरन् । पुनः किंविशिष्टो घनः? अंजनभंजनच्छविः कृष्णकान्तिः । नारायणः पुनः किंलक्षणः? प्रभवः स्वामिनस्तेषु उत प्रसिद्धो यो भौमो भौमासुरस्तस्य ऊष्मा गर्वस्तस्य भयंकरः उच्छेदकरः, बलेन शरीरसामर्थ्येन बलदेवेन चास्फुरन्महाः प्रसरत्तेजाः, शेषं स्पष्टम्, एवं विशेषणैर्जलदनारायणयोरैक्यम् । यद्यपि जैनमते समुद्रे नारायणः स्वपितीति वक्तुं न युक्तम्, परमत्रापि कविरूढिरेव ज्ञेया, यथा श्रीकल्पे लक्ष्मीवर्णने दिग्गजाभिषेकवर्णनमिति ॥ २५ ॥

दिवःपते द्यौरहमस्मि सांप्रतं,
न सांप्रतं मोक्तुमुपेत्य मां तव ।
इति स्ववर्णाबुदगर्जितेन सा,
द्रुतं व्रजन्तं किमु तं व्यजिज्ञपत् ॥ २६ ॥

दिवःपते द्यौरहमस्मि सांप्रतं० स द्यौराकाशः स्ववर्णाबुदगर्जितेन स्वः स्वीयो वर्णः श्यामतालक्षणो जातिविशेषो

वा यस्य स स्ववर्ण एवंविधो योऽम्बुदो मेघः तस्य गर्जितेन गर्जारवच्छलेन तं इन्द्रं द्रुतं शीघ्रं व्रजंतं गच्छन्तं सतं, किमु इति व्यजिज्ञपत् विज्ञापयति स्म । विज्ञप्तिः स्वजनेन कार्येत इति व्यङ्ग्यम्, इति इति किम्? हे दिवःपते! अहं द्यौरस्मि तव साम्प्रतं अधुना मामुपेत्य मम समीपमागत्य मोक्तुं न सांप्रतं न युक्तम् । कोऽर्थः? द्यौशब्दः स्त्रीलिङ्गः स्वर्गाऽऽकाशवाची, अतो भङ्ग्याह त्वं दिवःपतिरहं तु द्यौरेतावता त्वं स्वामी अहं च भार्या । अतः कारणात् तव मम समीपमागतस्येत्थं मामुपेक्ष्य गंतुं न युक्तमिति भावः ॥ २६ ॥

पथि प्रथीयस्यपि लंघिते जवा-
दवाप स द्वीपमथादिमं हरिः ।
विभाति यो द्वीपसरस्वदुत्करैः,
परैः परीतः परिवेषिचन्द्रवत् ॥ २७ ॥

पथि प्रथीयस्यपि० अथानन्तरं स हरिरिन्द्रः जवात् वेगात् प्रथीयस्यपि प्रचुरेऽपि पथि मार्गे लङ्घिते सति आदिमं द्वीपं अवाप प्राप्तः, यो द्वीपः परैरन्यैर्द्वीपसरस्वदुत्करैः द्वीपानां सरस्वतां समुद्राणां च उत्करैः समूहैः परीतो वेष्टितः सन् परिवेषिचन्द्रवत् परिधियुक्तचन्द्रवद्विभाति शोभत इति, द्वीपशब्दः पुंक्लीबलिंगो ज्ञेयः ॥ २७ ॥

इहापि वर्षं समवाप्य भारतं,
बभार तं हर्षभरं पुरन्दरः ।
घनोदयोऽलं घनवर्त्मलंघन-
श्रमं शमं प्रापयति स्म योऽद्भुतम् ॥ २८ ॥

इहापि वर्षं० पुरंदर इन्द्र इहापि अस्मिन् जंबूद्वीपमध्येऽपि भारतं वर्षं भरतक्षेत्रमवाप्य तं हर्षभरं प्रमोदसमूहं बभार धरति स्म। अद्भुतं आश्चर्यं यो हर्षभरः अलं अत्यर्थं घनवर्त्मनः घनवर्त्मा आकाशस्तस्य लंघने यः श्रमः तं श्रमं शान्तिं प्रापयति स्म। किंविशिष्टो हर्षभरः? घनोदयः घनः प्रचुर उदय उत्पत्तिर्यस्य सः। कोऽर्थः? अन्यो भरो भारः श्रमं उत्पादयति अयं हर्षभरस्तु श्रमं शमयति स्मेत्याश्चर्यम् ॥ २८ ॥

विनीलरोमालियुजो वनीघनो
गभीरनाभेर्बहुनिम्नपल्वलः ।
बभूव शच्या अपि मध्यदेशतोऽ-
स्य मध्यदेशः स्फुटमीक्षितो मुदे ॥ २९ ॥

विनीलरोमालि० यत्र जिनचक्र्यर्धचक्रिणां जन्म स्यात् स भरतसत्को मध्यदेशः शच्या अपि मध्यदेशतः उदरप्रदेशात् अधिकं अस्य इन्द्रस्य मुदे हर्षाय बभूव, हेतुमाह—किंविशिष्टो मध्यदेशः? स्फुटं प्रकटं ईक्षितो दृष्टः, शचीमध्यदेशस्तु नैवमिति हर्षे विशेषः। किंलक्षणात् शच्या मध्यदेशतः? विनीलरोमालियुजः। किंलक्षणो मध्यदेशः? बहुनिम्नपल्वलः बहूनि निम्नानि गमीराणि पल्वलानि अखातसरांसि यत्र स बहुनिम्नपल्वलः। यद्यपि देवानां शरीरे नखरोमादीनि न स्युस्तथापि उत्तरवैक्रियशरीरे घटन्ते इति विनीलरोमालियुजो न चर्च्यम् ॥ २९ ॥

ददर्श दूरादथ दीर्घदन्तकं,
घनालिमाद्यत्कटकान्तमुन्नतम् ।

प्रलंबकक्षायितनीरनिर्झरं,
सुरेश्वरोऽष्टापदमद्रिकुंजरम् ॥ ३० ॥

दद‍र्श दूराद‍थ० अथानन्तरं सुरेश्वर इन्द्रः अष्टापदं अद्रिकुंजरं पर्वतेषु कुञ्जरं हस्तिनं वा दूराद्ददर्श । किंलक्षणं अष्टापदम्? दीर्घदन्तकं दीर्घा दन्तका बहिर्निर्गताः प्रदेशा यस्य तम् । कुञ्जरपक्षे दीर्घौ दन्तौ दन्तमुशले यस्य स दीर्घदन्तकस्तम् । स्वार्थे कप्रत्ययः । पुनः किंविशिष्टं अष्टापदम्? घनालिमाद्यत्कटकान्तम् घनालिभिर्घनानां मेघानां आलिभिः श्रेणिभिर्माद्यन्तः स्थूलीभवन्तः, कटकानां पर्वतमध्यभागानां अन्तरा यस्य तम्, कुंजरपक्षे घना बहवोऽलयो भ्रमरा यत्र ते घनालिनी माद्यन्ती मदं किरन्ती कटे कपोलौ ताभ्यां कान्तम् । पुनः किंविशिष्टम्? उन्नतमुच्चैस्तरम् । पुनः किंविशिष्टम्? प्रलंबकक्षायितनीरनिर्झरं प्रलंबा कक्षा वस्त्रा तद्वदाचरितानि नीरस्य निर्झराणि यत्र तं प्रलम्बकक्षायितनीरनिर्झरम् ॥ ३० ॥

शिरो ममार्हत्प्रतिमानविंशति-
श्चतुर्युताध्यास्य वतंसयिष्यति ।
इतिप्रमोदानुगुणं तृणध्वज-
व्रजस्य दम्भात्पुलकं बभार यः ॥ ३१ ॥

शिरो ममार्हत्प्रतिमानविंशति० योऽष्टापदः तृणध्वजव्रजस्य तृणध्वजानां व्रजः समूहः तस्य दम्भात् मिषात् पुलकं रोमाञ्चं बभार । किंलक्षणं पुलकम्? इतिप्रमोदानुगुणं, इति अमुना प्रकारेण यः प्रमोदो हर्षः तस्य अनुगुणं योग्यम् । कः प्रमोद इत्याह—चतुर्युतार्हत्प्रतिमानविंशतिरर्हतां प्रतिमानानि बिम्बानि

तेषां विंशतिः एतावता चतुर्विंशतिः, मम शिरो मस्तकमध्यास्य अध्याश्रित्य वतंसयिष्यति अवतंसयिष्यति अवतंससंयुक्तं मुकुटसंयुक्तं करिष्यति ॥ २१ ॥

यदुच्चशृंगाग्रजुषोऽपि खेचरी-
गृहीतशिम्बाफलपुष्पपल्लवाः ।
न सेहिरे स्वानुपभोगदुर्यशो,
द्रुमा मरुत्प्रेरितमौलिधूननैः ॥ ३२ ॥

यदुच्च० द्रुमाः वृक्षा मरुत्प्रेरितमौलिधूननैः पवनप्रेरितशिरः-कम्पनच्छलेन स्वानुपभोगदुर्यशः आत्मीयस्य उपभोगरहितत्व-स्यापकीर्त्तिं न सेहिरे न सोढवन्तः । किंलक्षणा द्रुमाः? यदुच्च-शृङ्गाग्रजुषोऽपि यस्य पर्वतस्य उच्चशृंगाग्रे जुषन्ते सेवन्ते। एवं-विधा अपि पुनः किंलक्षणा द्रुमाः? खेचरीगृहीतशिम्बाफल-पुष्पपल्लवा विद्याधरीभिर्गृहीता शिम्बाफलिका फलपुष्पपल्लवानि च येषान्ते खेचरीगृहीतशिम्बाफलपुष्पपल्लवाः ॥ ३२ ॥

निवासभूमीमनवाप्य कन्दरे-
ष्वपि स्फुटस्फाटिकभित्तिभानुषु ।
तले तमस्तिष्ठति यन्महीरुहां,
शितिच्छविच्छायनिभान्निशात्यये ॥ ३३ ॥

निवास० तमः अन्धकारं निशात्यये प्रभाते यन्महीरुहां यस्य पर्वतस्य वृक्षाणां तले शितिच्छविच्छायनिभात् शितिः कृष्णा छविः कान्तिर्यस्याः सा शितिच्छविः, एवंविधा या छाया तस्या निभात् मिषात् तिष्ठति । किं कृत्वा? कन्दरेष्वपि गुहास्वपि

निवासभूमीं वासस्थानं अनवाप्य अप्राप्य । किंविशिष्टेषु कन्दरेषु ? स्फुटाः प्रकटाः स्फाटिकभित्तीनां भानवः किरणा यत्र तानि स्फुटस्फाटिकभित्तिभानूनि तेषु । कोऽर्थः ? अत्र पर्वतेषु अन्धकारं मणिसत्कोद्द्योताग्रे प्रवेशं न लभते, पश्चात् छायामिषेण वृक्षाणां तले स्थितमिति भावः ॥ ३३ ॥

प्रतिक्षपं चन्द्रमरीचिरेचिता-
मृतांशुकान्तामृतपूरजीवना ।
वनावली यत्र न जातु शीतगोः,
पिधानमैच्छन्मलिनच्छविं घनम् ॥ ३४ ॥

प्रतिक्षिपं० यत्र यस्मिन् पर्वते वनावली जातु कदाचिदपि मलिनच्छविं कृष्णकान्तिं मेघं न ऐच्छत् न वांछति स्म । किंलक्षणं घनम् ? शीतगोश्चन्द्रस्य पिधानमाच्छादनं, पक्षे शीता शीतला गौर्वाणी यस्य स शीतगुस्तस्य पिधानमपह्नवकरणात् य एवंविधो मलिनच्छविश्च स्यात् स सर्वस्याप्यनिष्ट एव स्यादिति । अथ मेघं विना वनावली कथं जीविष्यतीत्याह–किंलक्षणा वनावली ? प्रतिक्षपं क्षपां २ रात्रिं २ प्रति चन्द्रमरीचिरेचिताः चन्द्रकिरणैः श्राविता ये अमृतांशुकान्ताश्चन्द्रकान्तमणयः, तेभ्यो योऽमृतपूरः स एव जीवनं यस्याः सा चन्द्रमरीचिरेचितामृतांशुकान्तामृतजीवना ॥ ३४ ॥

यदौषधीभिर्ज्वलिताभिरर्दितं,
तमःसपत्नीभिरवेक्ष्य सर्वतः ।
तमस्विनी गच्छति लांछनच्छलात्,
कलानिधिं किं दयितं स्थितेः कृते ॥ ३५ ॥

यदौ० तमस्विनी रात्रिर्लांछनच्छलात्, किम्? स्थितेर्मर्यादायाः कृते मर्यादार्थं कलानिधिं चन्द्रमसं दयितं भर्तारं गच्छति, किं कृत्वा? ज्वलिताभिर्दीप्ताभिः सपत्नीभिः, यदौषधीभिः यस्य पर्वतस्यौषधीभिः । सर्वतः अर्दितं पीडितं तमोऽन्धकारं अवेक्ष्य दृष्ट्वा । कोऽर्थः? औषधीनां रात्रेश्च चन्द्रः पतिः, रात्रेश्च अपत्यं अन्धकारम् । ज्वलिताभिरौषधीभिस्तमः सर्वतः पीड्यमानं दृष्ट्वा उपालम्भदानाय निजं कलानिधिं पतिं गता सा अद्यापि लाञ्छनच्छलेन चन्द्रे दृश्यते इति भावः ॥ ३५ ॥

पतन्ति ये बालरवेः प्रगे करा
यदुल्लसद्गैरिकधातुसानुषु ।
क्रियेत तैरेव विसृत्य चापला-
दिलाखिला गैरिकरंगिणी न किम् ॥ ३६ ॥

पतन्ति० प्रगे प्रभाते ये बालरवेर्बालाऽर्कस्य कराः किरणाः यदुल्लसद्गैरिकधातुसानुषु, यस्य पर्वतस्य उल्लसद्गैरिकधातूनां सानुषु शिखरेषु पतन्ति, तैरेव चापलात् चपलभावाद् विसृत्य विस्तारं प्राप्य, अखिला समस्ता, इला पृथ्वी, किं गैरिकरंगिणी गैरिकरंगभाक्, किं न क्रियते, अपितु क्रियत एव । कोऽर्थः? बालः प्रायः क्रीडासक्त इति स्थिरभावं त्यक्त्वा बालार्ककिरणैः समस्तापि पृथ्वी रक्ता कृता इति भावः । अत्र संशयाऽलङ्कारो ज्ञेयः ॥ ३६ ॥

यदीयगारुत्मतभित्तिजन्मभिः,
करैरवंच्यन्त तथा हरित्प्रभैः ।

न चिक्षिपुर्मुग्धमृगा मुखं क्वचिद्
यथाऽनलीकेषु तृणांकुरेष्वपि ॥ ३७ ॥

यदीय० मुग्धमृगाः सरलहरिणा यदीयगारुत्मतभित्तिजन्मभिः यस्य पर्वतस्य नीलमणिभित्तेरुत्पन्नैर्हरित्प्रभैर्नीलवर्णकान्तिभिः करैः किरणैस्तथा अवंच्यत वञ्चिताः, यथा अनलीकेष्वपि सत्येष्वपि तृणांकुरेषु क्वचिन्मुखं न चिक्षिपुर्न वाहयन्ति स्म ॥ ३७ ॥

शरन्निशोन्मुद्रितसांद्रकौमुदी-
समुन्मदिष्णुस्फटिकांशुडम्बरे ।
निविश्य यन्मूर्धनि साधकै रसा-
धिकैर्महोऽन्तर्बहिरप्यदृश्यत ॥ ३८ ॥

शर० रसाधिकैः शान्तरसाधिकैः साधकैः योगिभिः यद्मूर्धनि यस्य पर्वतस्य मस्तके निविश्य उपविश्यान्तर्मध्ये बहिरपि महस्तेजो अदृश्यत । मध्ये अध्यात्मजं तेजो ज्ञेयम्, बहिस्तु कथयति, किंलक्षणे यन्मूर्धनि ? शरन्निशोन्मुद्रितसांद्रकौमुदीसमुन्मुदिष्णुस्फटिकांशुडम्बरे शरद्काले राञ्यां उन्मुद्रिताः प्रकटिता सांद्रा निबिडा या कौमुदी चन्द्रज्योत्स्ना तया समुन्मदिष्णवो वर्धनशीला याः स्फटिकमणीनां अंशवः किरणाः तेषामाडम्बरो यत्र तस्मिन् ॥ ३८ ॥

तरुक्षरत्सूनमृदूत्तरच्छदा
व्यधत्त यत्तारशिला विलासिनाम् ।
रतिक्षणालम्बितरोषमानिनी-
सयग्रहग्रन्थिभिदे सहायताम् ॥ ३९ ॥

तरु० यत्तारशिला यस्य पर्वतस्य रौप्यशिला विलासिनां भोगिनां रतिक्षणालंबितरोषमानिनीस्मयग्रहग्रन्थिभिदे भोगावसरे कृतरोषस्त्रीणां अहंकाररूपग्रन्थिभेदनाय सहायतां सहायं व्यधत्त अकरोत् । किंलक्षणा तारशिला ? तरुक्षरत्सूनमृदूत्तरच्छदा तरोर्वृक्षात् क्षरन्ति सूनानि पुष्पाणि तैर्मृदुः श्लक्ष्ण उत्तरच्छद उत्तरपटो यत्र सा, कोऽर्थः ? सपुष्पशय्यातुल्यां शिलां दृष्ट्वा स्वयमेवाभिमानो वनिताया विलीनः, अतः, शिलया पत्युः साहाय्यं कृतमेवेति भावः ॥ ३९ ॥

यदुच्चवृक्षाग्रनिवासिनीं फला-
वलीमविन्दन्नुपलैः पुलिन्द्रकः ।
कपीनदःस्थानभिवृष्य तान् सुखं,
समश्नुते तैः प्रतिशत्रितां रुषा ॥ ४० ॥

यदुच्च० पुलिन्द्रको यदुच्चवृक्षाग्रनिवासिनीं यस्य पर्वतस्य उच्चा ये वृक्षास्तेषां शृङ्गाग्रे शिखराग्रे निवासिनीं फलावलीं फलश्रेणीं अविन्दन् अलभमानोऽपि सुखं समश्नुते प्राप्नोति । किं कृत्वा ? अदःस्थान् अमीषु वृक्षेषु स्थितान् कपीन् वानरान् उपलैः पाषाणैः अभिवृष्य सन्मुखं आहत्य । किंलक्षणां फलावलीं फलश्रेणीं अविन्दन् ? तैः कपिभिः रुषा रोषेण प्रतिशत्रितां प्रतिशत्रीकृताम् ॥ ४० ॥

इमाः सुवर्णैस्तुलिता इति क्षपा-
मुखे रविः स्वं प्रवसन् वसु न्यधात् ।
यदीयगुंजासु किमन्यथा हिम-
व्यथां हरीणां सहिता हरन्ति ताः ॥ ४१ ॥

इमाः० रविः सूर्यः क्षपामुखे रात्रिप्रारंभे प्रवसन् परद्वीपं गच्छन् स्वं वसु-आत्मीयं तेजो द्रव्यं वा, इतिकारणात् यदीय-गुंजासु न्यधात्। सर्व उत्तमस्यैव हस्ते निजद्रव्यं समर्पयति, अत आह इतीति किम्? इमा गुंजाः सुवर्णैः कांचनैः उत्तमजातीयैर्वा तुलिताः सन्ति सदृशी कृता वा। अथ रवितेजोनिवेशफलमाह अन्यथा ता गुंजाः, सहिता मिलिताः सत्यः, हरीणां वानराणां हिमव्यथां किं हरन्ति? कोऽर्थः? सूर्येण सन्ध्यासमये स्वीयं तेजो गुंजासु क्षिप्तम्, तेन हेतुना वानरा एकत्र संभूय गुंजा-भिस्तापयन्ति, तेषां च इत्थं शीतं यात्येवेति भावः ॥ ४१ ॥

जिनेशितुर्जन्मभुवः समीपगं,
नगं तमाधाय मुदा दृगध्वगम्।
सगोत्रपक्षक्षतिजातपातकै-
र्विमुक्तमात्मानममंस्त वासवः ॥ ४२ ॥

जिने० स वासव इन्द्रः गोत्रपक्षक्षतिजातपातकैः पर्वतानां पक्षच्छेदनेन समुत्पन्नैः पापैरात्मानं विमुक्तं अमंस्त मन्यते स्म। किं कृत्वा? जिनेशितुः श्रीऋषभदेवस्य जन्मभुवः समीपस्थं तं पूर्ववर्णितं नगं अष्टापदपर्वतं मुदा हर्षेण दृगध्वगं दृष्टिमार्गगोचरं आधाय कृत्वा। कोऽर्थः? पुरा पर्वताः पक्षाभ्या-मुत्पत्य एवाहर्निशं ग्रामनगराद्युपरि पतंत आसन्, इतश्चेन्द्रेण वज्रेण पर्वतपक्षाश्छिन्ना इति हि लोकरूढिः। इन्द्रो जिनस्य जन्मभूमिप्रत्यासन्नं अष्टापदाचलं दृष्ट्वा पर्वतपक्षच्छेदनपात-कात् छुटितः। अन्योऽपि महातीर्थं दृष्ट्वा सगोत्राणां स्वगोत्रिणां

पक्षक्षितिर्वंशोच्छेदः तज्जातपातकैर्विमुक्तः स्यात्, यथा पाण्डवादयः शत्रुंजयतीर्थे सिद्धा इति भावः ॥ ४२ ॥

अथ प्रभोर्जन्मभुवं पुरन्दरो-
ऽसरच्छरच्चान्द्रिकयेव दृष्टया ।
यया चिरादुत्कलिकाभिराकुलं,
प्रसादमासादयदस्य हृत्सरः ॥ ४३ ॥

अथ० अथानन्तरं पुरंदर इन्द्रः प्रभोर्जिनस्य जन्मभुवं असरत् अगमत्, यया जन्मभुवा दृष्टया अस्य इन्द्रस्य हृत्सरः हृदयरूपसरोवरं प्रसादं प्रसन्नत्वं आसादयत् प्राप्नोति स्म । कया इव? शरच्चन्द्रिकया इव । यथा शरच्चन्द्रिकया शारदज्योत्स्नया सरः सरोवरं प्रसादं आसादयति । किंलक्षणं हृत्सरः? चिराच्चिरकालादुत्कलिकाभिः उत्कण्ठाभिः, पक्षे लहरीभिराकुलं व्याप्तम् ॥ ४३ ॥

स तत्र मन्दारमणीवकस्रवन्-
मधुच्छटासौरभभाजने वने ।
अभुक्तपूर्वाचलहेलिलीलया,
निविष्टमष्टापदसिंहविष्टरे ॥ ४४ ॥

दृशोरशोषामृतसत्रसंगिना-
मनंगनाढ्योचितमाश्रितं वयः ।
वयस्यतापन्नसुपर्वसङ्गतं,
रसं गतं तत्कृतनर्मकर्मसु ॥ ४५ ॥

शिरःस्फुरच्छत्रमखण्डमण्डन-
द्युसद्वधूधूनितचारुचामरम् ।

विशारदैर्वंदितपादमादरा-
दरातिरद्रेर्जगदीशमैक्षत ॥ ४६ ॥

॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥

स० स अद्रेरराति: पर्वतस्यारिरिन्द्रस्तत्र वने जगदीशं श्रीयुगादिनाथं ऐक्षत पश्यति स्म । किंलक्षणे वने ? मन्दारमणीवकस्रवन्मधुच्छटासौरभभाजने, मन्दराणां मणीवकानि पुष्पाणि तेभ्यः स्रवन्मधुमकरन्दरसछटाभिर्यत्सौरभं सौगन्ध्यं तस्य भाजने स्थाने । अन्यानि सर्वाणि विशेषणानि जगदीशसत्कानि, किंविशिष्टं जगदीशम् ? अमुक्तपूर्वाचलहेलिलीलया अमुक्तोऽत्यक्तः पूर्वाचल उदयाचलो येन स, एवंविधो हेलिः सूर्यः तस्य लीलया अष्टापदसिंहविष्टरे सुवर्णसिंहासने निविष्टं उपविष्टम् ॥ ४४ ॥ पुनः किंविशिष्टं जगदीशम् ? अङ्गिनां प्राणिनां दृशोरशोषामृतसत्रं शोषरहितामृतसत्रागारम् । पुनः किंविशिष्टं जगदीशम् ? अनंगनाट्योचितं कन्दर्पसत्कनाटकयोग्यं वयो यौवनमाश्रितम्, पुनः किंविशिष्टम् ? वयस्यतापन्नसुपर्वसंगतं मित्रत्वं प्राप्ताः सुपर्वणो देवास्तैः सह संगतं मिलितम् । पुनः किंविशिष्टम् ? तत्कृतनर्मकर्मसु तैः सुरैः कृतेषु नर्मकर्मसु क्रीडाकर्तव्येषु रसं गतं रसं—प्राप्तम् ॥ ४५ ॥ पुनः किंविशिष्टम् ? शिरःस्फुरच्छत्रं शीर्षे प्रसरत् श्वेतातपत्रम् । पुनः किंविशिष्टम् ? अखंडमण्डनद्युसद्वधूधूनितचारुचामरम् अखंडानि मण्डनानि मुकुटकुण्डलहारार्धहारकटककेयूराद्याभरणानि यासां ताः द्युसद्वध्वो देवांगनास्ताभिश्चालितमनोज्ञचा-

मरम् । विशारदैश्चतुरैरादराद्वन्दितपादं नमस्कृतचरणम् ॥४६॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥

कनीनिकादंभमधुव्रतस्पृशां,
दृशां शतैर्बिभ्रदिवाम्बुजस्रजम् ।
ततस्त्रिलोकीपतिमेनमर्चितुं,
रयादुपातिष्ठत निर्जरेश्वरः ॥ ४७ ॥

कनी० ततस्ततोऽनन्तरं निर्जरेश्वर इन्द्र एनं त्रिलोकीपतिं श्रीयुगादीशं अर्चितुं पूजयितुं रयात् वेगात् उपातिष्ठत आगच्छत् । किंलक्षण इन्द्रः ? कनीनिकादंभमधुव्रतस्पृशां तारामिषेण भ्रमरस्पृशां दृशां शतैरंबुजस्रजं कमलमालां बिभ्रदिव धरन्निव । नयनानां कमलोपमा दीयते, अतः सहस्रलोचनत्वात् मूर्तिमतीं कमलमालां बिभ्राणो भगवन्तं पूजयितुमिव हरिः समेत इति भावः ॥ ४७ ॥

शिरः स्वमिन्दिन्दिरयन् विनम्य त-
त्पदाब्जयुग्मे लसदंगुलीदले ।
इति स्फुरद्भक्तिरसोर्मिनिर्मलं,
शचीपतिः स्तोत्रवचः प्रचक्रमे ॥ ४८ ॥

शिरः० शचीपतिरिन्द्रः इति अमुना प्रकारेण स्फुरद्भक्तिरसोर्मिनिर्मलं प्रसरद्भक्तिरसकल्लोलैः निर्मलं स्तोत्रवचः प्रचक्रमे प्रारेभे । किं कुर्वन् इन्द्रः ? लसदंगुलीदले लसत् अङ्गुलिकारूपपत्रे तत्पदाब्जयुग्मे तस्य भगवतश्चरणकमले विनम्य नत्वा स्वशिरः आत्मीयमस्तकं इन्दिन्दिरयन् भ्रमरवत् कुर्वन् ॥४८॥

महामुनीनामपि गीरगोचरा-
खिलस्वरूपास्तसमस्तदूषण ।
जयादिदेव त्वमसत्तमस्तम-
प्रभाप्रभावाल्पितभानुवैभव ॥ ४९ ॥

महा० मन्वते त्रिकालावस्था इति मुनयः । महान्तो ये मुनयस्तेषां महामुनीनामपि गिरां वाणीनां अगोचरं अखिलं समस्तं स्वरूपं यस्य तस्य सम्बोधनं क्रियते हे महामुनी० । हे अस्तसमस्तदूषण अस्तानि समस्तानि दूषणानि येन स तस्य संबोधनम् । हे आदिदेव ! हे असत्तमस्तमप्रभाप्रभावाल्पितभानुवैभव ! असत् अविद्यमानं तमः पापं यस्याः सा असत्तमा, प्रकृष्टा असत्तमा असत्तमस्तमा, अतीव निःपापा । असत्तमस्तमायाः प्रभायाः प्रभावेण अल्पितं अल्पीकृतं भानुवैभवं सूर्यप्रभुत्वं येन, एवंविधस्त्वं जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । जयः परैरनभिभूयमानता प्रतापवृद्धिश्च इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

गुणास्तवाङ्कोदधिपारवर्तिनो,
मतिः पुनस्तच्छफरीव मामकी ।
अहो महाधार्ष्ट्यमियं यदीहते,
जडाशया तत्क्रमणं कदाशया ॥ ५० ॥

गुणा० हे नाथ ! तव गुणा अङ्कोदधेः अङ्कसमुद्रस्य पारवर्तिनः पारगामिनो वर्तन्ते । मामकी मतिः पुनः तच्छफरीव तस्य अङ्कोदधेर्मच्छीवद्वर्तते । युष्मदस्मदोऽञीनञौ यौष्माकास्माकं चैकत्वे तु तवकममकम् ( ) इति पदाञ्ञीप्रत्यये मामकी स्यात् । अहो इत्याश्चर्ये महाधार्ष्ट्यं

बृहद्भैर्यं इयं मतिर्यत् जडाशया मूर्खाभिप्राया सती तत्क्रमणं तेषां गुणानां क्रमणं आक्रमणं कदाशया ईहते वाञ्छति । यदि जलस्थिता मच्छी जलबहिर्गतं वस्तु ग्रहीतुमिच्छति तदा सा मूर्खैवेति भावः ॥ ५० ॥

मनोऽणु धर्त्तु न गुणांस्तवाखिलान्
न तद्धृतान्वक्तुमलं वचोऽपि मे ।
स्तुतेर्वरं मौनमतो न मन्यते,
परं रसज्ञैव गुणामृतार्थिनी ॥ ५१ ॥

मनो० हे नाथ! मे मम मनस्तव अखिलान् समस्तान् गुणान् धर्तुं नालं न समर्थः । किंलक्षणं मनः ? अणु सूक्ष्मम् । तद्धृतान् मनसा धृतान् गुणान् मे मम वचोपि वक्तुं नालं अतः कारणात् स्तुतेर्मौनं वरं भव्यम् । परं रसज्ञैव जिह्वैव च न मन्यते, किंलक्षणा रसज्ञा ? गुणामृतार्थिनी, गुणा औदार्यज्ञानाद्यास्तानेवामृतं अर्थयति वाञ्छयतीति गुणामृतार्थिनी, ॥५१॥

सुरद्रुमाद्यामुपमां स्मरन्ति यां,
जनाः स्तुतौ ते भुवनातिशायिनः ।
अवैमि तां न्यक्कृतिमेव वस्तुत-
स्तथापि भक्तिर्मुखरीकरोति माम् ॥ ५२ ॥

सुर० हे नाथ! जना लोकाः ते तव स्तुतौ सुरद्रुमाद्यां कल्पवृक्षाद्यां, यामुपमां स्मरन्ति कथयन्ति । किंविशिष्टस्य ते तव ? भुवनातिशायिनस्त्रिभुवनेऽधिकस्य । अहं तां स्तुतिं वस्तुतः परमार्थतो न्यक्कृतिं निंदामेव अवैमि जानामि, तथापि भक्तिर्मां मुखरीकरोति मम वाचालत्वं कुरुत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

अनङ्गरूपोऽप्यखिलाङ्गसुन्दरो,
रवेरदभ्रांशुभरोऽपि तारकः ।
अपि क्षमाभृन्न सकूटतां वह-
स्यपारिजातोऽपि सुरद्रुमायसे ॥ ५३ ॥

अन० हे नाथ! त्वं अनङ्गरूपोऽपि अखिलाङ्गसुन्दरः, सर्वाङ्गसुन्दरो वर्तसे, योऽनङ्गरूपः स्यात् सो अखिलाङ्गसुन्दरः कथं स्यात्? अत्र विरोधपरिहारमाह अनङ्गरूपः कन्दर्परूपः, अखिलाङ्गसुन्दरश्च । हे नाथ! त्वं रवेरदभ्रांशुभरोऽपि सूर्यादधिकतेजःपटलोऽपि तारकोऽपि । यो रवेरदभ्रांशुभरः स्यात् स तारकः कथम्? तारयतीति तारकः । त्वं क्षमाभृदपि पर्वतोऽपि सकूटतां सशिखरतां न वहसि । यः क्षमाभृत् स्यात्, स सकूटतां किं न वहति? क्षमां बिभर्तीति क्षमाभृत् । सकूटतां सालीकतां न वहसि । त्वं अपारिजातोऽपि सुरद्रुमायसे । योऽपारिजातः स्यात् स सुरद्रुमवत् कथमाचरति? अपगतं अरिजातं यस्य स अपारिजातः ॥ ५३ ॥

इदं हि षट्खण्डमवाप्य भारतं,
भवन्तमूर्जस्वलमेकदैवतम् ।
बिभर्ति षट्कोणकयंत्रसूत्रणां,
नृणां स्फुरत्पातकभूतनिग्रहे ॥ ५४ ॥

इदं हि० हे नाथ! हि निश्चितं इदं षट्खण्डभारतं भरतक्षेत्रं, कर्तृपदं । ऊर्जस्वलं बलवन्तं एकदैवतं भगवन्तं अवाप्य प्राप्य, नृणां मनुष्याणां स्फुरत्पातकभूतनिग्रहे, प्रसरत्पापरूपभूतस्य निर्घाटने षट्कोणकयन्त्रसूत्रणां बिभर्ति ।

कोऽर्थः ? भरतक्षेत्रेण परमदैवतं भगवन्तं अवाप्य प्राप्य नृणां मनुष्याणां लोकानां पापभूतनिग्रहे षट्खण्डरूपषट्कोणकयन्त्र-सूत्रणा समाश्रितेति भावः ॥ ५४ ॥

तपोधनेभ्यश्चरता वनाध्वना,
धनस्य भावे भवता धनीयता ।
अदीयताज्यं यदनेन कौतुकं,
तवैव शिश्राय वृषो वृषध्वज ॥ ५५ ॥

तपो० हे नाथ ! भवता त्वया वनाध्वना वनमार्गेण चरता धनस्य भावे धनसार्थवाहभावे, तपोधनेभ्यो यतिभ्यो यदाज्यं घृतं अदीयत दत्तम् । किं कुर्वता भवता ? धनीयता धनमिच्छता । तत् अनेनाज्येन हे वृषध्वज वृषो वृषभो लाञ्छनं यस्य स तस्य संबोधनम् । कौतुकं तवैव वृषो वृषभः पुण्यं वा, शिश्राय ववृधे । कोऽर्थः ? पात्रे दत्तेन धनेन धनसार्थवाहेन महत् पुण्यमर्जितं । उक्तं च "दानेन धन्यो धनसार्थवाहः, कर्मोत्तमं तीर्थकरस्य नाम । बबन्ध कर्मक्षयहेतुभूतं, दानं हि कल्याणकरं नराणाम्" ॥ १ ॥ ५५ ॥

भवे द्वितीये भुवनेश युग्मितां,
कुरुष्ववासे त्वयि किङ्करायितम् ।
मनीषितार्थक्रियया सुरद्रुमै-
र्जितैरिव प्राग्जननापवर्जनैः ॥ ५६ ॥

भवे० मत्तंगया य १ भिंगा २ तुडियंगा ३ दीव ४ जोइ ५ चित्तंगा ६ । चित्तरसा ७ मणियंगा ८ गेहागारा ९ अ णियणाय १० ॥ १ ॥ सरसमद्य १ मणिभाजन २ वाद्य ३ रत्न-

प्रदीप ४ तेजोमण्डल ५ चित्रकारिसुरभिपुष्प ६ विचित्रखाद्यभोज्य ७ मणिभूषण ८ निश्रेणिसोपानकलितविविधधवलगृहादिक ९ प्रधानवस्त्राणि १० एतैः पूर्णाः ये दशविधकल्पवृक्षास्तैः सुरद्रुमैर्मनीषितार्थक्रियया वाञ्छितार्थकरणेन हे भुवनेश ! द्वितीयभवे कुरुषु उत्तरकुरुषु युग्मितां युगलित्वं अवाप्ते प्राप्ते सति त्वयि विषये किङ्करायितं किङ्करवदाचरितम् । किंलक्षणैः सुरद्रुमैः ? उत्प्रेक्षते प्राग्जननापवर्जनैः पूर्वजन्मदानैर्जितैरिव ॥ ५६ ॥

सधर्म सौधर्मसुपर्वतां ततो-
ऽधिगत्य नित्यं स्थितिशालिनस्तव ।
सुराङ्गनाकोटिकटाक्षलक्ष्यता-
जुषोऽपि न धैर्यतनुत्रमत्रुटत् ॥ ५७ ॥

सधर्म० हे सधर्म सह धर्मेण वर्तते इति सधर्मः । ततस्तस्मात् युगलित्वतः सौधर्मदेवत्वं अधिगत्य प्राप्य तव धैर्यतनुत्रं धैर्यजगरं (कवचं) न अत्रुटत, नैव त्रुटितम् । किंविशिष्टस्य तव नित्यं निरंतरं स्थितिमर्यादा तया शालिनः शोभमानस्य । पुनः किंविशिष्टस्य ? सुराङ्गनाकोटिकटाक्षलक्ष्यताजुषोपि देवाङ्गनाकोटीनां कटाक्षाः तेषां लक्ष्यतां वेध्यतां सेवमानस्याऽपि ॥ ५७ ॥

महाबलक्ष्मापभवे यथार्थकी-
चकर्थ बोधैकबलाभिज्ञाभिधाम् ।
अखर्वचार्वाकवचांसि चूर्णय-
न्नयोघनानक्षरकोटकुट्टने ॥ ५८ ॥

महा० हे नाथ ! त्वं महाबलक्ष्मापभवे महाबलाख्यस्य राज्ञो भवे बोधैकबलात् बोधस्य प्रबोधस्यैकबलं बोधैकबलं तस्मात् निजाख्यं आत्मीयं नाम यथार्थकी चकर्थ सत्यार्थीकृतवान् ! किं कुर्वन् ? अखर्वाणि प्रौढानि चार्वाकवचांसि चूर्णयन्, (पुनः) किंविशिष्टानि (चार्वाक) वचांसि अक्षरकोटकुट्टने मोक्षदुर्गकुट्टने अयोघनान् लोहमुद्गरान् ॥ ५८ ॥

द्वितीयकल्पे ललिताङ्गतां त्वया,
गतेन वध्वा विरहे व्यलापि यत् ।
दरिद्रपुत्र्यै दयितुं तपःफलं,
तदन्यदर्था हि सतां क्रियाखिला ॥ ५९ ॥

द्वितीय० हे नाथ ! त्वया द्वितीयकल्पे ईशानदेवलोके ललिताङ्गतां ललितं सविलासं अङ्गं यस्य स ललिताङ्गस्तस्य भावो ललिताङ्गता ताम्, ललिताङ्गताख्यदेवत्वं वा । गतेन प्राप्तेन वध्वा विरहे यत् व्यलापि व्यलापः कृतः, तत् दरिद्रपुत्र्यै निर्नामिकायै तपःफलं दयितुं दातुं ज्ञेयम् । हि यस्मात् कारणात् सतां साधूनां अखिला समस्ता क्रिया अन्यदर्था अन्येषामुपकारहेतुं वर्तते, अत्र षष्ठीं 'तृतीयादन्याषष्ठ्यर्थे' ( ) इति व्याकरणसूत्रेण अन्यदर्था इति स्यात् ॥ ५९ ॥

स वज्रजङ्घो नृपतिर्भवन् भवा-
नवाप हालाहलधूमपायिताम् ।
यदङ्गजादङ्गजतस्ततस्तवा-
धुनापि विश्वासबहिर्मुखं मनः ॥ ६० ॥

स वज्र० हे नाथ! स भवान् वज्रजङ्घो नृपतिर्भवन् सन् यत् अङ्गजात् पुत्रात् हालाहलधूमपायितां विषसक्तधूमपानत्वं अवाप प्राप्तः । ततः तस्मात् कारणात् अधुनापि तव मनो अङ्गजतः कन्दर्पात् विश्वासबहिर्मुखं वर्तते । कोऽर्थः? अङ्गजशब्देन कन्दर्पः पुत्रोऽपि भण्यते, भवता वज्रजङ्घनृपभवे अङ्गजान्मरणं प्रापि, पश्चात्तीर्थकृद्भवे भगवन्मनो अङ्गजस्योपरि विश्वासरहितं जातमिति भावः ॥ ६० ॥

उपास्य युग्मित्वमथाद्यकल्पग-
सुधाशनीभूय भिषग् भवानभूत् ।
मुनेः किलासं व्यपनीय यः स्वकं,
कलाविलासं फलितं व्यलोकत ॥ ६१ ॥

उपास्य० हे नाथ! अथानन्तरं भवान् युग्मित्वं उपास्य संसेव्य, आद्यकल्पगसुधाशनीभूय प्रथमदेवलोके देवो भूत्वा, भिषग् वैद्योऽभूत् । यो भिषग् वैद्यो मुनेः किलासं कुष्ठरोगं व्यपनीय स्फेटयित्वा स्वकं आत्मीयं कलाविलासं कलासमूहं फलितं सफलं व्यलोकत अपश्यत् ॥ ६१ ॥

अथेयिवानच्युतनाकिधाम चेत्
अवातरस्तत्किमिह प्रभोऽथवा ।
लयं लभन्ते विबुधा हि नाभिधा-
गुणेषु यत्ते परमार्थदृष्टयः ॥ ६२ ॥

अथे० अथानन्तरं हे प्रभो! चेत् यदि त्वं अच्युतनाकिधाम अच्युतदेवलोकं ईयिवान् गतः । तत् इह पृथिव्यां किं अवातरः अवतीर्णः । अथवा विबुधा देवा विद्वांसो वा अभिधा नाम

तस्या गुणेषु लयं विश्रामं न लभन्ते । यत् यस्मात् कारणात् ते विबुधाः परमार्थदृष्टयो दीर्घदर्शिनो वर्तन्ते । कोऽर्थः ? न विद्यते च्युतं च्यवनं यत्र तत् अच्युतं नाकिधाम स्वर्गं गतस्तत्कथमत्रावतीर्णः, परमिन्द्रगोपवत् तन्नाममात्रमेवेति त्वं तत् त्यक्तवानिति भावः ॥ ६२ ॥

निरीक्ष्य तां तीर्थकृतः पितुः श्रियं,
न चक्रिसम्पद्यपि तोषमीयुषा ।
तदर्थमेव प्रयतं ततस्त्वया,
त्रपा हि तातोनतया सुसूनुषु ॥ ६३ ॥

निरीक्ष्य० ततस्ततोऽनन्तरं हे नाथ ! त्वया तदर्थमेव तीर्थंकरश्रीनिमित्तमेव प्रयतं उपक्रान्तम् । किंविशिष्टेन त्वया ? तीर्थकृतः तीर्थंकरस्य पितुस्तां श्रियं लक्ष्मीं निरीक्ष्य दृष्ट्वा चक्रिसम्पद्यपि चक्रवर्तिलक्ष्म्यामपि तोषं हर्षं न ईयुषा न प्रासवता । हि निश्चितं सुसूनुषु सत्पुत्रेषु तातोनतया तातात् हीनतया त्रपा लज्जा वर्तते । कोऽर्थः ? वज्रसेनस्य तीर्थंकरस्य वज्रनाभः पुत्रश्चक्रीजातस्तेन च चक्रित्वं विहाय संयमं गृहीत्वा विंशतिस्थानकैस्तीर्थकरनाम उपार्जितम् । अतश्चक्रिलक्ष्म्यास्तीर्थकरलक्ष्मीरधिकेति भावः ॥ ६३ ॥

ससीमसर्वार्थविमानवासिनः,
शिवश्रियाः सङ्गमिच्छतोऽपि ते ।
अभूद्विलम्बस्तदसंस्तुते जने,
रिरंसया को न दधाति मन्दताम् ॥ ६४ ॥

ससीम० हे नाथ ! ते तव ससीमासन्नसर्वार्थविमानवासिनः

सतः शिवश्रिया मोक्षलक्ष्म्याः सङ्गमं मिलनमिच्छतोऽपि यद्विलम्बोऽभूत् । तत् असंस्तुते अपरिचिते, जने रिरंसया रन्तुमिच्छया मन्दतां जडतां को न दधाति, अपि तु सर्वकोऽपि दधात्येव ॥ ६४ ॥

ध्रुवं शिवश्रीस्त्वयि रागिणी यत-
स्तटस्थितस्यापि भविष्यदीशितुः ।
असंस्पृशन्मारविकारजं रजः,
स्वसौख्यसर्वस्वमदत्त ते चिरम् ॥ ६५ ॥

ध्रुवं० हे नाथ ! ध्रुवं निश्चितं शिवश्रीः मोक्षलक्ष्मीस्त्वयि विषये रागिणी अनुरागवर्ती वर्तते, यतो यस्मात् कारणात्, ते तव तटस्थितस्यापि आसन्नस्थितस्यापि चिरं चिरकालं स्वसौख्यसर्वस्वं आत्मीयसुखसर्वस्वं अदत्त । किंलक्षणस्य ते ? भविष्यदीशितुर्भाविभर्तुः । किं कुर्वन् ? स्वसौख्यसर्वस्वं मारविकारजं रजः विषयविकाराद्युत्पन्नरजः पापं धूलिं वा असंस्पृशत् ॥ ६५ ॥

अवाप्य सर्वार्थविमानमंतिकी-
भवत्परब्रह्मपदस्तदध्वगः ।
यदागमस्त्वं पुनरत्र तद्ध्रुवं,
हितेच्छया भारतवर्षदेहिनाम् ॥ ६६ ॥

अवाप्य० हे नाथ ! त्वं सर्वार्थविमानं अवाप्य प्राप्य, यत्पुनरत्रागमः अत्रागतः । किंविशिष्टस्त्वं अन्तिकीभवत्परब्रह्मपदः समीपीभवन्मोक्षपदः । पुनः किंविशिष्टस्त्वम् ? तदध्वगस्तस्य मोक्षस्य पथिकः । तत् ध्रुवं निश्चितं भारतवर्षदेहिनां

भरतक्षेत्रसत्कप्राणीनां हितेच्छया भुक्तिमुक्तिदानार्थमित्यर्थः। त्वं सर्वार्थविमानादेव आसन्नत्वेऽपि मुक्तिं न गतः, किन्तु लोकहितेच्छयैवात्रावतीर्ण इति भावः ॥ ६६ ॥

तदेव भूयात्प्रमदाकुलं कुलं,
महीमहीनत्वमुपासिषीष्ट ताम् ।
क्रियाज्जनं स्वस्तुतिवादिनं दिनं,
तदेव देवाऽजनि यत्र ते जनिः ॥ ६७ ॥

तदेव० हे नाथ! तदेव कुलं प्रमदेन हर्षेणाकुलं व्याप्तं भूयात् । अहीनत्वं संपूर्णत्वं कर्तृपदं तां महीं पृथ्वीं उपासिषीष्ट सेविषीष्ट । तदेव दिनं जनं लोकं स्वस्तुतिवादिनं स्वकीयश्लाघाकर्तारं क्रियात्, तद्दिनस्य महामहोत्सवमयत्वात् । हे देव! हे स्वामिन्! यत्र कुले यत्र मह्यां यत्र दिने ते तव जनिर्जन्म अजनि जातम् ॥ ६७ ॥

अमी धृताः किं पविचक्रवारिजा-
सयः शये लक्षणकोश! दक्षिणे ।
शचीशचक्र्यच्युतभूपसंपद-
स्त्वया निजोपासकसाच्चिकीर्षता ॥ ६८ ॥

अमी० हे लक्षणकोश! प्रासादपर्वतशुकांकुशसुप्रतिष्ठपद्माभिषेकयवदर्पणचामराणीत्यादि अष्टोत्तरसहस्राणां लक्षणानां कोश! हे भाण्डागार! त्वया शचीश इन्द्रः, चक्री चक्रवर्ती, अच्युतो वासुदेवः, भूपो राजा, तेषां सम्पदो लक्ष्मीः, निजोपासकसात् स्वकीयसेवकायत्ताश्चिकीर्षता कर्तुमिच्छता सता । 'आयत्ते सात्' ( ) इति सूत्रेण सातप्रत्ययः,

दक्षिणे शये हस्ते पविचक्रवारिजासयः पविर्वज्रम्, चक्रं, वारिजः, शंखः, असिः खड्गः, अमी किं धृताः । वज्रमिन्द्रपदवीदानायेत्यादिभावः ॥ ६८ ॥

सदंभलोभादिभटव्रजस्त्वया,
स्वसंविदा मोहमहीपतौ हते ।
स्वयं विलाता, घनवारिवारिते,
दवे न हि स्थेमभृतः स्फुलिंगकाः ॥ ६९ ॥

सदंभ० हे नाथ ! त्वया स्वसंविदा आत्मीयज्ञानेन मोहमहीपतौ मोहभूपे हते सति सदंभलोभादिभटव्रजः, मायालोभक्रोधमानमदनादिसुभटसमूहः, स्वयं आत्मनैव विलाता विलयं यास्यति, 'लीङ्च श्लेषणे' धातोर्विपूर्वकस्य लीङ्लिनोर्वा (सि० हे० ४।२।६) इति सूत्रेण लास्यते । हि यस्मात् कारणात् घनवारि मेघजलं तेन दवे वारिते सति स्फुलिङ्गकाः स्थेमभृतः स्थैर्यधारिणो न हि वर्तन्ते ॥ ६९ ॥

इषुः सुखव्यासनिरासदा सदा,
सदानवान् यस्य दुनोति नाकिनः ।
स्मरो भवद्ध्यानमये विभावसा-
वसावसारेध्मदशां गमिष्यति ॥ ७० ॥

इषुः० यस्य स्मरस्य कंदर्पस्य इषुर्बाणः सदा सदानवान् दानवसहितान् नाकिनो देवान् दुनोति पीडयति, इषुशब्दः स्त्रीलिंगो ज्ञेयः । किंलक्षणा इषुः ? सुखव्यासनिरासदा, सुखस्य व्यासो विस्तारः तस्य निरासं निराकरणं ददाति सुखव्यासनिरासदा । हे नाथ ! असौ स्मरः कामः भवद्ध्यानमये,

भवतस्तव ध्यानं निर्विषयं मन इत्येवंरूपे ध्यानमये विभावसौ वैश्वानरे इध्मदशां निःसारेन्धनस्य दशां अवस्थां गमिष्यति यास्यति ॥ ७० ॥

परं न हि त्वत्किमपीह दैवतं,
तवाभिधानान्न परं जपाक्षरम् ।
न पुण्यराशिस्त्वदुपासनात्पर-
स्तवोपलंभान्न परास्ति निर्वृतिः ॥ ७१ ॥

परं न० हे नाथ! त्वदपरं त्वत्तो अन्यत् इह जगति किमपि दैवतं नास्ति, त्रिभुवनजनपूज्यत्वात् । इह तव अभिधानात् तव नामतोऽपरं जपाक्षरं नास्ति, वाग्मनोङ्गैः शुद्धत्वात् । इह तवोपलंभात् उपलक्षणात् परा अन्या निर्वृतिर्मोक्षो नास्ति वीतरागं विना नैव मुक्तिरित्यर्थः ॥ ७१ ॥

तव हृदि निवसामीत्युक्तिरीशे न योग्या
मम हृदि निवस त्वं नेति नेता नियम्यः ।
न विभुरुभयथाहं भाषितुं तद्यथार्हं
मयि कुरु करुणार्हे स्वात्मनैव प्रसादम् ॥ ७२ ॥

तव० हे नाथ! अहं तव हृदि हृदये निवसामि इति उक्तिर्जल्पनं, ईशे स्वामिनि न योग्या । त्वं मम हृदि निवस निवासं कुरुत, इति अमुना प्रकारेण नेता स्वामी न नियम्यः न नियंत्रणीयः, यो नेता स्यात् सोऽपरं सेवकादि नियंत्रयति, न तु सेवका नेतारम् । अहं उभयथापि द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्यां भाषितुं जल्पितुं न विभुर्न समर्थः । तत् तस्मात् कारणात्

हे स्वामिन्! 'परदुःखनिरासिनी भवेत् करुणा' ईदृग् करुणार्हे कृपायोग्ये मयि स्वात्मनैव स्वयमेव प्रसादं कुरु ॥ ७२ ॥

इति स्तुतिभिरान्तरङ्गं विनयमानयन्वैबुधे
प्रतीतिविषयं गणेऽनणुधियां धुरीणो हरिः ।
प्रसन्ननयनेक्षणैर्भगवता सुधासोदरै-
रसिच्यत सुधाशनैरपि च साधुवादोर्मिभिः ॥७३॥

इति० हरिरिन्द्रः भगवता श्रीऋषभस्वामिना प्रसन्ननयनेक्षणैः सप्रसादलोचनावलोकनैरसिच्यत सिक्तः । किंलक्षणैर्नयनेक्षणैः ? सुधासोदरैरमृतसदृशैः । च अन्यत् । सुधाशनैरपि देवैरपि, साधुवादोर्मिभिः श्लाघारूपकल्लोलैरसिच्यत, किं कुर्वन् हरिः ? इति पूर्वोक्तमहामुनीनामपि गीरगोचरेत्यादिचतुर्विंशतिकाव्यरूपस्तुतिभिरान्तरङ्गं विनयं वैबुधे गणे देवसमूहे प्रतीतिविषयं आनयन् प्रत्ययगोचरं प्रापयन् । पुनः किंविशिष्टो हरिः ? अनणुधियां गुरुबुद्धीनां धुरीणो धुर्यः ॥ ७३ ॥

इति श्रीअञ्चलगच्छे कविचक्रवर्तिश्रीजयशेखरसूरिविरचित-
श्रीजैनकुमारसंभवमहाकाव्यस्य तच्छिष्यश्रीधर्मशेखरसूरि-
विरचितटीकायां श्रीमाणिक्यसुन्दरसूरिशोधितायां
द्वितीयसर्गव्याख्या ॥ इति ॥ २ ॥

॥ अथ तृतीयः सर्गः प्रारभ्यते ॥

अथ प्रसादाभिमुखं त्रिलोका-
धिपस्य पश्यन्मुखमुग्रधन्वा ।
अवाप्तवारोचितरोचितश्रि,
वचः पुनः प्रास्तुत वक्तुमेवं ॥ १ ॥

अथ० अथानन्तरं उग्रधन्वा इन्द्रः एवं वचः पुनर्वक्तुं जल्पितुं प्रास्तुतं प्रारब्धवान् । किं कुर्वन् इन्द्रः ? त्रिलोकाधिपस्य श्रीआदिदेवस्य मुखं प्रसादाभिमुखं प्रसादस्य अभिमुखं प्रसादं कर्तुकाममिव पश्यन् । किंलक्षणं वचः ? अवाप्तवारोचितरोचितश्रि, अवाप्तवारं प्राप्तावसरं अत एव उचितां युक्तां रोचितां रुचिं प्राप्ता श्रीः शोभा यस्य तत् अवाप्तवारोचितरोचितश्रि ॥ १ ॥

स्वयं समस्तान्न न वेत्सि भावां-
स्तथाप्यसौ त्वां प्रति मे प्रजल्पः ।
इयर्तु मेघंकरमारुतत्त्व-
मुदेष्यतः कालबलाद्घनस्य ॥ २ ॥

स्वयं० हे नाथ ! स्वयं समस्तान् भावान् न न वेत्सि ! न न जानासि अपि तु जानास्येव । तथापि असौ त्वां प्रति मे मम प्रजल्पः घनस्य मेघस्य, मेघंकरमारुतत्वं इयर्तु गच्छतु, 'मेघर्तिभयाभयात् खः' (सि० हे० ५।१।१०६) इति सूत्रेण खप्रत्यये खित्यनव्ययारुषोर्मोन्तो ह्रस्वश्च (सि० हे० ३।२।१११) इति मागमे मेघङ्कर इति सिद्धम् । किं करिष्यतो घनस्य ? कालबलादुदेष्यत उदयं प्राप्स्यतः ॥ २ ॥

साधारणस्ते जगतां प्रसादः,
स्वहेतुमूहे तमहं तु हन्त ।
हृद्यो न कस्येन्दुकलाकलापः,
स्वात्मार्थमभ्यूहति तं चकोरः ॥ ३ ॥

साधारण० हे नाथ! ते तव प्रसादो जगतां विश्वानां साधारणः सदृशो वर्तते । तु पुनः, अहं, हन्त इति वितर्के, तं प्रसादं स्वहेतुं आत्मनिमित्तं ऊहे विचारयामि । इन्दुकलाकलापश्चन्द्रस्य कलासमूहः कस्य न हृद्यो नाभीष्टः, अपि तु सर्वस्यैव । चकोरस्तं इन्दुकलाकलापं स्वात्मार्थं अभ्यूहति विचारयति ॥ ३ ॥

भवन्तु मुग्धा अपि भक्तिदिग्धा,
वाचो विदग्धाग्र्य! भवन्मुदे मे ।
अश्मापि विस्मापयते जनं किं,
न स्वर्णसंवर्मितसर्वकायः ॥ ४ ॥

भवन्तु० हे विदग्ध्याग्र्य हे विद्वन्मुख्य! मे मम, वाचो मुग्धा अपि, भवन्मुदे तव हर्षाय भवन्तु । किंलक्षणा वाचः? भक्तिदिग्धा भक्त्या लिप्ताः। अश्मापि पाषाणोऽपि स्वर्णसंवर्मितसर्वकायः सुवर्णेन संवर्मित (सर्वकायः) वेष्टितसर्वकायः वेष्टितसर्वाङ्गः सन्, जनं लोकं किं न विस्मापयते? सविस्मयं न करोति । अपि तु करोत्येव ॥ ४ ॥

जडाशया गा इव गोचरेषु,
प्रजा निजाचारपरंपरासु ।

प्रवर्तयन्नक्षतदंडशाली,
भविष्यसि त्वं स्वयमेव गोपः ॥ ५ ॥

जडा० हे नाथ ! त्वं गोपो राजा गोपालो वा स्वयमेव भविष्यसि । किं कुर्वन् ? प्रजा लोकान् निजाचारपरंपरासु प्रवर्तयन् । का इव ? यथा गोपो धेनूः गोचरे प्रवर्तयति । किंलक्षणाः प्रजाः ? जडाशया मूर्खाभिप्रायाः । गाः किंलक्षणाः ? जले आशयो यासां ताः । किंलक्षणो गोपः ? अक्षतदण्डशाली, दंडः सैन्यं पक्षे लकुटो वा तेन शोभी ॥ ५ ॥

कलाः समं शिल्पकुलेन देव,
त्वदेवलब्धप्रभवा जगत्याम् ।
क नो भविष्यन्त्युपकारशीलाः,
शैलात्सरत्ना इव निर्झरिण्यः ॥ ६ ॥

कलाः० हे स्वामिन् ! कला गीतनृत्यवादित्राद्या द्वासप्ततिसंख्याः । कुंभकार १ लोहकार २ चित्रकार ३ वानकर ४ नापित ५ शिल्पानां पञ्चानामपि पृथक् २ विंशति २ भेदाः स्युः एवं शिल्पशतं स्यात्, ईदृक् शिल्पकुलेन समं जगत्यां पृथ्व्यां क उपकारशीला उपकारस्वभावाः न भविष्यन्ति अपि तु सर्वत्र भविष्यन्ति । किंविशिष्टाः कलाः ? त्वदेव त्वत्सकाशादेव, लब्धः प्रभव उत्पत्तिर्याभिस्तास्त्वदेव० । का इव ? सरत्ना निर्झरिण्य इव । यथा शैलात् पर्वतात् लब्धप्रभवा रत्नसहिता नद्यः क उपकारशीला न भवन्ति, अपि तु सर्वत्र भवन्त्येव ॥ ६ ॥

त्वदागमांभोनिधितः स्वशक्त्या-
ऽऽदायोपदेशांबुलवान् गभीरात् ।
घना विधास्यंत्यवनीवनीस्थान्,
विनेयवृक्षानभिवृष्य साधून् ॥ ७ ॥

त्वदा० घना लोका मेघा वा गभीरात् त्वदागमांभोनिधितः त्वदीयागमसमुद्रतः उपदेशाम्बुलवान् स्वशक्त्या आदाय गृहीत्वा विनेयवृक्षान् शिष्यवृक्षानभिवृष्य सिक्त्वा, साधून् निर्ग्रन्थान् मनोज्ञान् वा, करिष्यन्ति । किंलक्षणान् विनेयवृक्षान् ? अवनीवनीस्थान् पृथ्वीरूपमहावनस्थितान् । मेघाः समुद्राज्जलं गृह्णन्ति इति लोकरूढिः ॥ ७ ॥

भवद्वयेऽप्यक्षयसौख्यदाने,
यो धर्मचिन्तामणिरस्त्यजिह्मः ।
प्रमादपाटच्चरलुंट्यमानं,
त्वमेव तं रक्षितुमीशितासे ॥ ८ ॥

भवद्वये० हे नाथ ! यो धर्मचिंतामणिर्भवद्वयेऽप्यक्षय अविनश्वरसौख्यदाने अजिह्मः सोद्यमोऽस्ति । त्वमेव तं धर्मचिंतामणिं प्रमादपाटच्चरतस्करलुंट्यमानं रक्षितुं ईशितासे समर्थो भविष्यसि ॥ ८ ॥

तद्गेहिधर्मद्रुमदोहदस्य,
पाणिग्रहस्यापि भव त्वमादिः ।
न युग्मिभावे तमसीव मग्नां,
महीमुपेक्षस्व जगत्प्रदीप ! ॥ ९ ॥

तद्गेहि० हे नाथ! तत् तस्मात् कारणात् त्वं पाणिग्रहस्यापि आदिः प्रथमो भव। किंविशिष्टस्य पाणिग्रहस्य? गेहिधर्मद्रुमदोहदस्य गृहस्थधर्म एव द्रुमो वृक्षः तस्य दोहदसदृशो यथा दाडिमीमुख्यानां धूमपानादि दोहदेन पूरितेन सश्रीकता सफलता स्यात्, तथात्रापि ज्ञेयम्। हे जगत्प्रदीप! महीं पृथ्वीं न उपेक्षस्व, किंलक्षणां महीम्? तमसि अन्धकार इव युग्मिभावे युगलिधर्मे मग्नां ब्रुडिताम् ॥ ९ ॥

वितन्वता केलिकुतूहलानि,
त्वया कृतार्थीकृतमेव बाल्यम्।
विना विवाहेन कृपामपश्य-
त्तवाद्य न म्लायति यौवनं किम् ॥ १० ॥

वितन्वता० हे नाथ! त्वया केलिकुतूहलानि केलिर्जलक्रीडा, कुतूहलानि गीतनृत्यनाटकादीनि कुर्वता बाल्यं बालत्वं कृतार्थीकृतमेव सफलीकृतमित्यर्थः, अद्य यौवनं किं न म्लायति न ह्रियात्। अपि तु म्लायत्येव। किं कुर्वन् यौवनम्? विवाहेन विना तव कृपां अपश्यत् ॥ १० ॥

दृष्ट्वा जगत्प्राणहृतोऽपि सर्व-
सेहे स्वहेतीस्त्वयि नाथ! मोघाः।
अनङ्गतां कामभटोऽस्य मुख्यः,
सखा विषादानुगुणां दधाति ॥ ११ ॥

दृष्ट्वा० हे नाथ! कामभटोऽपि कंदर्पयोधोऽपि विषादानुगुणं विषादस्य योग्यां अनंगतां अङ्गरहितत्वं दधाति। किंविशिष्टः कामभटः? अस्य यौवनस्य मुख्यः अग्रणीः सखा मित्रम्।

किं कृत्वा ? सर्वंसहे त्वयि विषये स्वहेतीः प्रहरणानि मोघा निष्फला दृष्ट्वा, किंलक्षणाः स्वहेतीः ? जगत्प्राणहृतोऽपि विश्वजीवितं हरंतीति जगत्प्राणहृतः ॥ ११ ॥

मधुर्वयस्यो मदनस्य मूर्च्छां,
मत्वा ममत्वाद्विषमां विषण्णः ।
तनोत्ययाची पवनानखंड-
श्रीखंडखंडप्लवनाप्तशैत्यान् ॥ १२ ॥

मधु० वयस्यो मित्रं मधुर्वसन्तो मदनस्य कामस्य विषमां मूर्च्छां मत्वा ज्ञात्वा ममत्वान्मोहाद् अयाची दक्षिणदिक् पवनान् तनोति विस्तारयति । किंलक्षणो मधुः ? विषण्णो विषादी । किंविशिष्टान् पवनान् ? अखंडश्रीखंडखंडप्लवनाप्तशैत्यान् अखण्डेषु संपूर्णेषु श्रीखण्डानां खण्डेषु चन्दनानां वनेषु प्लवनेनाप्तं प्राप्तं शैत्यं शीतत्वं यैस्ते अखण्डश्रीखण्डखण्डप्लवनाप्तशैत्याःस्तान् ॥ १२ ॥

मत्वा मधोर्मित्रशुचा प्रियस्या-
मनस्यमाक्रन्दत यद्वनश्रीः ।
तदत्र किं कज्जलविज्जलाश्रु-
कणाः स्फुरंत्युल्ललितालिदंभात् ॥ १३ ॥

मत्वा० तद्वनश्रीराक्रन्दत तारस्वरेण विललाप । किं कृत्वा ? प्रियस्य वल्लभस्य मधोर्वसन्तस्य मित्रस्य शुचा शोकेन आमनस्यं दुःखं मत्वा ज्ञात्वा । तत्, अत्र अस्यां लोचनश्रियां उल्ललितालिदंभात् उच्छलितभ्रमरमिषात्, किं कज्जलविज्जलाश्रुकणाः, कज्जलकलुषाश्रुबिन्दवः स्फुरन्ति प्रसरन्ति ॥ १३ ॥

ये सेवकाश्चास्य पिकाः स्वभर्तु-
दुःखाग्निना तेऽप्यलभंत दाहम् ।
किमन्यथा पल्लवितेऽपि कक्षे,
तदंगमंगारसमत्वमेति ॥ १४ ॥

ये० च अन्यत् अस्य मधोर्वसन्तस्य सेवका ये पिकाः कोकिला वर्तन्ते, तेऽपि स्वभर्तुर्वसन्तस्य दुःखाग्निना दाहं अलभन्त प्राप्तवन्तः । अन्यथा पल्लवितेऽपि कक्षे वने तदंगमंगारसमत्वं तेषां पिकानां अंगं तदंगं अङ्गारसदृशत्वं किं एति गच्छति? ॥ १४ ॥

तनोषि तत्तेषु न किं प्रसादं,
न सांयुगीना यदमी त्वयीश ।
स्याद्यत्र शक्तेरवकाशनाशः,
श्रीयेत शूरैरपि तत्र साम ॥ १५ ॥

तनोषि० हे ईश! त्वं तत् तस्मात् कारणात् तेषु यौवनादिषु किं प्रसादं न तनोषि न करोषि? । यदमी यौवनादयस्त्वयि सांयुगीना रणे साधवो न वर्तन्ते । यत्र शक्तेरवकाशनाशः स्यात्, शूरैः सुभटैरपि तत्र साम साम्यगुणः श्रीयेत आश्रीयेत् ॥ १५ ॥

शठौ समेतौ दृढसख्यमेतौ,
तारुण्यमारौ कृतलोकमारौ ।
भेत्तुं यतेतां मम जातु चित्त-
दुर्गं महात्मन्निति मास्म मंस्थाः ॥ १६ ॥

शठौ० हे महात्मन् ! त्वं इति मास मंस्था इति मा जानीहि । इतीति किम् ? एतौ तारुण्यमारौ यौवनकंदर्पौ जातु कदाचिदपि मम चित्तदुर्गं भेत्तुं यतेतां उपक्रामतः । किंलक्षणौ तारुण्यमारौ ? शठौ धूर्तौ, पुनः किंविशिष्टौ ? दृढसख्यं गाढमैत्र्यं यथा भवति तथा समेतौ मिलितौ । पुनः किंविशिष्टौ ? कृतलोकमारौ कृता लोकानां माराः संसारभ्रमणरूपा याभ्यां तौ कृतलोकमारौ ॥ १६ ॥

हत्वा विवेकांबकबोधमंधी-
भूतं जगत्पातयदाधिगर्ते ।
तावत्तव ज्ञानविभाकरस्य,
तन्वीत तारुण्यतमो न मोहम् ॥ १७ ॥

हत्वा० हे नाथ ! तावत् तारुण्यतमः यौवनान्धकारं तव ज्ञानविभाकरस्य ज्ञानरूपसूर्यस्य मोहं न तन्वीत न कुर्वीत । किं कुर्वत्तारुण्यतमः ? विवेकांबकबोधं विवेकलोचनज्ञानं हत्वा अन्धीभूतं जगद्विश्वं आधि असमाधि गर्ते विवरे पातयत्, यथा गर्ताशब्दस्तथा गर्तशब्दोऽपि ज्ञेयः ॥ १७ ॥

ब्रह्मास्त्रभाजः कुसुमास्त्रयोधी,
मारोऽपि किं ते घटते विरोधी ।
विरोत्स्यते वा खलु तद्बहूक्त्या,
भोक्ता बलिस्पर्धफलं स्वयं सः ॥ १८ ॥

ब्रह्मा० हे नाथ ! मारोऽपि कन्दर्पोऽपि ते तव विरोधी किं घटते ? अपि तु न घटते । किंविशिष्टस्य तव ? ब्रह्मास्त्रभाजः ब्रह्मज्ञानरूपं अस्त्रं भवतीति ब्रह्मास्त्रभाक्, तस्य

ब्रह्मास्त्रभाजः । ब्रह्मास्त्रशब्देन अस्खलितशस्त्रमुच्यते, उक्तं च 'केनापि स्खलितुं यन्न शक्यते क्वापि सर्वथा । तद्ब्रह्मास्त्रं परिज्ञेयं यथा चक्रं हि चक्रिणः' । किंलक्षणो मारः ? कुसुमास्त्रयोधी कुसुमायुधेन पुष्पायुधेन युध्यतीति कुसुमास्त्रयोधी । अथवा विरोत्स्यते यदि विरोधं करिष्यति तद्बह्वक्त्या खलु पूर्यताम् । स मारः बलिस्पर्धफलं बलवता सह स्पर्धायाः फलं स्वयं भोक्ता भोक्ष्यति, यथा स्पर्धाशब्दस्तथा स्पर्धशब्दोऽपि ज्ञेयः ॥ १८ ॥

यया दृशा पश्यसि देव ! रामा,
इमा मनोभूतरवारिधाराः ।
तां पृच्छ पृथ्वीधरवंशवृद्धौ,
नैताः किमंभोधरवारिधाराः ॥ १९ ॥

यया० हे देव ! यया दृशा अभिप्रायरूपया इमा रामाः स्त्रियो मनोभूतरवारिधाराः कन्दर्पसत्कखड्गधाराः पश्यसि, तां दृशं पृच्छ, एताः स्त्रियः पृथ्वीधरवंशवृद्धौ पृथ्वीधराणां राज्ञां वंशा अन्वयाः, पक्षे पर्वतानां वंशास्तेषां वृद्धौ वृद्ध्यर्थं किं अंभोधरवारिधारा मेघसत्कजलधारा न वर्तन्ते ? तु वर्तन्त एव ॥ १९ ॥

नयस्य वश्यः किमु संग्रहस्य,
स्त्रैणं चलं ध्यायसि सर्वमीश ।
कोशातकीकल्पलते लतासु,
दृष्टाश्च विश्वं व्यवहारसारम् ॥ २० ॥

नयस्य० हे ईश ! त्वं संग्रहनयस्य वश्यः सन् सर्वं स्त्रैणं

स्त्रीसमूहं चलं चंचलं किमु किं ध्यायसि ? यथा किंशब्दस्तथा किमुशब्दोऽप्यस्ति । नैगम १ संग्रह २ व्यवहार ३ ऋजुसूत्र ४ शब्द ५ समभिरूढ ६ एवंभूतेषु ७ सप्तनयेषु संग्रहनयलक्षणमिदम्—'सद्रूपतानतिक्रान्तः, स्वस्वभावमिदं जगत् । सत्त्वरूपतया सर्वं संगृह्णन् संग्रहो मतः' । यत् सर्वा अपि स्त्रियश्चपलस्वभावा इति, त्वं लतासु वल्लीसु कोशातकीकल्पलते घींसोटिका-कल्पवल्ल्यौ दृष्ट्वा विश्वं व्यवहारसारं अञ्च जानीहि, 'अंचू गतौ च' परं सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थे इति ज्ञेयं । एवं स्त्रियो हि काश्चिद्भव्याः काश्चिन्न भव्याश्च । व्यवहारलक्षणं चेदम्—'व्यवहारस्तु तामेव प्रतिवस्तु व्यवस्थितां । तथैव दृश्यमानत्वात् व्यापारयति देहिनः' इति ॥ २० ॥

किं शंकसे दारपरिग्रहेण ?,
विरागतां निर्वृतिनायिकायाः ।
प्रभुः प्रभूतेऽप्यवरोधने स्या-
न्नागःपदं लुम्पति न क्रमं चेत् ॥ २१ ॥

किं० हे नाथ ! त्वं दारपरिग्रहेण कलत्रादरणेन निर्वृतिनायकायाः मुक्तिस्त्रियाः विरागतां नीरागत्वं, किं शंकसे ? प्रभुः स्वामी प्रभूते प्रचुरेऽप्यवरोधने अन्तःपुरे आगःपदं अपराधस्थानं न भवति, चेत् यदि, क्रमं न लुंपति । सांप्रतं पाणिग्रहणं कुरु क्रमेण पश्चात्तामपि भजेरिति भावः ॥ २१ ॥

अद्यापि नाथः किमसौ कुमारो,
निष्कन्यकं किं व रिवर्त्यवन्याम् ।

भृत्योऽतरंगोऽस्य हरिर्विचेता,
यथावरं वेत्ति न यौवनं यः ॥ २२ ॥
इत्थं मिथः पार्षदनिर्जराणां,
कथाप्रथाः कर्णकटूर्निपीय ।
तेषां प्रदाने प्रबलोत्तरस्य,
दरिद्रितोऽहं त्वयि नायकेऽपि ॥२३॥ युग्मम् ॥

अद्यापि० हे नाथ ! अहं त्वयि नायकेऽप्यधिपतौ सति तेषां सभ्यदेवानां प्रबलोत्तरस्य प्रदाने दरिद्रितो दरिद्रो जातः । किं कृत्वा ? इत्थं अमुना प्रकारेण पार्षदनिर्जराणां सभ्यदेवानां मिथः परस्परं कर्णकटूः कथाप्रथा वार्ताविलासान् निपीय पीत्वा इत्थमिति किम् ? ॥ २२ ॥ अद्यापि असौ नाथः किं कुमारः अपरिणीतः, किं अवन्यां पृथ्व्यां निःकन्यकं कन्यकानां अभावो वा वरीवर्ति, अस्य भगवतोऽतरंगभृत्यः सेवको हरिरिन्द्रः किं विचेता अचेतनो वर्तते, यो हरिरस्य स्वामिनो यथावरं गत्वरं यौवनं न वेत्ति ? न जानाति । यथावरमिति निपातः ॥ २३ ॥

वयस्यनंगस्य वयस्यभूते,
भूतेशरूपेऽनुपमस्वरूपे ।
पदींदिरायां कृतमन्दिरायां,
को नाम कामे विमनास्त्वदन्यः ॥ २४ ॥

वय० नाम इति कोमलामंत्रणे । हे भूतेश ! भूतानां प्राणिनां ईशः भूतेशस्तस्य संबोधने हे भूतेश ! त्वदन्यस्त्वत्तः परः कः पुमान् कामे कंदर्पे विमना विमुखो वर्तते ? क्व सति ? वयसि यौवने अनंगस्य कामस्य वयस्यभूते मित्रसदृशे

सति, पुनः क्व सति ? रूपे अनुपमसर्वोत्तमस्वरूपे सति ?। पुनः क्व सत्यां ? इंदिरायां लक्ष्म्यां पदि चरणे कृतमंदिरायां सत्यां त्वच्चरणयोर्लक्ष्मीवसतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

जाने न किं योगसमाधिलीन !,
विषायते वैषयिकं सुखं ते ।
तथापि संप्रत्यनुषक्तलोक !,
लोकस्थितिं पालय लोकनाथ ॥ २५ ॥

जाने० हे योगसमाधिलीन ! अहं एवं किं न जाने ? अपि तु जाने । ते तव वैषयिकं सुखं विषायते विषवदाचरति, तथापि हे संप्रत्यनुषक्तलोक संप्रत्यधुना अनुषक्त आश्रितो लोको जनो येन स अनुषक्तलोकः तस्य संबोधनं क्रियते हे संप्रत्यनुषक्तलोक हे लोकनाथ लोका विश्वं तस्य नाथः लोकनाथः तस्य संबोधनं हे लोकनाथ ! लोकस्थितिं पाणिग्रहणादि रूपां मर्यादां पालय ॥ २५ ॥

त्वयैव याऽभूत् सहभूरभूमि-
स्तमोविलासस्य सुमंगलेति ।
राकेव सा केवलभास्वरस्य,
कलाभृतस्ते भजतां प्रियात्वम् ॥ २६ ॥

त्वयैव० हे नाथ ! या सुमंगला त्वयैव सहभूः सहजन्माऽभूत्, किंविशिष्टा सुमंगला ? तमोविलासस्य अभूमिः पापविस्तारस्य अस्थानं निःपापेत्यर्थः । सा सुमंगला ते तव प्रिया तव कलत्रत्वं भजताम् । किंविशिष्टस्य ते ? केवलभास्वरस्य केवलसंपूर्णजगदुद्द्योतकस्य । का इव ? राका इव, यथा राका

पूर्णिमा, कलाभृतश्चन्द्रस्य प्रिया त्वां भजते, सोऽपि भास्करो भवेत्, राकापि तमो विलासस्य अभूमिर्भवति ॥ २६ ॥

अवीवृधद्यां दधदङ्कमध्ये,
नाभिः सनाभिर्जलधेर्महिम्ना ।
प्रिया सुनंदापि तवास्तु सा श्री-,
र्हरेरिवारिष्टनिषूदनस्य ॥ २७ ॥

अवी० नाभिर्यां सुनंदां अंकमध्ये उत्संगोपरि अवीवृधत् वर्धयति स्म । किंलक्षणो नाभिः? महिम्ना विस्तारेण जलधेः समुद्रस्य सनाभिः सदृशः । सा सुनंदा तव प्रियास्तु । कस्येव? हरेर्नारायणस्येव, यथा हरेः श्रीर्लक्ष्मीः प्रिया स्यात् । किंविशिष्टस्य तव हरेश्च? अरिष्टनिषूदनस्य अरिष्टं विघ्नं पक्षे अरिष्टनामा दैत्यस्तं निषूदयति, विनाशयति इति अरिष्टनिषूदनस्तस्य । तस्मिन् समये हरिर्नास्ति कथं तद्विशेषणम्? परं भाविनि भूतवदुपचार इति न्यायो ज्ञेयः ॥ २७ ॥

कन्ये इमे त्वय्युपयच्छमाने,
जाने विमानैस्त्रिदिवेषु भाव्यम् ।
भूपीठसंक्रान्तसकान्तदेवै-
रेकैकदौवारिकरक्षणीयैः ॥ २८ ॥

कन्ये० हे नाथ! अहं एवं जाने त्वयि इमे सुमंगलासुनंदे उपयच्छमाने परिणयति सति त्रिदिवेषु स्वर्गेषु विमानैरेकैकेन दौवारिकेण प्रतीहारेण रक्षणीयैः रक्षितव्यैर्भाव्यम् । उपपूर्वोऽयं धातुः उपात् 'यमः स्वीकारे' (सि० ३।३।५९)

इत्यनेन पदेन आत्मनेपदी ज्ञेयः । किंविशिष्टैर्विमानैर्भूपीठसंक्रान्तसकान्तदेवैः भूपीठे संक्रान्ताः सकांताः सकलत्रा देवा येषां ते भूपीठसंक्रांतसकान्तदेवैः ॥ २८ ॥

अधौतपूतद्युतिवारिधौ ते,
देहे सुरस्त्रीजनदृक्शफर्यः ।
भ्रमन्तु लावण्यतरंगभंगि-
प्रेङ्खोलनोद्वेलितकेलिरङ्गाः ॥ २९ ॥

अधौ० हे नाथ! तस्मिन्नवसरे सुरस्त्रीजनदृक्शफर्यः, देवांगनानां दृष्टिरूपमत्स्यस्ते तव देहे भ्रमन्तु। शफर्यः समुद्रे भवन्तीति आह, किंविशिष्टे देहे? अधौतपूतद्युतिवारिधौ अधौता पूता च द्युतिः कान्तिस्तस्य वारिधौ समुद्रे । किंलक्षणाः सुरस्त्रीजनदृक्शफर्यः? लावण्यतरंगभंगिप्रेंखोलनोद्वेलितकेलिरङ्गाः, तरङ्गलावण्यकल्लोलानां भङ्गिषु विच्छित्तिषु प्रेंखोलनं आंदोलनं तेनोद्वेलिता लक्षणया वर्धिताः केलिरङ्गा यासां ता लावण्यतरंगभंगिप्रेङ्खोलनोद्वेलितकेलिरङ्गाः ॥ २९ ॥

श्रीसार्व! जन्यास्तव सार्वजन्या,
देवा भवन्तः शुभलोभवन्तः ।
पुराकृतप्रौढतपःफलानां,
विपक्रिमत्वं हृदि भावयन्तु ॥ ३० ॥

श्रीसार्व० हे श्रीसार्व हे श्रीसर्वज्ञ देव! तव जन्या जन्ययात्रिका भवन्तः सन्तः पुराकृतप्रौढतपःफलानां विपक्रिमत्वं प्राप्तपरिपाकत्वं हृदि भावयन्तु, चिंतयन्तु । भूण चिन्तायां इतिधातोः प्रयोगः । किंलक्षणा देवाः? सर्वजन्याः

सर्वजनेभ्यो हिताः, पुनः किंलक्षणाः ? शुभलोभवन्तः शुभे मङ्गलादिकार्ये लोभसंयुक्ताः ॥ ३० ॥

शचीमुखा अप्सरसो रसोर्मि-
प्रक्षालनापास्तमला ननु त्वाम् ।
तदा ददाना धवलान् सुवाचा-
माचार्यकं बिभ्रतु मानवीषु ॥ ३१ ॥

शची० हे नाथ ! तदा तस्मिन्नवसरे शचीमुखा अप्सरस इन्द्राणीप्रमुखा देवांगना मानवीषु स्त्रीषु सुवाचां शोभनवाणीनां आचार्यकं आचार्यकर्म बिभ्रतु । किं कुर्वाणाः ? शचीमुखा अप्सरसः ? त्वां अनु पश्चाद्धवलान् ददानाः । त्वां अनु इति प्रतिपर्यनुयोगे द्वितीया । किंलक्षणान् धवलान् ? रसोर्मिप्रक्षालनापास्तमलान्, रसः शृङ्गारादिस्तस्योर्मिभिः कल्लोलैः प्रक्षालनेन निराकृतमलान् ॥ ३१ ॥

स्वरंगणेऽकारि चिरं स्वरंगा-
द्यो रम्भया नृत्यपरिश्रमः प्राक् ।
अग्रे भवत्संभविता तदानी-
मभ्यासलभ्या फलसिद्धिरस्य ॥ ३२ ॥

स्वरं० रम्भया रम्भानाम्न्या देवांगनया स्वरंगणे स्वर्गांगणे स्वरंगात् आत्मीयोल्लासात्, यो नृत्यपरिश्रमः, प्राक् पूर्वं चिरं चिरकालं अकारि कृतः । अस्य श्रमस्य फलसिद्धिस्तदानीं तस्मिन् पाणिग्रहणक्षणे, अग्रे भवत् भवतोऽग्रे संभविता भविष्यति, किंलक्षणा फलसिद्धिः ? अभ्यासेन लभ्या प्राप्या ॥ ३२ ॥

त्वत्तः प्रभोः स्वासहनात्पलाय्य,
रागः श्रितस्तुंबरुनारदादीन् ।
गुणावलीगानमिषेण देव,
तदा तदास्यात्तव संगसीष्ट ॥ ३३ ॥

त्वत्तः० हे देव! रागस्तदा तस्मिन्नवसरे तदा स्यात्तेषां तुम्बरुनारदादीनां मुखात् गुणावलीगानमिषेण तव संगसीष्ट, तव सङ्गतो भूयात् । किंविशिष्टो रागः? स्वासहनात् स्वः स्वकीयः असहनः शत्रुस्तस्मादेवं विधात्प्रभोः समर्थत्वात् त्वत्तः पलाय्य पलायनं कृत्वा तुंबरनारदादीन् श्रित आश्रितः । अत्र शब्दछलं ज्ञेयम् । रागो द्वेषसहचारी श्रीरागादिर्वा, तुंबरनारदौ यदा त्वदग्रे गीतं गास्यतस्तदा सोपि रागस्तव गोचरो भविष्यति, विवाहाद्युत्सवे परस्परमसमंजसानि भज्यन्त इति भावः ॥ ३३ ॥

एवं विवाहे तव हेतवः स्यु-
रन्येऽपि भावा भुवनप्रसत्तेः ।
यथोचितं तत्प्रविधेहि धीम-
न्नितीरयित्वा विरराम वज्री ॥ ३४ ॥

एवं० हे नाथ! एवं अमुना प्रकारेण अन्येऽपि भावा विवाहसत्कास्तव विवाहे भुवनप्रसत्तेस्त्रिभुवने लक्षणया सौख्यस्य हेतवः कारणानि स्युः, तत् तस्मात् कारणात् हे धीमन् धीर्बुद्धिर्विद्यते यस्य स धीमान् तस्य संबोधनं क्रियते हे धीमन्! यथोचितं यथायोग्यं कुरु, वज्री इन्द्रस्तुतेरनु इति पूर्वोक्तं ईरयित्वा कथयित्वा विरराम निवृत्तः । रम्धातुर्विपूर्व-

को 'व्याङ्परे रम' (सि० ३।३।१०५) इति सूत्रेण परस्मैपदी स्यात् अन्यथा त्वात्मनेपदी ज्ञेयः ॥ ३४ ॥

स्वं भोगकर्माथ विपाककाल्यं,
जानन्नजोषिष्ट जिनः सजोषम् ।
अतात्त्विके कर्मणि धीरचित्ताः,
प्रायेण नोत्फुल्लमुखीभवन्ति ॥ ३५ ॥

स्वं० अथानन्तरं स भगवन् जोषं मौनं अजोषिष्ट असेविष्ट, किं कुर्वन् भगवान्? स्वं भोगकर्म विपाककाल्यं विपाककालप्राप्तं जानन्, विपाककाले साधुर्यप्रत्यये (सि० ७।१।१५) विपाककाल्यमिति स्यात् । धीरचित्ता गंभीरनरा अतात्त्विके परमार्थरहिते कर्मणि कार्ये प्रायेण न उत्फुल्लमुखीभवन्ति, प्रहसितवदना न स्युरित्यर्थः ॥ ३५ ॥

इन्द्रोऽवसाय व्यवसायसिद्धिं,
स्वस्येंगितैर्भागवतैस्तुतोष ।
भृत्यो हि भर्तुः किल कालवेदी,
नेदीयसीं वाक्फलसिद्धिमेति ॥ ३६ ॥

इन्द्रो० इन्द्रस्तु तोषहृष्टः, किं कृत्वा? भागवतैर्भगवत्संबन्धिभिरिंगितैश्चेष्टितैः स्वस्यात्मनोध्यवसायसिद्धिं उपक्रमसिद्धिं अवसाय ज्ञात्वा । अनिषिद्धं अनुमतमिति न्यायात् स्वामिनस्तदनुरूपचेष्टां दृष्ट्वा इत्यर्थः । हि यस्मात् कारणात्, किल इति सत्ये, भृत्यः सेवकः भर्तुः स्वामिनः कालवेदी अवसरज्ञो नेदीयसीं प्रत्यासन्नां वाक्फलसिद्धिं एति प्राप्नोति । समये कथितं सर्वः कोपि मन्यत इति भावः ॥ ३६ ॥

जग्राह वीवाहमहाय मंक्षु,
मुहूर्तमासन्नमथो महेन्द्रः ।
अवत्सरायन्त यदन्तरस्था,
लेखेषु हृल्लेखिषु काललेशाः ॥ ३७ ॥

जग्राह० अथो अथानन्तरं महेन्द्रो मंक्षु शीघ्रं विवाहमहोत्सवाय आसन्नं मुहूर्तं जग्राह, हृल्लेखिषु उत्कंठायुक्तेषु लेखेषु देवेषु यदन्तरस्था, यस्य मुहूर्तस्य अन्तरालस्थाः काललेशा अवत्सरायन्त वर्षवदाचरन्ति स्म वर्षसदृशा जाता इति भावः ॥ ३७ ॥

वैवाहिके कर्मणि विश्वभर्तु-
र्यदादिदेश त्रिदशानृभुक्षा ।
बुभुक्षिताह्वानसमानमेत-
दमानि तैः प्रागपि तन्मनोभिः ॥ ३८ ॥

वैवा० ऋभुक्षाः इन्द्रः विश्वभर्तुः स्वामिनो वैवाहिके कर्मणि त्रिदशान् देवान् यः कार्यं आदिदेश आदिष्टवान्, तैस्त्रिदशैर्देवैरेतत् बुभुक्षिताह्वानसमानममानि बुभुक्षाक्रान्तस्य कारणसदृशं मन्यते स्म । किंविशिष्टैस्तैः ? प्रागपि तन्मनोभिरग्रेऽपि तच्चित्तैः ॥ ३८ ॥

मनोभुवा कल्पनयैव जिष्णो-
स्तत्र क्षणादाविरभावि शच्या ।
तस्माद्भुतं सा हृदये स्वभर्तु-
र्नित्यं वसन्ती खलु वेद सर्वम् ॥ ३९ ॥

मनो० शच्या इन्द्राण्या तत्र स्थाने जिष्णोः इन्द्रस्य

मनोभुवा चित्तोत्पन्नया कल्पनयैव क्षणात् तत्कालमेव आविरभावि प्रगटीबभूवे, तन्नाद्भुतं नाश्चर्यं, सा शची स्वभर्तुः हृदये नित्यं वसंती सति खलु निश्चितं सर्वं वेद जानाति, हृदये वसतीति लक्षणया ज्ञेयं, विदोऽग्रेतिस्थाने अट् ज्ञेयः ॥ ३९ ॥

स्वयं प्रभूपास्तिपरः शचीशः,
शचीं शुचिप्राज्यपरिच्छदां यः ।
न्यदिक्षतोपस्करणे कुमार्यो-
र्नार्यो हि नारीष्वधिकारणीयाः ॥ ४० ॥

स्वयं० शचीश इन्द्रः शचीं इन्द्राणीं सुमंगला सुनन्दयोरुपस्करणे अलंकरणे न्यदिक्षत आदिष्टवान् । किंलक्षण इन्द्रः ? स्वयं प्रभूपास्तिपर आत्मना स्वामिसेवातत्परः ! किंविशिष्टां शचीम् ? शुचिप्राज्यपरिच्छदां पवित्रप्रभूतपरिवारां, हि निश्चितं नार्यः स्त्रियो नारीषु स्त्रीषु अधिकारणीया । उक्तं च—सदाप्रमाणं पुरुषा नृपांगणे रणे वणिज्येषु विचारकर्मसु । विवाहकर्मण्यथ गेहकर्मणि प्रमाणभूमिं दधते पुनः स्त्रियः ॥ ४० ॥

तदाभियोग्या विबुधा वितेनु-
र्मणीमयं मण्डपमिन्द्रवाचा ।
स्वं दास्यकर्माऽपि यशः सुगन्धि,
पुण्यानुबन्धीत्यनुमोदमानाः ॥ ४१ ॥

तदा० तदा तस्मिन्नवसरे आभियोग्या विबुधा आदेशकारिणो देवा इन्द्रवाचा मणीमयं मण्डपं तेनुश्चक्रुः । किं-

कुर्वाणा विबुधाः ? स्वं दास्यकर्मापि यशःसुगन्धि पुण्यानुबन्धीति अनुमोदमानाः; दासत्वेऽपि प्रभोः मण्डपकरणे नास्माकं यशः पुण्यं वास्तीति हर्षवन्त इति भावः ॥ ४१ ॥

रत्नैः सयत्नं जनितैः स्वशक्त्या,
तले यदीये त्रिदशैर्निबद्धे ।
रत्नप्रभेत्यागमिकी निजाख्या-
नया पृथिव्या न वृथा प्रपेदे ॥ ४२ ॥

रत्नैः० अनया साक्षात् दृश्यमानया पृथ्व्या रत्नप्रभाया रत्नैः प्रभा यस्याः सा रत्नप्रभा इति आगमिकी आगमसंबन्धिनी निजाख्या आत्मीयाभिधानं वृथा न प्रपेदे । क सति ? यदीये यस्य मंडपस्य तले त्रिदशैर्देवै रत्नैः करणभूतैर्निबद्धे सति, किंविशिष्टे रत्नैः ? स्वशक्त्या स्वसामर्थ्येन सयत्नं यथा भवति तथा जनितैरुत्पादितैः ॥ ४२ ॥

वैडूर्यवर्यद्युतिभाजि भूमौ,
वितानलंबी प्रतिबिंबिताङ्गः ।
मुक्तागणो वारिधिवारिमध्य-
निवासलीलां पुनराप यत्र ॥ ४३ ॥

वैडूर्य० यत्र यस्मिन् मण्डपे मुक्तागणो मौक्तिकसमूहो वारिधिवारिमध्ये समुद्रजलमध्ये निवासलीलां पुनर्द्वितीयवेलं प्राप प्राप्तः । किंलक्षणो मुक्तागणः ? भूमौ प्रतिबिम्बिताङ्गः, किंलक्षणायां भूमौ ? वैडूर्यवर्यद्युतिभाजि वैडूर्यरत्नानां वर्याः प्रधाना द्युतिं कान्तिं भजतीत्येवंशीला, तस्यां वैडूर्यद्युतिभाजि ।

पुनः किंविशिष्टो मुक्तागणः? वितानलंबी चन्द्रोदयोते लम्बते इति वितानलंबी । कोऽर्थः? मुक्तासमूहः समुद्र एव प्रायो वसति, देवैर्विवाहमंडपे कृतचन्द्रोदयोतेषु मौक्तिकझुंबनानि यानि कृतानि तानि कृष्णरत्नभूमौ प्रतिबिंबितानि दृष्ट्वा सर्वः कोपि दध्यौ, समुद्रादुत्पन्नानि मुक्ताफलानि पुनरपि समुद्रं प्राप्तानीति भावः ॥ ४३ ॥

संदर्शितस्वस्तिकवास्तुमुक्ता-
रदावलिः स्फाटिकभित्तिभाभिः ।
यद्भूरदूरप्रभुपादपाता,
मुक्तां चिरात्तेन दिवं जहास ॥ ४४ ॥

सांद० यद्भूर्यस्य मंडपस्य भूर्यद्भूः स्फाटिकभित्तिभाभिः स्फटिकमणिरत्नभित्तेः प्रभाभिः करणभूताभिः दिवं स्वर्गं जहास हसितवती । किंविशिष्टा यद्भूः? संदर्शितस्वस्तिकवास्तुमुक्तारदावलिः स्वस्तिका वास्तु स्थानं यासां ताः स्वस्तिकवास्तवः संदर्शिताः प्रकटीकृताः स्वस्तिकवास्तुमुक्ता एव रदा दन्तास्तेषां आवलिः श्रेणिर्यया सा संदर्शितस्वस्तिकवास्तुमुक्तारदावलिः दन्तदर्शनेन विशेषतो हास्यं ज्ञायते । पुनः किंलक्षणा यद्भूः? अदूरप्रभुपादपाता अदूर आसन्नः प्रभोः श्रीऋषभस्य पादपातश्चरणन्यासो यस्यां सा अदूरप्रभुपादपाता । किंविशिष्टां दिवम्? तेन भगवता चिरात् चिरकालात् मुक्तामत एव हेतोर्दिवं प्रति पृथिव्या हास्यमिति भावः ॥ ४४ ॥

विश्राम विश्वासमयीमधीत्य,
नीतिं यदौपाधिकपुष्पपुंजात् ।

सत्येऽपि पुष्पप्रकरे पतद्भि-
रालम्बि रोलम्बगणैर्विलम्बः ॥ ४५ ॥

विश्वा० रोलंबगणैर्भ्रमरसमूहैः सत्येऽपि पुष्पप्रकरे पतद्भिः सद्भिः विलंब आलंबि अवलम्बितः । किं कृत्वा ? यदौपाधिकपुष्पपुंजात् यस्य मंडपस्य कृत्रिमकुसुमसमूहात् विश्वां समग्रां अविश्वासमयीं नीतिं न्यायं अधीत्य अभ्यस्य । अविश्वासं भियो मूलमिति नीतिः ॥ ४५ ॥

जगज्जनो येन पुराखिलोऽपि,
व्यलोपि तं यत्र विकीर्णमन्तः ।
ममर्द पुष्पप्रकरापदेशं,
पदैः स्मरेषुव्रजमेष युक्तम् ॥ ४६ ॥

जग० येन स्मरेषुव्रजेन स्मरस्य कामस्य इषवो बाणास्तासां व्रजेन समूहेन पुरा पूर्वं अखिलोऽपि समस्तोऽपि जगज्जनो व्यलोपि लुप्तः । एष जगज्जनः तं स्मरेषुव्रजं तत्र मंडपे अन्तर्मध्ये विकीर्णं विक्षिप्तं संतं पदैर्युक्तं ममर्द । किंलक्षणं स्मरेषुव्रजम् ? पुष्पप्रकारापदेशं पुष्पाणां प्रकरः समूहः एव अपदेशो मिषं यस्य तं पु० । कामस्य बाणा पुष्पाणीति प्रसिद्धिः ॥४६॥

यत्राहतस्तंभशिरोविभागा,
बभासिरे काञ्चनशालभंज्यः ।
प्रागेव संन्यस्तभुवो भविष्य-
ज्जनौघसंमर्दभियेव देव्यः ॥ ४७ ॥

अप० यत्र मंडपे कांचनशालभंज्यः सुवर्णपुत्रिका बभासिरे शोभिताः । किंलक्षणाः शालभंज्यः ? आहतस्तंभशिरो-

विभागाः स्तंभोपरिस्थिताः । उत्प्रेक्षते—भविष्यज्जनौघसंमर्दभिया भाविजनसमूहस्य संमर्दभयेन प्रागेव पूर्वमेव संन्यस्तभुवः त्यक्तभुवो देव्यो देवांगना इव । भुवि संमर्दो भविष्यति, अतः पूर्वमेव स्तंभशिरसि स्थिता इति भावः ॥ ४७ ॥

सुचारुगारुत्मततोरणानि,
द्वाराणि चत्वारि बभुर्यदग्रे ।
देवीषु रुद्धाग्रपथासु रोषाद्
भ्रूभङ्गभांजीव दिशां मुखानि ॥ ४८ ॥

सु० यस्य मंडपस्य अग्रे चत्वारि द्वाराणि बभुः, शोभितानि । किंलक्षणानि द्वाराणि ? सुचारुगारुत्मततोरणानि सुष्ठु अत्यर्थं चारूणि मनोज्ञानि गरुडोद्गारसत्कानि तोरणानि यत्र तानि सुचारुगारुत्मततोरणानि । उत्प्रेक्षते—देवीषु रुद्धाग्रपथासु रुद्धाग्रमार्गासु सतीषु रोषाद्भ्रूभङ्गभांजि उत्पाटितभृकुटिसंयुक्तानि दिशां मुखानीव ॥ ४८ ॥

अलंभि यस्योपरि शातकुंभ-
कुंभैरनुद्भिन्नसरोरुहाभा ।
नभः सरस्यां चपलैर्ध्वजौघै-
र्विसारिवैसारिणचारिमा च ॥ ४९ ॥

अलंभि० यस्य मण्डपस्योपरि शातकुंभकुंभैः शातकुम्भस्य सुवर्णस्य कुंभैः कलशैर्नभःसरस्यां आकाशसरोवरे अनुद्भिन्नसरोरुहाभा अविकस्वरकमलशोभाऽलंभि प्राप्ता । कमलकोशानां कलशानां च सादृश्यं स्यात् । च अन्यत्, चपलैर्ध्वजौघैर्विसारि-

वैसारिणचारिमा विसारिणां प्रसरणशीलानां वैसारिणानां मत्स्यानां चारिमा मनोज्ञता अलम्भि ॥ ४९ ॥

तथा कथाः पप्रथिरे सुरेभ्य-
स्त्रिविष्टपे तत्कमनीयतायाः ।
यथा यथार्थत्वमभाजि शोभा-
भिमानभंगादखिलैर्विमानैः ॥ ५० ॥

तथा० त्रिविष्टपे त्रिभुवने सुरेभ्यो देवेभ्यस्तत्कमनीयतायाः तस्य मंडपस्य मनोज्ञत्वस्य तथा कथाः पप्रथिरे विस्तृताः । यथा अखिलैः समस्तैर्विमानैः शोभाभिमानभङ्गात् यथार्थत्वं सत्यार्थत्वं अभाजि सेव्यते स्म । कोऽर्थः ? यस्य मंडपस्य शोभया विमानानि निरभिमानानि (जातानि) इति भावः ॥५०॥

श्रीदेवता हैमवतं वितन्द्रा,
शच्याज्ञया चन्दनमानिनाय ।
निर्निंद स स्वं मलयाचलस्तु,
द्विजिह्वबन्दीकृतचन्दनद्रुः ॥ ५१ ॥

श्रीदे० श्रीर्नाम्ना देवता वितन्द्रा आलस्यरहिता सती हैमवतं हिमवत्संबंधिनं शच्याज्ञया इन्द्राण्यादेशात् चन्दनमानिनाय । तु पुनः स सर्वप्रसिद्धो मलयाचलः स्वं आत्मानं निर्निंद निन्दितवान् । किंलक्षणो मलयाचलः ? द्विजिह्वबन्दीकृतचन्दनद्रुः द्विजिह्वैः सर्पैर्दुर्जनैर्वा बन्दीकृताश्चन्दनद्रवश्चन्दनवृक्षा यस्य स द्विजिह्वबन्दीकृतचन्दनद्रुः, दुर्जनहस्तगतं वस्तु पुण्यावसरे व्ययितुं न शक्यते इति भावः ॥ ५१ ॥

उपाहरन्नंदनपादपानां,
पुष्पोत्करं तत्र दिशां कुमार्यः ।
शिरस्यपुष्पप्रकरस्य शेषै-
र्वृक्षैर्वृथा वैवधिकी बभूवे ॥ ५२ ॥

उपा० तत्र मण्डपे दिशां कुमार्यः नन्दनपादपानां नन्दनवनवृक्षाणां पुष्पोत्करं पुष्पसमूहं उपाहरन् आनयन्ति स्म । शेषैश्चंपकाशोकपुन्नागप्रियंगुपाटलाप्रभृतिवृक्षैः शिरस्यपुष्पप्रकरस्य मस्तकसंबन्धिपुष्पसमूहस्य वृथा वैवधिकी बभूवे निरर्थकं भारवाहकैर्जातम् । अत्र भावे उक्तिः ज्ञेया ॥ ५२ ॥

वध्वोरलंकारसहं सहर्षा,
मणीगणं पूरयति स्म लक्ष्मीः ।
वारांनिधेस्तद्धनिनश्चिरत्नो,
रत्नोच्चयः फल्गुरभूच्चितोऽपि ॥ ५३ ॥

वध्वो० लक्ष्मीः सहर्षा सती मणिगणं रत्नसमूहं पूरयति स्म । किंलक्षणं मणिगणम्? वध्वोरलंकारसहम् सुमंगला सुनन्दयोरलंकारसमर्थम् । तद्धनिनः कृपणस्य वारांनिधेः समुद्रस्य चिरत्नश्चिरकालीनश्चितोऽपि संचितोपि रत्नोच्चयो समूहः फल्गुर्निःफलोऽभूत् ॥ ५३ ॥

मन्दाकिनीरोधसि रूढपूर्वा,
दूर्वा वरार्घाय समानिनाय ।
पराभिराभिर्नवरं जिजीवे,
वालेयदन्तक्रकचार्तिहेतोः ॥ ५४ ॥

मन्दा० मन्दाकिनी गंगा वरार्थाय वरस्य अर्थकृते दूर्वा समानिनाय। किंलक्षणा दूर्वा ? रोधसि रूढपूर्वा रोधसि तटे पूर्वं रूढा रूढपूर्वा अग्रेऽप्युद्धृताः । पराभिरन्याभिराभिर्दूर्वाभिर्नवरं केवलं वालेयदन्तक्रकचार्तिहेतोर्वालेयानाम् रासभानां दन्तक्रकचं दन्तरूपकरपत्रं तदर्त्तिहेतोः तत्पीडानिमित्तं जिजीवे ॥ ५४ ॥

काश्मीरवासा भगवत्यदत्त,
काश्मीरमालेप्यमनाकुलैव ।
यत्रापि तत्रापि भवन्न हीदं,
मद्देशनाम त्यजतीति बुद्ध्या ॥ ५५ ॥

काश्मीरवासा भगवती आलेप्यं आलेपनयोग्यं काश्मीरं कुंकुमं इतिबुध्या अनाकुलैव अदत्त ददौ। इति इति किम् ? हि निश्चितं इदं काश्मीरकुंकुमं यत्रापि तत्रापि भवन् सन् मद्देशनाम न त्यजति, यत्तत् कुंकुमं काश्मीरमेवोच्यते ॥ ५५ ॥

करोषि तन्वंगि ! किमंगभंगं,
त्वमर्धनिद्राभरबोधितेव ।
न सांप्रतं संप्रति तेऽलसत्वं,
कल्याणि ! कार्पण्यमिवोत्सवान्तः ॥ ५६ ॥

आलंबितस्तंभमवस्थितासि,
बाले जरार्तेव किमेवमेव ।
अलक्ष्यमन्विष्यसि किं सलक्षे,
साधोः समाधिस्तिमितेव दृष्टिः ॥ ५७ ॥

मनोरमे ! मुंचसि किं न लीलाम्,
अद्याप्यविद्यामिव साधुसंगे ।
इतस्ततः पश्यसि किं चलाक्षि !,
निध्यातयूनी पुरि पामरीव ॥ ५८ ॥
भूषां वधव्यां द्रुतमानयध्वं,
धृत्वा वरार्थं धवलान् ददध्वम् ।
शच्येरितानामिति निर्जरीणां,
कोलाहलस्तत्र बभूव भूयान् ॥ ५९ ॥
॥ चतुर्भिः कलापकम् ॥

करोषि० तत्र तस्मिन् मंडपे निर्जरीणां देवीनां भूयान् बहुः कोलाहलो बभूव । किंविशिष्टानां निर्जरीणाम् ? शच्या इन्द्राण्या इति अमुना प्रकारेण ईरितानां प्रेरितानाम् । इतीति हे तन्वंगि ! त्वं अंगभंगं किं करोषि ? के च अर्धनिद्राभरे बोधितेव यथार्धनिद्राभरबोधिता जागरिता अंगभङ्गं आलस्यं करोषि, हे कल्याणि ते तव संप्रति अधुनाऽलसत्वं न सांप्रतं न युक्तं, किमिव कार्पण्यमिव यथा उत्सवान्तरुत्सवमध्ये कार्पण्यं न सांप्रतम् ॥ ५६ ॥ हे बाले ! त्वं आलंबितस्तंभं अवलंबितस्तंभ एवमेव किं स्थितासि ? या बाला स्यात् सावष्टंभं नैव गृह्णाति । केव ? जरार्तेव । यथा जरार्ता जरया पीडिता एवमेव आलंबितस्तम्भं तिष्ठति, हे सलक्षे सुज्ञाने ! त्वं अलक्षं किं अन्विष्यसि आलोकयसि, केव साधोर्दृष्टिरिव यथा साधोः समाधिस्तिमिता समाधानेन निश्चला अलक्ष्यं अन्वेषयति ॥ ५७ ॥ हे मनोरमे ! त्वं अद्यापि लीलां किं न मुंचसि ? कामिव ? अवद्यामिव यथा

साधुसंगे कोऽपि अविद्यां न मुंचति । हे चलाक्षि ! त्वं इतस्ततः किं पश्यसि । केव ? पामरीव ! यथा पामरी ग्रामीणस्त्री पुरि नगरे निध्यातयूनीति ध्याता दृष्टा युवानस्तरुणवयसो यया सा निध्यातयूनी इतस्ततः पश्यति ॥ ५८ ॥ हे हला ! वधव्यां वधूभ्यो हितां भूषां शृंगारादिकां द्रुतं शीघ्रं आनयध्वं, यूयं वरार्थं धृत्वा धवलान् ददध्वम् ॥ ५९ ॥ चतुर्भिः कलापकम् ॥

अथालयः शैलभिदः प्रियायाः,
संस्कर्तुकामा वसुधैकरत्ने ।
निवेश्य कन्ये कनकस्य पीठे,
रत्नासनाख्यां ददुरस्य दक्षाः ॥ ६० ॥

अथा० अथान्तरं शैलभिद इन्द्रस्य प्रियायाः शच्या आलयः सख्यः संस्कर्तुकामा अलङ्कारं कर्तुमिच्छवः सत्यः कन्ये सुमंगलासुनंदे कनकस्य पीठे सुवर्णस्यासने निवेश्य उपवेश्य अस्य कनकपीठस्य रत्नासनाख्यां ददुः । किंविशिष्टे कन्ये ? वसुधैकरत्ने वसुधायां पृथ्व्यां एकरत्नप्राये । किंविशिष्टा आलयः ? दक्षाः चतुराः । यत्र रत्नं स्थाप्यते तदपि रत्नासनं कथ्यते, रत्नप्रायकन्ये तयोरासनमेतत्, अतो रत्नासनमिदमिति दक्षत्वभावः ॥ ६० ॥

उभे प्रभौ स्नेहरसानुविद्धे,
स्नेहैः समभ्यज्य च संस्नपय्य ।
लावण्यपुण्ये अपि भक्तितस्ता,
न स्वश्रमेऽमंसत पौनरुक्त्यम् ॥ ६१ ॥

उभे० ता आलयः सख्यो भक्तितः स्वश्रमे आत्मीय-

प्रयासे पौनरुक्त्यं पुनरुक्तदोषं न अमंसत न मन्यन्ते स्म। किं कृत्वा ? उभे कन्ये स्नेहैस्तैलैः समभ्यज्य अभ्यंग्य च अन्यत् संस्नपय्य स्नानं कारयित्वा। किंविशिष्टे कन्ये ? प्रभौ श्रीऋषभदेवे स्नेहरसानुविद्धे स्नेहरसेन व्याप्ते, पुनः किंविशिष्टे ? लावण्य-पुण्ये अपि लावण्येन पुण्ये पवित्रेऽपि। कोऽर्थः ? ते कन्ये पूर्वमेव स्नेहरसेन प्रभौ प्रेमरसेन तैलेन वानुविद्धे, लावण्येन च पवित्रे वर्तते, पुनरपि तत्करणे पुनरुक्तत्वं स्यात् परं भक्ति-भावात्तन्न जातमिति भावः ॥ ६१ ॥

तृषातुरेणेव पटेन वान्त-
स्नानीयपानीयलवे जवेन ।
स्फुरन्मयूखे निभृते क्षणं ते,
सुवर्णपुत्र्योः श्रियमन्वभूताम् ॥ ६२ ॥

तृषा० ते कन्ये सुमंगलासुनन्दे क्षणं क्षणमेकं सुवर्ण-पुत्र्योः सुवर्णपुत्रिकयोः श्रियां शोभां अन्वभूताम्। किंविशिष्टे ते ? जवेन वेगेन तृषातुरेणेव पटेन वस्त्रेण वांत-ग्रस्त-स्नानीय-लवे स्नानसंबंधिजललवे। पुनः किंविशिष्टे ? स्फुटन्मयूखे उल्लस-त्किरणे, पुनः किंविशिष्टे ? निभृते निश्चले ॥ ६२ ॥

सद्गोत्रयोर्मूर्ध्नि तयोरुदीय,
नितंबचुम्बी चिकुरौघमेघः ।
वर्षन् गलन्नीरमिषान्मुखाब्जा-
न्यसेरयच्चित्रमवेक्षकाणाम् ॥ ६३ ॥

स० चित्रं आश्चर्यं चिकुरौघमेघः केशकलापरूपजलदः गलन्नीरमिषात् वर्षन् सन् अवेक्षकाणां अवलोककानां मुखा-

ब्जानि मुखकमलानि असेरयद्विकासयति स्म, अन्यान्यब्जानि वर्षाकाले शटित्वा पतंति परमत्र वैपरीत्यमतस्तच्चित्रम् । किं कृत्वा ? तयोः सुमंगलासुनन्दयोः सद्गोत्रयोः सत्प्रधानं गोत्रं ययोस्ते सद्गोत्रे, पक्षे प्रधानपर्वतयोर्मूर्ध्नि मस्तके उदीय उदयं प्राप्य । किंविशिष्टश्चिकुरौघमेघः ? नितंबचुंबी नितम्बं कटितटं पक्षे कटकं चुम्बति स्पृशति इति भावः ॥ ६३ ॥

धम्मिल्लमल्लोऽधिगतस्मरास्त्र-
मालोऽन्तरालोल्लसितप्रसूनैः ।
तन्मौलिवासाद्बलवान्न कस्य,
बलीयसोऽप्येजयति स्म चेतः ॥ ६४ ॥

धम्मि० धम्मिल्लमल्लः बद्धकेशकलाप एव मल्लः कस्य बलीयसोऽपि बलवतश्चेतः स्वान्तं न एजयति स्म अपि तु सर्वस्यापि । किंलक्षणो धम्मिल्लमल्लः ? अन्तरालोल्लसितैः प्रसूनैः पुष्पैरधिगता प्राप्ता स्मरस्य कामस्य अस्त्रमाला शस्त्रश्रेणिर्येन सः । पुनः किंविशिष्टः ? तन्मौलिवासात् तयोः कन्ययोः मस्तके वासात् बलवान् । यतः—स्थानं प्रधानं न बलं प्रधानं स्थान-स्थितो गर्जति कातरोऽपि । हे वासुके ! वेद्मि तव प्रमाणं कण्ठस्थितो गर्जसि शंकरस्य ॥ १ ॥ इति स्थानबलं, कामस्य पुष्पबाणत्वात् प्राप्तपुष्पैः शस्त्रबलं च, ततो धम्मिल्लमल्लः कान् न कम्पयतीति भावः ॥ ६४ ॥

सारांगरागैः सुरभिं सुवर्ण-
मेवैतयोः कायमहो विधाय ।

जहे सुवर्णस्य सुराङ्गनाभिः,
सौगन्ध्यवन्ध्यत्वकलंकपङ्कः ॥ ६५ ॥

सारां० सुराङ्गनाभिर्देवांगनाभिः सुवर्णस्य सौगन्ध्यवन्ध्यत्वकलंकपंकः सौरभ्यरहितत्वमेव कलङ्कपङ्को जहे स्फेटितः । किं कृत्वा ? एतयोः सुमंगलासुनंदयोः कायं सारंगरागैः प्रशस्यविलेपनैरहो इति आश्चर्ये, सुरभिपरिमलबहुलं विधाय कृत्वा, किंविशिष्टं कायं ? सुवर्णमेव गौरवर्णत्वात् ॥ ६५ ॥

तयोः कपोले मकरीः स्फुटांगी-
र्यद्गन्धधूल्या लिलिखुस्त्रिदश्यः ।
स्मरं स्वधार्य मकरः पुरंध्री-
स्नेहेन धावंस्तदिहानिनाय ॥ ६६ ॥

तयोः० त्रिदश्यः सुराङ्गनाः, तयोः कन्ययोः कपोले यद्गंधधूल्या कस्तूर्या स्फुटांगीः प्रकटरूपा मकरीर्लिलिखुर्लिखन्ति स्म। मकरः स्वधार्यं स्ववाह्यं स्वामिनं स्मरं कन्दर्पं, तत् तस्मात् कारणात् इह आनिनाय । किं कुर्वन् मकरः ? पुरंध्रीस्नेहेन कलत्रप्रीत्या धावन् कामो मकरध्वज उच्यते, मकरे मकरीस्नेहेन तत्रागते कामोऽपि तत्रागत इति भावः ॥ ६६ ॥

बभार मारः कुचकुंभयुग्मं,
क्रीडन् ध्रुवं कान्तिनदे तदङ्के ।
यत्पत्रवल्ल्यो मृगनाभिनीला,
निरीक्षितास्तत्परितोऽनुषक्ताः ॥ ६७ ॥

बभार० मारः कन्दर्पः कान्तिनदे प्रभाया ह्रदे तदङ्के तयोः कन्ययोः अङ्के शरीरे क्रीडन् सन् ध्रुवं निश्चितं कुचकुंभयुग्मं

बभार, अन्यापि कुंभाधारेण ह्रदादिकं तरति । हेतुमाह—यत् यस्मात् कारणात् तत् कुचकुंभयुग्मं परितः समंततः अनुषक्ताः लग्नाः मृगनाभिनीला कस्तूरिकावद् या नीलवर्णाः पत्रवल्ल्यो निरीक्षिता दृष्टाः ॥ ६७ ॥

तनूस्तदीया ददृशेऽमरीभिः
संवीतशुभ्रामलमञ्जुवासा ।
परिस्फुटस्फाटिककोशवासा,
हैमी कृपाणीव मनोभवस्य ॥ ६८ ॥

तनू० अमरीभिर्देवांगनाभिः तदीया तनूः शरीरं ददृशे दृष्टा, तनूशब्दो देहवाचकः स्त्रीलिङ्गो ज्ञेयः, कन्याद्वये सत्यपि तनूरित्यत्रजातावेकवचनं ज्ञेयम् । किंविशिष्टा तनूः ? 'संवीतशुभ्रामलमंजुवासा' संवीतानि परिहितानि शुभ्राणि उज्ज्वलानि अमलानि निर्मलानि मंजूनि मनोज्ञानि वासांसि यया सा संवीतशुभ्रामलमंजुवासा । उत्प्रेक्ष्यते—परिस्फुटप्रकटस्फाटिक स्फाटिकमणिमयकोशे प्रत्याकारे कृतवासा मनोभवस्य कामस्य, हैमी सुवर्णमयी कृपाणीव क्षुरिकेव ॥ ६८ ॥

द्वारेण वां चेतसि भर्तुरेष,
संश्लेषमाप्स्यामि मुमुक्षितोऽपि ।
इतीव लाक्षारसरूपधारी,
रागस्तयोरंह्रितलं सिषेवे ॥ ६९ ॥

द्वा० लाक्षारसरूपधारी अलक्तकरसरूपधारी रागस्तयोः कन्ययोरंह्रितलं चरणतलं सिषेवे, सेवते स्म । उत्प्रेक्ष्यते-इतीव एषोऽहं वां युवयोर्द्वारेण भर्तुः श्रीऋषभदेवस्य चेतसि संश्लेषं

संसर्गं आप्स्यामि प्राप्स्यामि । किंविशिष्टोऽहम् ? मुमुक्षितोऽपि मोक्तुमिष्टोऽपि ॥ ६९ ॥

मन्दारमाला मकरन्दबिन्दु-
संदोहरोहत्प्रमदाश्रुपूरा ।
दूरागता शैत्यमृदुत्वसारा,
सखीव शिश्लेष तदीयकंठम् ॥ ७० ॥

मन्दा० मन्दारमाला दूरागता सखीव तदीयं सुमंगला-सुनन्दयोः कण्ठं शिश्लेष आलिंगति स्म । किंलक्षणा मंदार-माला ? मकरन्दबिन्दुसंदोहरोहत्प्रमदाश्रुपूरा; मकरन्दबिन्दूनां सन्दोहः समूहः स एव रोहत् प्रवर्धमानः प्रमदाश्रुपूरः हर्षाश्रुपूरो यस्याः सा मकरन्द० । पुनः किंभूता मन्दारमाला ? शैत्यमृदुत्वसारा शैत्यं च मार्दवं च ताभ्यां सारा मनोज्ञा ॥ ७० ॥

न्यस्तानि वध्वोर्वदनेऽमरीभि-
राभाभरं भेजुरभङ्गरङ्गम् ।
उद्वेगयोगेऽपि भुजङ्गवल्ले-
र्दलानि सुस्थानगुणः स कोऽपि ॥ ७१ ॥

न्यस्ता० भुजंगवल्लेर्नागवल्लेर्दलानि पत्राणि उद्वेगयोगेऽपि उद्वेगः संतापः, पक्षे पूगीफलम् ; तस्य योगेपि आभाभरं शोभासमूहं भेजुर्भजंति स्म । किंविशिष्टं आभाभरं ? अभंगरंगं अभंगो रंगो स्वर्णरंग एव यत्र तम् । स कोऽपि सुस्थानगुणो ज्ञेयः । किंविशिष्टानि दलानि ? अमरीभिर्देवांगनाभिर्वध्वोः कन्ययोर्वदने न्यस्तानि क्षिप्तानि । एकं भुजंगवल्लेर्दलानि, द्वितीयं उद्वेग-

योगः, परमीदृशेऽपि सति यत् रंगो जातः स तयोः कन्ययोर्वेदनस्थानकगुणो ज्ञेय इति भावः ॥ ७१ ॥

मा स्म सरान्धं त्वरया पुरान्तः-
संचारि चेतः पतदत्र यूनाम् ।
इतीव काप्युत्पलकर्णपूरै-
स्तत्कर्णकूपौ त्वरितं व्यधत्त ॥ ७२ ॥

मा स्म० कापि देवांगना उत्पलकर्णपूरैः कमलकर्णाभरणैः तत् कर्णकूपौ तयोः सुमंगलासुनन्दाकन्ययोः कर्णरूपकूपौ त्वरितं शीघ्रं व्यधत्त, आच्छादयति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—इतीव अत्र एतयोः कर्णकूपयोर्यूनां यौवनप्राप्तानां चेतः स्वान्तं सरान्धं कामान्धं सन् मा स्म पतत । किंलक्षणं चेतः ? त्वरया औत्सुक्येन पुरान्तःसंचारि पुरं शरीरं पक्षे नगरं तस्यान्तर्मध्ये संचरणशीलम् ॥ ७२ ॥

भोगीदमीयः किल केशहस्त-
स्ततान यूनां हृदि यं विमोहम् ।
सोऽवर्धि चूडामणिनापि तेषा-
मथो गतिः केत्यवदन्मघोनी ॥ ७३ ॥

भोगी० मघोनी इन्द्राणी इत्यवदत् । इतीति किम् ? इदमीयः अनयोरयं इदमीयः किल इति सत्ये केशहस्तः केशकलापः । हस्तः पक्षः कलापश्च नाममालोक्तं ज्ञेयम् । यूनां हृदि यं विमोहं ततान् । किंविशिष्टः केशहस्तः ? भोगी भोगः कुसुमकस्तूरिकादीनां विद्यते यत्र असौ भोगवान्, पक्षे सर्पः । स विमोहः चूडामणिनापि अवर्द्धि वर्द्धितः । तेषां यूनां अथो का गति-

भविष्यति कोऽर्थः ? सर्पमणेर्विषमुत्तरति इति हि रूढिस्तयोः कन्ययोः शीर्षे केशकलापसर्पोपरि चूडामणिं दृष्ट्वा युवानो विशेषतो व्यामोहिताः ॥ ७३ ॥

हस्ते शलाकावदने च तिष्ठ-
दनिष्ठुरं तन्नयनप्रविष्टम् ।
धिक्कज्जलं भस्मयति स्म यूनः,
को विश्वसेत्तापकरप्रसूतेः ॥ ७४ ॥

हस्ते० कज्जलं 'धिक्धिक्योगे द्वितीया' ( ) यत् । कज्जलं तत् नयनप्रविष्टं सत् तयोः कन्ययोः नेत्रांतःप्रविष्टं सत् यूनो भस्मयति स्म । अत्र लक्षणा ज्ञेया, व्यामोहयति स्मेतिभावः, किंविशिष्टं कज्जलम् ? हस्ते, च अन्यत्, शलाकावदने तिष्ठत् सत्, अनिष्ठुरं कोमलं लक्षणया शान्तं वा । तापकरणप्रसूतेः तापकरोऽग्निः दुर्जनादिर्वा तत्प्रसूतेः तज्जातस्य अन्यस्यापि को विश्वसेत्, अपि तु कोऽपि नैव । विश्वसेत् इति 'अन श्वसक् प्राणने' इतिधातोर्न प्रयोगः किन्तु अन्यः कोपि घटते; 'न विश्वसेदमित्रस्य मित्रस्यापि न विश्वसेत्' इति लोकेऽप्यस्ति । कोऽर्थः ? कज्जलं पूर्वं हस्ते ध्रियते ततः शलाकामुखे स्थाप्यते, अस्मिन्नवसरे न कमपि व्यामोहयति, किन्तु नयनप्रविष्टमेव, अतः कज्जलेन विश्वासघातः कृतः, अतस्तापकरजातस्य (कोऽपि) न विश्वसेदिति भावः ॥ ७४ ॥

शची स्वहस्तेन निवेश्य मौलौ,
मौलिं मणीनां किरणैर्जटालम् ।

तयोर्गुणाधिक्यभवं प्रभुत्व-
मशेषयोषित्सु दृढीचकार ॥ ७५ ॥

शची० शची इन्द्राणी स्वहस्तेन तयोः कन्ययोः मौलौ मस्तके मौलिं मुकुटं निवेश्य अशेषयोषित्सु समस्तस्त्रीषु गुणाधिक्यभवं गुणा औदार्यगांभीर्यादि गुणानामाधिक्यादुत्पन्नं प्रभुत्वं दृढीचकार । किंविशिष्टं मौलिम्? मणीनां किरणैर्जटालं व्याप्तम् । अत्रापि लक्षणा ज्ञेया ॥ ७५ ॥

पारे शिरोजतमसामुदियाय भाले
लक्ष्म्या घनावसथतां गमिते तदीये ।
विक्षिप्तनागजरजोव्रजसांध्यराग-
संकीर्णसीम्नि तरणिस्तिलकच्छलेन ॥ ७६ ॥

पारे० तरणिः सूर्यः तदीये तयोः कन्ययोर्भाले शिरोजतमसां केशरूपांधकाराणां पारे उदियाय उदयं प्राप्तः, किंविशिष्टे भाले? लक्ष्म्याः श्रियः शोभाया वा घनावसथतां दृढस्थानकतां पक्षे घनावसथतां आकाशतां गमिते प्रापिते । पुनः किंविशिष्टे भाले? विक्षिप्तनागजरजोव्रजसांध्यरागसंकीर्णसीम्नि विक्षिप्तं विस्तारितं नागजरजः सिन्दूररजः तस्य व्रजः समूहः स एव सान्ध्यरागः तेन संकीर्णा सीमा पर्यंतदेशो यस्य सः ॥ ७६ ॥

यच्चाक्रिकभ्रमि-दिनाधिपताप-वह्नि-
सेवा-पयोवहनमुख्यमसोढ कष्टम् ।
पुण्येन तेन तदुरोरुहतामवाप्य,
कुंभो बभाज मणिहारमयोपहारम् ॥ ७७ ॥

यच्चा० कुम्भो यत् चाक्रिकभ्रमिः चाक्रिकः कुलालः तस्य चक्रोपरि भ्रमिः, दिनाधिपतापः सूर्यकिरणतापः, वह्निसेवा पावकावस्थाभवा, पयोवहनं च, एतत् मुख्यं कष्टं असोढ सहते स्म, तेन पुण्येन तदुरोरुहतां तयोः कन्ययोः स्तनत्वं प्राप्य मणिहारमयोपहारं मणिहारमयं उपहारं पूजां बभाज भजति स्म। 'देहे दुःखं महाफलं' इत्यागमः । अत्र वृत्ते अनुमानालंकारो ज्ञेयः, कुंभेन किमपि पुण्यं कृतं तेन हारादिपूजा प्राप्तेति भावः ॥ ७७ ॥

ये तयोरशुभतां करमूले,
काममोहभटयोः कटके ते ।
अङ्गुलीषु सुषमामददुर्या,
ऊर्मिका ननु भवांबुनिधेस्ताः ॥ ७८ ॥

ये० ये कटके तयोः कन्ययोः करमूले अशुभतां शोभिते ते काममोहभटयोः कटके सैन्ये ज्ञेये । या ऊर्मिका मुद्रिकास्तयोः कन्ययोः अंगुलीषु सुषमां शोभां अददुर्ददतिस्म। ननु निश्चितं ता भवाम्बुनिधेः संसारसमुद्रस्योर्मिका लहर्यो ज्ञेयाः ॥ ७८ ॥

त्रिभुवनविजिगीषोर्मारभूपस्य बाह्या-
ऽवनिरजनि विशाला तन्नितंबस्थलीयम् ।
व्यरचि यदिह कांचीकिंकिणीभिः प्रवल्ग-
च्चतुरतुरगभूषाघर्घरीघोषशङ्का ॥ ७९ ॥

त्रिभु० इदं तन्नितंबस्थली तयोः कन्ययोः कटितटस्थली मारभूपस्य कामराजस्य बाह्यावनिः अश्ववाहनिकाभूमिः

अजनि जाता । हेतुमाह यत् यस्मात् कारणात् इह नितंबस्थल्यां कांची मेखला तस्याः किंकिणीभिः क्षुद्रघंटिकाभिः प्रवलगच्चतुरतुरगभूषाघर्घरीघोषशंका प्रवलगन्त उच्छलंतश्चतुरा ये तुरगाः अश्वास्तेषां भूषाघर्घरीणां घोषशङ्का व्यरचि कृता । यत्राश्वा वाह्यंते तत्र घर्घरीघोषो स्यादेवेति भावः । किंविशिष्टस्य मारभूपस्य? त्रिभुवनविजिगीषोः त्रिभुवनं जेतुमिच्छोः ॥ ७९ ॥

नखजितमणिजालौ स्वश्रियापास्तपद्मौ
गतिविधुरितहंसौ मार्दवातिप्रवालौ ।
तदुचितमिह साक्षीकृत्य देवीस्तदंह्री
सपदि दधतुराभां यत्तुलाकोटिवृत्ताम् ॥८०॥

नख० इह देवीः साक्षीकृत्य तदंह्री तयोः कन्ययोः क्रमौ सपदि झटिति यत् तुलाकोटिवृत्तां तुलाकोटिशब्देन नूपुरे पक्षे तुला उपमा तस्याः कोटिः अग्रभागः ततो वृत्तां निष्पन्नां आभां शोभां दधतुः, तत् उचितं योग्यम् । एतानि सर्वाणि तदंह्र्योर्विशेषणानि । किंविशिष्टौ तदंह्री? नखजितमणिजालौ नखैर्जिता मणिसमूहा याभ्यां तौ नखजितमणिजालौ । स्वश्रियापास्तपद्मौ स्वशोभया निराकृतकमलौ । गतिविधुरितहंसौ गत्या विधुरिता लक्षणया जिता हंसा याभ्यां तौ गतिविधुरितहंसौ । मार्दवातिप्रवालौ मार्दवेन सौकुमार्येण अतिक्रान्ताः प्रवालाः किसलया याभ्यां तौ मार्दवातिप्रवालौ । अत एव जितसर्वोपमानत्वात् तुलाकोटित्वमिति भावः ॥ ८० ॥

एवं स्नातविलिप्तभूषिततनू उद्धृत्य कन्ये उभे
मध्ये मातृगृहं निवेश्य दिविषद्योषा अदोषासने ।
गायन्त्यो धवलेषु तद्गुणगणं तद्वक्त्रवीक्षोत्सव-
च्छेदानाकुलनिर्निमेषनयनास्तस्थुः स्मरन्त्यो वरम् ॥

एवं० दिविषद्योषा देवांगना वरं स्मरन्त्यः सत्यः तस्थुः । किं कृत्वा ? उभे सुमंगलासुनन्दे कन्ये उद्धृत्य स्नानस्थानात् उत्पाद्य मध्ये मातृगृहं मातृगृहस्य मध्ये अदोषासने निर्दोषासने निवेश्योपवेश्य । किंविशिष्टे कन्ये ? एवं अमुना पूर्वोक्तप्रकारेण स्नातविलिप्तभूषिततनू स्नाता विलिप्ता भूषिताऽलंकृता च तनुः शरीरं ययोस्ते । अत्र अग्रेऽपि सन्धिर्न । किं कुर्वन्त्यो दिविषद्योषाः ? धवलेषु तद्गुणगणं तयोः वध्वोः गुणसमूहं गायंत्यः । पुनः किंविशिष्टाः ? तद्वक्त्रवीक्षोत्सवच्छेदानाकुलनिर्निमेषनयनाः, तयोः कन्ययोः वक्त्रस्य मुखस्य वीक्षा अवलोकनं सैव उत्सवः तस्य च्छेदे च्छेदविषये अनाकुले अव्याकुले निर्निमेषे निमेषरहिते नयने लोचने यासां ताः तद्वक्त्रवीक्षोत्सवच्छेदानाकुलनिर्निमेषनयनाः । मेषोन्मेषकारिणां जनानां वीक्षोत्सवच्छेदः स्यात् परं तासां स्वभावनिर्निमेषत्वात् नेत्रयोरनाकुलत्वमिति भावः ॥ ८१ ॥

इति अंचलगच्छे कविचक्रवर्तिश्रीजयशेखरसूरिविरचित श्रीजैन-
कुमारसंभवस्य तच्छिष्यश्रीधर्मशेखरसूरिविरचितायां टीकायां
श्रीमाणिक्यसुन्दरसूरिशोधितायां तृतीय-
सर्गव्याख्या समाप्ता ॥ ३ ॥

॥ अथ चतुर्थः सर्गः ॥

अथात्र पाणिग्रहणक्षणे प्रति-
क्षणं समेते सुरमण्डलेऽखिले ।
इलातलस्यातिथितामिवागता-
ममंस्त सौधर्मदिवं दिवःपतिः ॥ १ ॥

अथा० अथानन्तरं दिवःपतिरिन्द्रः सौधर्मदिवं इलातलस्य पृथ्वीमंडलतलस्य अतिथितां प्राघूर्णतामिवागतां अमंस्त मन्यते स्म । क्व सति ? अत्र अस्मिन् पाणिग्रहणक्षणे विवाहावसरे अखिले सुरमण्डले देवसमूहे प्रतिक्षणं क्षणं क्षणं प्रति समेते समागते सति ॥ १ ॥

नवापि वैमानिकनाकिनायका,
अधस्त्यलोकाधिभुवश्च विंशिनः ।
शशी रविर्व्यन्तरवासिवासवा,
द्विकाधिका त्रिंशदुपागमन्निह ॥ २ ॥

नवा० एकस्य पूर्वमागतत्वात् शेषा नवापि वैमानिकनायका इन्द्राः, च अन्यत्, विंशिनः विंशतिर्मानमेषामिति 'विंशतिनः डिन' (   ) इति सूत्रेण डिनप्रत्ययः इन 'स्युः विंशते स्तेडिते' (   ) अनेन तिलोपः 'डिः' (   ) इत्यंतस्वरादेरन्त्यस्वरलोपे विंशिन् इति । विंशतिसंख्या अधस्त्यलोकाधिभुवः पाताललोकस्य स्वामिनः; शशी चन्द्रः, रविः सूर्यः, व्यन्तरवासिवासवा व्यन्तरेन्द्रा द्विकाधिका त्रिंशत् द्वात्रिंशत् इह मण्डपे उपागमन् आगताः ॥ २ ॥

तदा ह्रदालोडनशाखिदोलन-
प्रियामुखालोकमुखो मखाशिनाम् ।
रसः प्रयाणस्य रसेन हस्तिनः,
पदेन पादान्तरवद्व्यलुप्यत ॥ ३ ॥

तदा० तस्मिन्नवसरे मखाशिनां देवानां ह्रदालोडनं ह्रदावगाहनं शाखिनो वृक्षास्तेषु दोलनं प्रियामुखालोकश्च एतत्प्रमुखो रसः प्रयाणस्य रसेन व्यलुप्यत लुप्तः । किंवत् ? पदान्तरवत् । यथा हस्तिनः पदेन द्विपदचतुःपदादीनां पादान्तरं लुप्यते 'सर्वे पदा हस्तिपदे प्रविष्टा' इति न्यायात् ॥ ३ ॥

विनिर्यतां स्वस्वदिवो दिवौकसां,
स कोऽपि घोषः सुहृदादिहूतिभूः ।
अभूद्विहायस्यपि यत्र गोव्रजं,
विमिश्रितं कः प्रविभोक्तुमीश्वरः ॥ ४ ॥

विनि० स्वस्वदिवो विनिर्यतां आत्मीय आत्मीय देवलोकान्निर्गच्छतां दिवौकसां देवानां सुहृदादिहूतिभूः सुहृदादीनां मित्रादीनां हूतिराकारणा तद्भूः सुहृदादिहूतिभूः । स कोऽपि घोषः कलकलो गोकुलं वा अभूत् । यत्र घोषे गोव्रजं वाणिसमूहं धेनूसमूहं वा विमिश्रितं एकीभूतं सत् विहायस्यपि आकाशेऽपि प्रविभक्तुं पृथक् कर्त्तुं क ईश्वरः समर्थः स्यादपि तु न कोऽपि ॥ ४ ॥

अमीषु नीरंध्रचरेषु कस्यचि-
न्निरीक्ष्य युग्यं हरिमन्यवाहनम् ।

इभो न भीतोऽप्यशकत्पलायितुं,
प्रकोपनः सोऽपि न तं च धर्षितुम् ॥ ५ ॥

अमी० अन्यवाहनं अन्यस्य देवस्य वाहनं इभो हस्ती कस्यचिद्देवस्य युग्यं यानभूतं हरिं सिंहं निरीक्ष्य दृष्ट्वा भीतोऽपि पलायितुं नाशकत्, न शक्तः। सोऽपि सिंहोऽपि प्रकोपन ईर्ष्यालुः सन् तं इभं हस्तिनं धर्षितुं न अशकत्। केषु सत्सु? अमीषु देवेषु नीरंध्रचरेषु निश्छिद्रं यथा भवति तथा चरेषु चलत्सु सत्सु। तिलोऽपि पतितो यत्र नाधो याति तन्नीरंध्रम् ॥ ५ ॥

महातनुः स्थूलशिरो विलोहिते-
क्षणः परस्यासनकासरः पुरः।
पलाययन् वाहनवाजिनो व्यधा-
त्तुरंगिणां प्राजनविश्रमं क्षणम् ॥ ६ ॥

महा० परस्यान्यस्य देवस्यासनसक्तकासरो महिषः तुरंगिणां अश्ववाराणां क्षणं प्राजनविश्रमं तर्जनकविश्रामं व्यधात्। किंलक्षणः कासरः? महातनुः महाशरीरः, स्थूलशिरो बृहन्मस्तकः, विलोहितेक्षणः आरक्तलोचनः। किं कुर्वन् कासरः? वाहनवाजिनो वाहनीभूतान् वाजिनस्तुरगान् पलाययन्। पूर्ववृत्ते नीरंध्रचरत्वं प्रोक्तं, अत्र तु पलायनं इत्थं वचनविरोधः स्यात्, परं मार्गे चलतां क्वापि असंकीर्णता भवति ततो न विरोधः ॥ ६ ॥

प्रभोर्विवाहाय रयाद्वियासतां,
वितेनिरे प्रत्युत सादिनां श्रमम्।

नभोनदीतीरतृणार्पिताननाः,
कशाप्रहारैः पथि यानवाजिनः ॥ ७ ॥

प्रभो० यानवाजिनः पथि मार्गे कशाप्रहारैः प्रत्युत विशेषात् सादिनां अश्ववाराणां श्रमं वितेनिरे चक्रुः, किं कुर्वतां अश्ववाराणाम् ? प्रभोः श्रीऋषभदेवस्य विवाहाय रयाद्वेगात् यियासतां गन्तुमिच्छताम् । किंलक्षणा यानवाजिनः ? नभोनदीतीरतृणार्पिताननाः—नभोनदी आकाशगंगा तत्सत्कतीरे यानि तृणानि तत्र क्षिप्तमुखाः । आकाशगंगायास्तीरे तृणानि कथमुद्गच्छंतीति केनापि पृष्टे प्रत्युत्तरमिदम्—यादृशी आकाशगङ्गा तादृंशि तृणान्यपि ज्ञेयानि परं लोकरूढ्यैव ज्ञेयम् । उक्तं च । कविशिक्षायाम् 'जले भाव्यं नभोनद्यामंभोजाद्यनदीष्वपि' इति अग्रतोऽपि व्यावर्णनं न दोषाय ॥ ७ ॥

मिथो निरुच्छ्वासविहारिणां सुधा-
भुजां भुजालंकृतिघट्टनात्तदा ।
मणिव्रजो यत्र पपात ते पयः,
क्षितिश्च रत्नाकरखानितां गते ॥ ८ ॥

मिथो० तदा तस्मिन्नवसरे मिथो निरुच्छ्वासविहारिणां मिथः परस्परं निरुच्छ्वासविहारिणां श्वासमपि विना चलनशीलानां सुधाभुजां देवानां भुजालंकृतिघट्टनात् भुजांगदघर्षणात् यत्र मणिव्रजः प्रपात, ते पयः पानी क्षितिश्च पृथ्वी च रत्नाकरखानितां रत्नाकरः समुद्रो रत्नखानिश्च तद्भावं गते प्राप्ते, अत्राप्यनुमानालंकारो ज्ञेयः ॥ ८ ॥

भवेत्प्रयाणे भुवि विघ्नकृन्मृगी-
दृशां नितंबस्तनभारगौरवम् ।
अधोऽवतारे तु सुपर्वयौवतै-
स्तदेव साहायककारि चिंतितम् ॥ ९ ॥

भवे० मृगीदृशीणां नितंबस्तनभारगौरवं प्रयाणमार्गे भुवि पृथिव्यां विघ्नकृद्भवेत्, तु पुनः, सुपर्वयौवतैर्देवयुवतीसमूहैरधोऽवतारे अधःपतने तदेव नितंबादिगौरवं सहायककारि चिंतितम् ॥ ९ ॥

उपात्तपाणिस्त्रिदशेन वल्लभा,
श्रमाकुला काचिदुदंचिकंचुका ।
वृषस्यया चाटुशतानि तन्वती,
जगाम तस्यैव गतस्य विघ्नताम् ॥ १० ॥

उपा० काचिद्देववल्लभा श्रमाकुला त्रिदशेन देवेन उपात्तपाणिर्गृहीतहस्ता सती तस्यैव गतस्य गमनस्य विघ्नतां जगाम । किं कुर्वंती? वृषस्यया मैथुनेच्छया चाटुशतानि तन्वती कुर्वंती, पुनः किंलक्षणा? उदंचिकंचुका उच्छ्वसत्कंचुका ॥ १० ॥

पुरस्सरीभूय मनाक् प्रमादिनं,
क्वचित्कृषन्तीष्वमरीषु वल्लभम् ।
वशा वशाः स्युः पथि पादशृंखला,
इति श्रुतिं केऽपि वृथैव मेनिरे ॥ ११ ॥

पुर० केऽपि देवा इति श्रुतिं वृथैव मेनिरे । इतीति किम् वशाः स्त्रियः पथि मार्गे वशाः पुरुषाणां पादशृङ्खला पादबन्धनानि स्युः । कासु सतीषु? अमरीषु देवीषु मनाक् स्तोकं

प्रमादिनं वल्लभं भर्तारं पुरस्सरीभूय अग्रे भूत्वा कृषंतीषु बलादाकर्षन्तीषु सतीषु ॥ ११ ॥

दिवो भुवश्चान्तरलं गतागतै-
रवाहि योऽध्वा त्रिदशैरनेकशः ।
द्युदण्डकत्वेन स एव विश्रुतः,
प्रपद्यतेऽद्यापि नभोऽब्धिसेतुताम् ॥ १२ ॥

दिवो० त्रिदशैर्देवैर्दिवः स्वर्गस्य भुवः पृथिव्याश्चान्तर्मध्ये अलं अत्यर्थं गतागतैर्गमनागमनैर्योऽध्वा मार्गो अनेकशो अनेकवारान् अवाहि वाहितः, स एव अध्वा द्युदण्डकत्वेन विश्रुतो विख्यातः सन् अद्यापि नभोऽब्धिसेतुतां आकाशसमुद्रे सेतुबन्धत्वं प्रपद्यते ॥ १२ ॥

जनिर्जिनस्याजनि यत्र सा मही,
महीयसी नः प्रतिभाति देवता ।
इतीव देवा भुवमागता अपि,
क्रमैर्न सम्पस्पृशुरेव तां निजैः ॥ १३ ॥

जनि० देवा भुवं पृथ्वीं आगता अपि निजैः क्रमैस्तां भुवं न संपस्पृशुरेव नैव स्पृष्टवन्तः । उत्प्रेक्ष्यते—इतीव । इतीति किम् ? यत्र यस्यां पृथ्व्यां जिनस्य श्रीऋषभदेवस्य जनिर्जन्म अजनि, सा मही पृथ्वी नो अस्माकं महीयसी अत्यन्तं महती देवता प्रतिभाति, देवतावन्मान्या; देवता च कथं चरणैः स्पृश्यते इति भावः ॥ १३ ॥

मुहूर्तमासीदति किं बिडौजसां,
प्रमादितेत्युद्गिरि नाकिमण्डले ।

विमानमानंज तमंजसा वरं,
वरेण्यतैलैः प्रथमः पुरन्दरः ॥ १४ ॥

मुहू० प्रथमः पुरन्दरः इन्द्रो वरेण्यतैलैः प्रशस्यतैलैस्तं वरं श्रीऋषभं अंजसा सामस्त्येन विमानं निरहंकारं यथा भवति तथा आनंज अभ्यनक्ति स्म । क्व सति? नाकिमण्डले देवसमूहे इति उद्गिरि उद्गतवाचि सति । इतीति किम्? मुहूर्तं आसीदिति आसन्नं भवति, बिडौजसां इन्द्राणां किं प्रमादिता प्रमादकारिता ॥ १४ ॥

तनूस्तदीया पटवासकैरभा-
द्विशेषतः शोषिततैलताण्डवा ।
अकृत्रिमज्योतिरमित्रमत्र न,
स्निहिक्रिया स्याद्बहिरंगगापि किम् ॥ १५ ॥

तनू० तदीया तस्य स्वामिनस्तनुः शरीरं पटवासकैः पिष्टातैः शोषिततैलताण्डवा सती शोषितां शोषं नीतं तैलस्य तांडवं नृत्यं यत्र सा एवंविधा सती विशेषतो भात् दिदीपे, अत्रास्मिन् भगवति बहिरंगगापि बाह्यशरीरस्थापि स्निहिक्रिया किं अकृत्रिमा ज्योतिषः अमित्रं विरोधिनी न स्यात् अपि तु स्यादेव । कोऽर्थः? भगवतः शरीरे यन्मुख्यं तेजस्तत्तैलाभ्यंगेन आवृतमभूत्, पिष्टातैस्तैले शोषिते तत्प्रकटं जातमिति भावः ॥ १५ ॥

जलानि यां स्नानविधौ प्रपेदिरे,
पवित्रतां तद्विशदाङ्गसङ्गतः ।
तयैव तैरादरसंगृहीतया-
धुनापि विश्वं पवितुं प्रभूयते ॥ १६ ॥

जला० जलानि पानीयानि स्नानविधौ स्नाने कार्यमाणे तद्विशदाङ्गसङ्गतस्तस्य भगवतो निर्मलाङ्गसंसर्गात् पवित्रतां प्रपेदिरे प्रपन्नानि । आदरसङ्गृहीतया तयैव पवित्रतया तैर्जलै-रधुनापि विश्वं पवितुं पवित्रीकर्तुं प्रभूयते समर्थीभूयते ॥१६॥

सुवस्त्रदान्तोदकलेपभासुरः,
समन्ततः सङ्गतदिव्यचन्दनः ।
घनात्ययोद्वान्तजलं मरुद्गिरेः,
सिताभ्रलिप्तं कटकं व्यजेष्ट सः ॥ १७ ॥

सुव० स भगवान् मरुद्गिरेः मेरुपर्वतस्य सिताभ्रलिप्तं शरत्काले मेघानां शुभ्रत्वात् श्वेताभ्रैर्लिप्तं कटकं व्यजेष्ट जितवान् विपूर्वकजेर्धातोः 'परावेर्जेः' (सि० ३।३।२८) इति सूत्रेणात्मनेपदम्, किंविशिष्टः सः ? सुवस्त्रदान्तोदकलेपभासुरः सुवस्त्रेण गन्धकाषायिकेन दान्तो यस्य उदकलेपस्तेन भासुरो देदीप्यमानः । पुनः किंविशिष्टः सः ? समंततः सर्वतः संगतं मिलितं दिव्यचन्दनं गोशीर्षचन्दनं यस्य सः । किंलक्षणं मेरोः कटकम् ? घनात्ययोद्वान्तजलं, घनात्यये शरत्काले उद्वान्तं शुष्कं जलं यस्य तद् घनात्ययोद्वान्तजलम् ॥ १७ ॥

अमुं पृथिव्यामुदितं सुरद्रुमं,
निरीक्ष्य हृन्मूर्ध्नि सुमांचितं सुराः ।
जगत्प्रियं पुत्रफलोदयं वयः,
क्रमादवोचन्नचिरेण भाविनाम् ॥ १८ ॥

अमुं० सुरा देवा अमुं भगवन्तं पृथिव्यां उदितं सुरद्रुमं कल्पवृक्षं निरीक्ष्य वयःक्रमात् षट्लक्षपूर्वानन्तरं अपि अचिरेण

स्तोककालेन भाविनं पुत्रफलोदयं भरतबाहुबलिप्रभृतिपुत्ररूपफलोदयमवोचन् । किंलक्षणं अमुम्? हृन्मूर्ध्नि सुमांचितं हृदये मस्तके च मन्दारसहितं हरिचन्दनपारिजातादिकुसुमैः पूजितं हृन्मूर्ध्नि इति 'प्राणितूर्यांगाणाम्' (सि० ३।१।१३७) इति सूत्रेण एकत्वं ज्ञेयमत्र जगत्प्रियं विश्वाभीष्टम् ॥ १८ ॥

अदःकचश्च्योतनवारिविप्रुषो,
निपीय यैश्चातकितं तदामरैः ।
ततः परं तेषु गतं सुधावधि,
स्वधिक्क्रियामेव ययौ रसान्तरम् ॥ १९ ॥

अदः० तदा तस्मिन्नवसरे यैरमरैः देवैः अदःकचश्च्योतनवारिविप्रुषः अमुष्य भगवतः कचाः केशास्तेषां श्च्योतने क्षरणे वारिविप्रुषो जलबिन्दून् निपीय पीत्वा चातकितं बप्पीहवदाचरितं, ततःपरं तेषु अमरेषु सुधावधि अमृतावधि रसान्तरं अपरो रसः, स्वकीयां धिकृक्रियां निन्दामेव ययौ प्राप्तः ॥१९॥

महेशितुः सद्गुणशालिनो वृष-
ध्वजस्य मौलिस्थितितोऽधिकं बभुः ।
अमुष्य सर्वाङ्गमुपेत्य सङ्गमं,
विशुद्धवस्त्रच्छलगाङ्गवीचयः ॥ २० ॥

महे० विशुद्धवस्त्रच्छलगाङ्गवीचयो विशुद्धेन निर्मलवस्त्रच्छलेन ये गाङ्गाः गङ्गासम्बन्धिनो वीचयः कल्लोलाः ते अमुष्य भगवतः सर्वाङ्गसङ्गमं उपेत्य प्राप्य मौलिस्थितितो मस्तकस्थितेरधिकं बभुः, शोभिताः । किंलक्षणस्य अमुष्य भगवतः? महेशितुः महांश्चासौ ईशिता च महेशिता तस्य

महेशितुः सतां गणैः समूहैः शालिनः शोभमानस्य वृषध्वजस्य वृषभलांछनस्य, पक्षे महेशितुः ईश्वरस्य सद्गुणशालिनः सन्तो विद्यमाना नंदिवंदिप्रमुखा गणास्तैः शालिनः । ईश्वरगणाश्चामी, तद्यथा—महाकालः पुनर्बाणो लूनबाहुर्वृषाणकः । वीरभद्रः सुधीराजो हेरकस्तु कृतालकः ॥ १ ॥ अथ चंडो महश्चंडः कुशंडी कंकणप्रियः । मज्जनो छागः छागमोघौ महाघसः ॥ २ ॥ महाकपाल आलावः संतापनविलेपनौ । महाकपोलः पेलेजः शङ्खवर्णः शरस्तपः ॥ ३ ॥ उल्कामाली महाजंभः श्वेतपादः खरांडकः । गोपालो ग्रामणी घंटाकर्णकर्णकराध्वमौ ॥ ४ ॥ एभिः गणैः शोभमानस्य ईश्वरस्य शिरसि गङ्गाकल्लोलाः स्युः । अत्र तु सर्वांगे वस्त्रछत्रं गङ्गाकल्लोला अभूवन्निति विशेषः ॥ २० ॥

कचान्विभोर्वासयितुं सुगन्धयः,
प्रयेतिरे ये जलकेतकादयः ।
अमीषु ते प्रत्युत सौरभश्रियं,
न्यधुर्न मोघा महतां हि सङ्गतिः ॥ २१ ॥

कचा० जलशब्देन वालकः केतकादयश्च ये सुगन्धयः पदार्थाः विभोः स्वामिनः कचान् केशान् वासयितुं प्रयेतिरे उपक्रान्ताः । ते कचा अमीषु जलकेतकादिषु प्रत्युत विशेषतः सौरभश्रियं न्यधुर्निक्षिप्तवन्तः, हि निश्चितं महतां सङ्गतिर्मोघा निःफला न वर्तते, भगवन्तो देहस्य जन्मप्रभृति स्वभावतः सुगन्धित्वात् केशादिवासनं देवैर्व्यवहारार्थमेव कृतम् ॥ २१ ॥

पिनद्धकोटीरकुटीरहीरक-
प्रभास्य मौलेरुपरि प्रसृत्वरी ।
प्रतापमेदस्विमदां विवस्वतो-
ऽभिषेणयन्तीव करावलीं बभौ ॥ २२ ॥

पिनद्ध० पिनद्धो बद्धः कोटीरो मुकुटः स एव कुटीरं स्थानं, तत्र ये हीरकास्तेषां प्रभा अस्य भगवतो मौलेर्मस्तकस्योपरि प्रसृत्वरी प्रसरणशीला सती बभौ शोभिता । किं कुर्वती ? उत्प्रेक्ष्यते प्रतापमेदस्विमदां प्रतापेन स्थूलमदां विवस्वतः सूर्यस्य करावलीं किरणश्रेणिं अभिषेणयन्तीव सेनयाभिसन्मुखं यान्तीव ॥ २२ ॥

सनिष्कलङ्कानुचरः प्रभार्णवं,
विगाह्य नावेव दृशा तदाननम् ।
शिरः पदं पुण्यजनोचितं जनो,
ददर्श दूरान्मुकुटं त्रिकूटवत् ॥ २३ ॥

सनि० जनो लोकस्त्रिकूटवत्, शिखरत्रययुक्तं, पक्षे त्रिकूटनामा पर्वतस्तद्वत्, मुकुटं दूराद्ददर्श, किंविशिष्टो जनः ? सनिष्कलङ्कानुचरः निर्दोषानुचरा निष्कलङ्कानुचरास्तैः सह वर्तते यः स सनिष्कलंकानुचरः । पक्षे निष्कं सुवर्णं तेन सह वर्तते, या सा सनिष्का तां लंकां अनुचरतीति सनिष्कलङ्कानुचरः । किं कृत्वा ? प्रभाया अर्णवं समुद्रं, तदाननं तस्य भगवतो मुखं नावैव वेडिकयेव दृशा अवगाह्य । किंविशिष्टं मुकुटम् ? शिरःपदं शिरसि मस्तके पदं स्थानं यस्य तत् शिरःपदम्, पक्षे शिरसां शिखराणां पदं स्थानम् । पुनः किंविशिष्टम् ? पुण्यजनोचितं

पुण्याः पवित्रा जनास्तेषां उचितम् । यथा प्रावाहणिको लोको लङ्कासमीपे त्रिकूटं पर्वतं पश्यति, तथा भगवतः शिरसि मुकुटं दृष्टवान्, अतो मुकुटत्रिकूटयोः साम्यम् । मुकुटशब्दो नपुंसकेऽपि ॥ २३ ॥

ललाटपट्टेऽस्य पृथौ ललाटिका-
निविष्टमुक्तामिषतोऽक्षराणि किम् ? ।
पतिंवरे पाठयितुं रतिश्रुतिं,
लिलेख लेखप्रभुपण्डितः स्वयम् ॥ २४ ॥

लला० लेखप्रभुपण्डितः लेखा देवास्तेषां प्रभुः स्वामीन्द्रः स एव पण्डित इन्द्रः, पक्षे लिखनं लेखः तद्विषये प्रभुः समर्थः एवंविधः पण्डितः । पृथौ विस्तीर्णे ललाटपट्टे । ललाटिकानिविष्टमुक्तामिषतो ललाटिका ललाटाभरणं तत्र निविष्टोपविष्ट मुक्ता मौक्तिकमिषात् स्वयं किं अक्षराणि लिलेख, अन्योऽपि लिखने समर्थः पंडितः, पट्टके लिखित्वा पाठयति । किं कर्तुम् ? पतिंवरे सुमंगलासुनन्दे रतिश्रुतिं पाठयितुम् ॥ २४ ॥

उदित्वरं कुण्डलकैतवाद्रवि-
द्वयं विदित्वा परितस्तदाननम् ।
क्षितेक्षिते श्रीरिह वज्रिणामपि-
त्यजन्यजन्यं विबुधैः फलं जगे ॥ २५ ॥

उदि० विबुधैर्देवैर्दक्षैर्वा तदाननं तस्य भगवतो मुखं परितः कुण्डलकैतवात् कुण्डलयोः कैतवात् मिषात् उदित्वरं उदयनशीलं रविद्वयं सूर्ययुगलं विदित्वा ज्ञात्वा इति अजन्यजन्यं

अजन्येन उत्पातेन जन्यं जनितं फलं जगे उक्तम्। इतीति किम्? इह रविद्वये सूर्यद्विके ईक्षिते दृष्टे सति वज्रिणामपि इन्द्राणां श्रीर्लक्ष्मीः क्षिता क्षयं गता, सूर्यद्वये चन्द्रद्वये च दृष्टे राज्ञां उत्पातः स्यादिति भावः ॥ २५ ॥

उदारमुक्तास्पदमुल्लसद्गुणा,
समुज्ज्वला ज्योतिरुपेयुषी परम्।
तदा तदीये हृदि वासमासद-
द्व्रतेऽक्षरश्रीरिव हारवल्लरी ॥ २६ ॥

उदा० तदा तस्मिन्नवसरे हारवल्लरी तदीये हृदि तस्य भगवतो हृदये वासं आसदत् प्राप्ता। केव? अक्षरश्रीरिव मोक्षलक्ष्मीरिव; यथा अक्षरश्रीर्व्रते दीक्षायां सत्यां तदीये हृदि वासं आसदयति 'सिद्धिमिच्छन्ति योगिन' इति भावः। किंविशिष्टा हारवल्लरी? उदारमुक्तास्पदं उदाराणां मुक्तानां मौक्तिकानां आस्पदं स्थानम्। पुनः किंविशिष्टा? उल्लसद्गुणा उल्लसत् गुणो दवरको यस्याः सा उल्लसद्गुणा। पुनः किंविशिष्टा? समुज्ज्वला निर्मला परं ज्योतिरुपेयुषी, परं प्रकृष्टं ज्योतिः तेजः तं प्राप्ता। अक्षरश्रीः किंलक्षणा? उदारमुक्तास्पदम् उत् ऊर्ध्वं आरो गमनं येषां ते उदारा एवंविधा मुक्ताः सिद्धास्तेषां आस्पदं स्थानम्। पुनः किंलक्षणा? उल्लसन्तो गुणा ज्ञानदर्शनादयो यस्यां सा उल्लसद्गुणा। पुनः किंविशिष्टा? परं ज्योतिः परब्रह्मसत्कं तेजःप्राप्ता समुज्ज्वला च ॥ २६ ॥

जगत्त्रयीरक्षणदीक्षितौ क्षितौ,
भुजौ तदीयाविति केन नेष्यते।

अवाप हेमाऽपटुसंज्ञमप्यहो,
यदंगदत्वं तदुपासनाफलम् ॥ २७ ॥

जग० केन पुंसा इति न इष्यते न मन्यते, अपि तु सर्वेणापि (मन्यते एव) । इतीति किम् ? क्षितौ पृथिव्यां तदीयौ भुजौ जगत्रयीरक्षणदीक्षितौ जगत्रयीरक्षणाय दीक्षितौ, लक्षणया समर्थौ वर्तते । हेतुमाह—यत् यस्मात् कारणात् हेम सुवर्णं अपटुसंज्ञमपि, अहो इति आश्चर्ये, अंगदत्वं बाहुरक्षत्वं, पक्षे देहदायकत्वं अवाप । किंविशिष्टं अंगदत्वम् ? तदुपासनाफलं तयोर्भुजयोः सेवाया फलम् ॥ २७ ॥

प्रकोष्टकन्दं कटकेन वेष्टितं,
विधाय मन्येऽस्य ररक्ष वासवः ।
सपंचशाखोऽमरभूरुहो यदु-
द्भवस्त्रिलोकीमदरिद्रितुं क्षमः ॥ २८ ॥

प्रको० अहं एवं मन्ये, वासव इन्द्रः अस्य भगवतः प्रकोष्टः कलाचिका तस्याः कन्दं कटकेन कङ्कणेन, पक्षे सैन्येन वेष्टितं विधाय कृत्वा ररक्ष । यदुद्भवः यस्मात् प्रकोष्टकंदादुद्भव उत्पत्तिर्यस्य स यदुद्भवः, स सर्वप्रसिद्धः, पञ्चशाखो हस्तः पक्षे सपंचशाखः पञ्चशाखासहितः अमरभूरुहः कल्पवृक्षस्त्रिलोकीं त्रिभुवनं अदरिद्रितुं अदरिद्रीकर्तुं क्षमः समर्थो वर्तते। यस्मात् कन्दात् एवंविधः कल्पद्रुमः स्यात् स कथं न रक्ष्यत इति भावः ॥ २८ ॥

तलं करस्यास्य परं परिष्कृता-
खिलाङ्गसाधोर्यदभूदभूषितम् ।

अवैमि देव्या वसनाय तच्छ्रियो,
रतिं न भूम्ना भुवि यान्ति देवताः ॥ २९ ॥

तलं० यत् अस्य भगवतः करस्य हस्तस्य तलं, परं केवलं, अभूषितं अनलङ्कृतं, पक्षे न भुवि उषितं अभूषितं अभूत् । किंविशिष्टस्य भगवतः ? परिष्कृतेन अलङ्कृतेन अखिलेन समस्तेन अङ्गेन साधोर्मनोज्ञस्य तत् श्रियो देव्या वसनाय अवैमि जानामि । देवता भुवि पृथिव्यां भूम्ना बाहुल्येन रतिं निर्वृतिं न यन्ति न प्राप्नुवन्ति, एतावता लक्ष्मीः प्रभोः करतले वसतीति भावः ॥ २९ ॥

सुवर्णमुक्तामणिभासि वासवै-,
र्न्यवेशि तस्यापघनेषु येषु यत् ।
तदीयमुख्यद्युतिभङ्गभीषणं,
विभूषणं तैस्तदभानि दूषणम् ॥ ३० ॥

सुव० वासवैरिन्द्रैस्तस्य भगवतो येषु येषु अपघनेषु अवयवेषु यत् सुवर्णमुक्तामणिभासि सुवर्णैर्मौक्तिकैर्मणिभिश्च भासि देदीप्यमानं भूषणं न्यवेशि निवेशितम् । तैर्वासवैस्तदीयमुख्यद्युतेर्भङ्गेन भीषणं रौद्रं तत् भूषणं दूषणं अमानि । येषु प्रभोरवयवेषु भूषणं निवेश्यते, तेन भूषणेन तेषां अवयवानां काचिन्निरुपमा कान्तिराच्छाद्यते, ततो भूषणानां दूषणत्वमिति भावः ॥ ३० ॥

यथा भ्रमर्यः कमले विकस्वरे,
यथा विहङ्ग्यः फलिते महीरुहे ।

उपर्युपर्यात्तविभूषणे विभौ,
तथा निपेतुस्त्रिदशाङ्गनादृशः ॥ ३१ ॥

यथा० त्रिदशाङ्गनादृशो देवाङ्गनादृष्टय आत्तविभूषणे गृहीतालङ्करणे विभौ स्वामिनि उपरि उपरि तथा निपेतुः पतिताः । यथा भ्रमर्यो विकस्वरे कमले, यथा विहङ्ग्यः पक्षिण्यः फलिते महीरुहे वृक्षे निपतन्ति । पूर्ववृत्ते भूषणानां दूषणत्वमारोपितं, अत्र तु भूषणकृता शोभा आरोपिता परं विचित्रा कविव्यावर्णना, यथा भक्तामरस्तवे 'वक्त्रं क ते' इति वृत्ते चन्द्रविम्बस्य निन्दा कृता, 'नित्योदयमिति' वृत्ते पुनरपि चन्द्रबिम्बोपमा रोपिता ॥ ३१ ॥

हिरण्यमुक्तामणिभिर्निजश्रिय-
श्चिराच्चितायाः फलिनत्वमाप्यत ।
अलङ्कृते नेतरि नाकिनां करैः,
प्रसाधनाकर्मणि कौशलस्य च ॥ ३२ ॥

हिर० नेतरि स्वामिनि अलङ्कृते सति हिरण्यमुक्तामणिभिर्हिरण्यैः सुवर्णैर्मुक्ताभिर्मणिभिश्च चिरात् चितायाः सञ्चितायाः निजश्रियः फलिनत्वं सफलत्वं आप्यत प्राप्तम् । यद्गृहे सुवर्णमुक्तामणयः स्युस्तत्रैव लक्ष्मीर्वसतीति प्रसिद्धिस्तेऽत्वेव लक्ष्मीवास इति भावः । च अन्यत्, नाकिनां देवानां करैर्हस्तैः प्रसाधनाकर्मणि मण्डनविधौ कौशलस्य फलिनत्वं फलवत्वं प्राप्तम् ॥ ३२ ॥

अथानयत्तस्य पुरः पुरन्दरः,
कृताचलेन्द्रभ्रमभ्रमूपतिम् ।

व्यसिस्मयद्यत्कटकान्मदाम्बुभिः,
क्षरद्भिराबद्धजवा यमी न कम् ॥ ३३ ॥

अथा० अथानन्तरं पुरन्दरः तस्य पुरो अग्रे अभ्रमूपतिं ऐरावणं आनयत् । किंविशिष्टं अभ्रमूपतिम्? कृताचलेन्द्रभ्रमं कृतोऽचलेन्द्रस्य हिमाचलस्य भ्रमो येन स कृताचलेन्द्रभ्रमस्तं कृताचलेन्द्रभ्रमं, श्वेतवर्णत्वात् । यमी यमुना कं पुरुषं न व्यसिस्मयत् कं न विस्मापयतिस्म अपि तु सर्वमेव । किंविशिष्टा यमी? यत्कटकात् यस्य कपोलात्, पक्षे कटकात् पर्वतमध्यप्रदेशात् क्षरद्भिर्मन्दांबुभिर्मन्दजलैः आ सामस्त्येन बद्धजवा बद्धवेगा । हिमवतो गङ्गा प्रभवति नतु यमुनेत्याश्चर्यम् ॥ ३३ ॥

अगुप्तसप्तांगतयाप्रतिष्ठित-
स्तरोनिधिर्दानविधिस्फुरत्करः ।
प्रगूढचारः सकलेभराजतां,
दधौ य आत्मन्यपरापराजिताम् ॥ ३४ ॥

अगु० य ऐरावण आत्मनि विषये अपरापराजिताम् अपरैः अन्यैः अपराजितां अनिर्जितां सकलेभराजतां सकलेषु समस्तेषु इभेषु हस्तिषु राजतां राजत्वं दधौ । किंलक्षणो ऐरावणो राजा च? अगुप्तसप्तांगतया प्रतिष्ठितः । अगुप्तानि प्रकटानि शुंडापुच्छमेण्ढ्रपादाश्च सप्तांगानि, पक्षे स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि चेति सप्त राज्यांगानि तद्भावेन प्रतिष्ठितः । पुनः किंलक्षण ऐरावणः? तरोनिधिस्तरोवेगः पक्षे बलं तस्य निधिः, पुनः किंलक्षणः? दानविधिस्फुरत्करः, दानं मदजलं फलवत्वं तद्विधौ स्फुरन् करः शुंडादण्डः, पक्षे दानवितरणं तस्य विधौ

स्फुरन् करो हस्तो यस्य स दानविधिस्फुरत्करः । पुनः किंलक्षणो ऐरावणः ? प्रगूढचारः प्रगूढश्चारो गतिर्यस्य सः, पक्षे प्रगूढाश्चाराश्चरपुरुषा यस्य स प्रगूढचारः ॥ ३४ ॥

क्रमोन्नतस्तंभचतुष्टयांचितः,
शुभंयुकुंभद्वितयं वहन् पुरः ।
गवाक्षकल्पश्रुतिरग्रदन्तको,
जगाम यो जंगमसौधतां श्रियाः ॥ ३५ ॥

क्रमो० य ऐरावणः श्रियो लक्ष्म्या जङ्गमसौधतां चलदावासत्वं जगाम । किंविशिष्टः ऐरावणः सौधं च ? क्रमोन्नतस्तंभचतुष्टयांचितः क्रमाश्चरणा एवोन्नता उच्चैस्तरास्तंभास्तेषां चतुष्टयेन युक्तः, पुनः किंकुर्वन् ? पुरोऽग्रे शुभंयुः शुभसंयुक्तं कुंभद्वितयं कुंभस्थलयुगलं वहन्, पुनः किंविशिष्टः ? गवाक्षकल्पश्रुतिर्गवाक्षसदृशकर्णः । अग्रदन्तकः अग्रे दन्ता एव दन्तका यस्य । सौधमपि क्रमेण उन्नतस्तंभचतुष्टयांचितं स्यात्, पुरः कुंभद्वितयं कलशद्वितयं वहति गवाक्षयुक्तं स्यात्, अग्र्याः प्रधाना दन्तका घोटकाकारकाष्ठानि यत्र तत् एवंविधं च स्यात्, एवं हस्तिसौधयोः सादृश्यं ज्ञेयम् ॥ ३५ ॥

वृषध्वजेशानविभोः पवित्र्यते,
सदासनं किं मम नो मनागपि ।
चटूक्तिमाधस्य हरेः प्रमाणय-
न्निवेति तं वारणमारुरोह सः ॥ ३६ ॥

वृष० स भगवान् वारणं गजमारुरोह चटितः, किं कुर्वन् ?

उत्प्रेक्ष्यते—आद्यस्य हरेः सौधर्मेन्द्रस्य इतिवदुक्तिं चाटुवचनं प्रमाणयन्निव प्रमाणं कुर्वन्निव । इतीति किम्? हे वृषभध्वज त्वया ईशानविभोरीशानेन्द्रस्य आसनं सदासनं पवित्र्यते पवित्रीक्रियते, ममासनं मनागपि स्तोकमपि किं नो पवित्र्यते, ईशानेन्द्रस्य वाहने वृषभः, भगवानपि वृषभध्वज इति भावः ॥ ३६ ॥

शरद्घनः कांचनदण्डपाण्डुरा-
तपत्रदंभात्तडिता कृताश्रयः ।
जनैरदानेति जुगुप्सितो जिनं,
न्यसेवताध्येतुमुदारतामिव ॥ ३७ ॥

शर० कांचनदण्डपाण्डुरातपत्रदंभात् कांचनस्य दण्डो यस्य तत् काञ्चनदण्डं, एवंविधं पाण्डुरातपत्रं श्वेतच्छत्रं तस्य दम्भात् तडिता विद्युता कृताश्रयः सन् शरद्घनः शरत्कालमेघः यं भगवन्तं न्यसेवत, सेवते स्म । सुवर्णवर्णो विद्युत्सदृशः छत्रं च मेघसदृशमिति । किं कर्तुम्? उत्प्रेक्ष्यते—उदारतां औदार्यगुणमध्येतुं शिक्षितमिव । किंलक्षणः शरद्घनः? जनैर्लोकैरदाता कृपण इति जुगुप्सितो निंदितः गर्हितः 'गर्जति शरदि न वर्षति' इति वाक्यात् ॥ ३७ ॥

विहाय नूनं शशिनं कलंकिनं,
प्रकीर्णकच्छद्मधरः करोत्करः ।
शुचिं बभाजोभयतस्तदाननं,
विधुं विधाय प्रणतिं मुहुर्मुहुः ॥ ३८ ॥

विहा० नूनं निश्चितं कलंकिनं कलंकयुक्तं शशिनं चन्द्रं

विहाय त्यक्त्वा करोत्करः किरणसमूहः मुहुः २ वारं २ उभयतः द्वयोः पार्श्वयोः प्रणतिं प्रणामं विधाय कृत्वा शुचिं पवित्रं तदाननं तस्य स्वामिनो मुखं विधुं चन्द्रं बभाज, सेवते स्म । किंविशिष्टः करोत्करः ? प्रकीर्णकछद्मधरः प्रकीर्णकयोश्चामरयोश्छद्मधरतीति प्रकीर्णछद्मधरः ॥ ३८ ॥

विमुक्तवैरा मृदुतिग्मताजुषः,
सुराऽसुराः स्वोचितचिह्नभासुराः ।
प्रभुं परीयुः शशिभास्वतोरिवां-
शवो गोत्रमुदारनंदनम् ॥ ३९ ॥

विमु० सुरासुरा देवदानवाः प्रभुं स्वामिनं परीयुः परिवव्रुः । किंलक्षणाः सुरासुराः ? विमुक्तवैरा परस्परं प्रीतिभाजः । पुनः किंलक्षणाः सुरासुरा ? मृदुतिग्मताजुषः, मृदुता सौकुमार्यं तिग्मता तीव्रत्वं जुषन्ते सेवन्ते इति मृदुतिग्मताजुषः । पुनः किंलक्षणाः ? स्वोचितचिन्हभासुराः स्वस्य आत्मनः उचितानि योग्यानि चूडामणिफणिगरुडेवजेतहकलससीहअसोय इत्यादि चिह्नानि लांछनानि तैर्देदीप्यमानाः । के इव ? शशिभास्वतो-श्चन्द्रसूर्य्ययोः अंशवः किरणा इव । यथा शशिभास्वतोः किरणा दिवो गोत्रं मेरुपर्वतं परियन्ति परिवृण्वन्ति । किंविशिष्टं प्रभुं मेरुं च ? उदारनन्दनं उदारं नन्दनं समृद्धिकरं च, मेरुपक्षे उदारं नंदनं वनं यस्य स तं, शशिभास्वतोः करा अपि मृदुतिग्मताजुषो भवन्ति ॥ ३९ ॥

प्रभुः प्रतस्थेऽथ बुधे स्वधैर्यतः,
समेधयन् रक्तिविरक्तिसंशयम् ।

न मारतारुण्यविभुत्वयोगजा-
भिमानघोरासवघूर्णितेक्षणः ॥ ४० ॥

प्रभुः० अथानन्तरं प्रभुः श्रीऋषभदेवः प्रतस्थे परिणेतुं चलितः । किं कुर्वन् प्रभुः ? बुधे विदुषि स्वधैर्यतः आत्मीयधीरत्वात् रक्तिविरक्तिसंशयं रागवैराग्यसंदेहं समेधयन् सामस्त्येन वर्धयन् । पुनः किंलक्षणः प्रभुः ? न मारतारुण्यविभुत्वयोगजाभिमानघोरासवघूर्णितेक्षणः, मारः कन्दर्पः तारुण्यं यौवनं विभुत्वं प्रभुता तेषां योगादुत्पन्नो योऽभिमानरूप एव घोरो रौद्रो आसवो मदिरा तेन न घूर्णितेक्षणः; न घूर्णितलोचन इत्यर्थः ॥ ४० ॥

अमाति लावण्यभरे स्वभावतो-
ऽप्यमुष्य देहे किमुतोत्सवे सदा ।
स्थितानुपुष्टं लवणं सुरांगनो-
चितं समुत्तारयतिस्म काचन ॥ ४१ ॥

अमा० काचन सुराङ्गना अनुपृष्टं भगवतोऽनुपश्चात् स्थिता सती लवणं उचितं योग्यं समुत्तारयति स्म । क सति ? अमुष्य देहे स्वभावतोऽपि लावण्यभरे लावण्यसमूहे आभाति सति, तदा उत्सवे किमुत किमुच्यते ॥ ४१ ॥

वरस्य दृष्टान्तयुतं पुरस्सरी,
सुरीषु यं यं धवलैर्गुणं जगौ ।
न तत्र तत्र स्वमवेत्य किं शची,
शुशोच हीनोपमयापराधिनम् ॥ ४२ ॥

वर० शची इन्द्राणी सुरीषु देवीषु पुरःसरी अग्रेसरी सती वरस्य श्रीऋषभदेवस्य धवलैः कल्पद्रुमकामधेनुचिंतामणिकामकुम्भप्रभृतिदृष्टान्तयुतं यं औदार्यधैर्यगाम्भीर्यमाधुर्यादिगुणं जगौ गायति स्म, तत्र तत्र हीनोपमायां स्वं अपराधिनं अवेत्य ज्ञात्वा (किं?) न शुशोच । अपि तु शोचते स्म ॥ ४२ ॥

फलानि यासामशनं द्युभूरुहां,
सुधारसैः पानविधिस्तदुद्भवैः ।
उलूलगानैः प्रमदः सुधाभुजां,
भुजान्तरीयोऽपि मुमूर्च्छ कौतुकम् ॥ ४३ ॥

फला० यासां देवांगनानां द्युभूरुहां कल्पवृक्षाणां फलानि अशनं भोजनं वर्तते, यासां सुधारसैरमृतरसैः पानविधिः स्यात् । तदुद्भवैः ताभ्यो देवाङ्गनाभ्यः उद्भवैः जातैः उलूलगानैर्धवलगानैः सुधाभुजां देवानां भुजान्तरीयोऽपि हृदयसंबध्यपि प्रमदो हर्षः मुमूर्च्छ मूर्च्छां प्राप । तत्कौतुकं ज्ञेयम्—भुजान्तरं हृदयं दृढं वर्ण्यते, तज्जातप्रमदोऽपि दृढ एवास्तु, दृढस्य च मूर्च्छा कथमिति अपिशब्दो द्योतयति । कोऽर्थः? अमृतरसभोजिनीभ्यः अमृतरसपायिनीभ्यो देवांगनाभ्यो जाता धवला अतिअमृतमयाः स्युः । सुधाभुजां अमृतभोजिनां प्रमदोऽपि मूर्च्छां कथमाप्नोति? परमेवंविधे सत्यपि धवलैर्यत्प्रमदो हर्षो मुमूर्च्छ, तत्कौतुकं ज्ञेयम् । पक्षे मुमूर्च्छ वृद्धिं प्राप्त इति भावः । देवानां फलाशनं अमृतपानं, देवानामपि सुधाभोजित्वं लोकरूढ्या ज्ञेयम्, अन्यथा कावलिकाहारस्य निषिद्धत्वात् ॥ ४३ ॥

हरौ पदातित्वमिते जगत्रयी-
पतौ सितेभोपगते सुरैः क्षणम् ।
किमेष एव द्युसदीशितेत्यहो,
वितर्कितं च क्षमितं च तत्क्षणम् ॥ ४४ ॥

हरौ० हरौ इन्द्रे पदातित्वं पादचारित्वं इते प्राप्ते सति जगत्रयीपतौ श्रीऋषभदेवे सितेभोपगते ऐरावणाधिरूढे सति सुरैर्देवैः । अहो इति आश्चर्ये, क्षणं इति वितर्कितं ईदृशं विचारितम् । इतीति किम्? एष एव ऐरावणाधिरूढो द्युसदीशिता इन्द्रः, च पुनः, तत्क्षणं च क्षमितं क्षाम्यतेस्म । कोऽर्थः? इन्द्रः स्वर्लोकस्येव स्वामी, श्रीऋषभदेवस्तु त्रिलोकाधिपतस्तत्र इन्द्रभ्रान्तिं ज्ञात्वा देवैः क्षमितमिति भावः ॥ ४४ ॥

समग्रवाग्वैभवघस्मरः स्मर-
ध्वजव्रजस्य ध्वनिरंबराध्वनि ।
अवाप्तमूर्च्छः स्वयमस्तु मूर्च्छितं,
क्षमः किमुज्जीवयितुं प्रभौ स्मरम् ॥ ४५ ॥

समग्र० लालतालतान्तिकं कफडहयतीति लोकोक्तपंचशब्दरूपस्य स्मरध्वजव्रजस्य वादित्रसमूहस्य ध्वनिः अम्बराध्वनि आकाशमार्गे स्वयं अवाप्तमूर्च्छः सन् प्रभौ श्रीऋषभदेवविषये मूर्च्छितं स्मरं कन्दर्पं उत्प्राबल्येन जीवयितुं किं क्षमः? अपि तु नैव । स्वयंप्राप्तमूर्च्छः कथमन्यमूर्च्छितं जीवयितुं समर्थः स्यात्, परं वादित्रविशेषणे मूर्च्छाशब्देन वृद्धिर्ज्ञेया, मूर्च्छितं स्मरमित्यत्र मूर्च्छितं अचेतनत्वं प्राप्तमिति, एतावता वाद्यरवं श्रुत्वा भगवतो

हृदि कामो नोत्पन्न इति भावः। किंलक्षणः ध्वनिः ? समग्रवाग्वैभवघस्मरः सर्ववचनविलासस्य घस्मरो भक्षकः। स्मरध्वजानि वाद्यानि, स्मरस्य ध्वजाश्चिह्नानि वा, तेषां व्रजः समूहः स्मरं जीवयितुं युक्तमपक्रमते परं स एव अवाप्तमूर्च्छोऽभूत् ततो मूर्च्छितं स्मरं कथं जीवयितुं क्षमः स्यादिति व्यंग्यम् ॥ ४५ ॥

सुपर्वगन्धर्वगणाद्गुणावलीं,
पिबन्निजामेव न सोऽनुषत्तराम्।
अभूत्पुनर्न्यग्मुख एव दोष्मतां,
त्रपा स्वकोशे परहस्तगे न किम् ॥ ४६ ॥

सुप० स भगवान् सुपर्वगन्धर्वगणात् देवगन्धर्वसमूहात्, निजामेव गुणावलीं आत्मीयामेव गुणश्रेणिं पिबन् सन् अनुषत्तरां न अतिशयेन अनुष्टा, पिबन्निति अत्यादरात् श्रवणं पानमुच्यते। पुनः परं न्यग्मुख एव अधोमुख एवाभूत्, दोष्मतां बलवतां स्वकोशे आत्मीयभाण्डागारे परहस्तगे अन्यहस्ते गते सति किं त्रपा लज्जा न, अपि तु स्यादेव, स्वकीयाः सारभूता गुणाः यदि परहस्तगताः स्युस्तदा कथं त्रपा न स्यादिति कवेर्भावः ॥ ४६ ॥

मुदश्रुधारानिकरैर्घनायिते,
द्युसच्चये कांचनरोचिरुर्वशी।
प्रणीतनृत्या करणैरपप्रथ-
त्तडिल्लताविभ्रममभ्रमण्डले ॥ ४७ ॥

मुद० कांचनरोचिरुर्वशी देवनर्त्तकी अभ्रमंडले आकाश-

मण्डले तडिल्लताविभ्रमं विद्युद्वल्लीभ्रमं अपप्रथत् विस्तारयति स्म । किंलक्षणा उर्वशी ? करणैः प्रणीतनृत्या कृतनाटका । क सति ? अभ्रमंडले द्युसच्चये देवसमूहे मुदश्रुधारानिकरैः हर्षाश्रुजलधारासमूहैः घनायिते मेघवदाचरिते सति ॥ ४७ ॥

विलग्नदेशस्तनुरुन्नतस्तन-
द्वयातिभारव्यथितोऽस्य माजि मा ।
घनाङ्गहारौघविघूर्णितं वपु-
र्विलोक्य रांभं त्रिदशा इदं जगुः ॥ ४८ ॥

विल० त्रिदशा देवाः रांभं रंभाया इदं रांभं वपुर्घनांगहारौघविघूर्णितं घनैः बहुभिः अङ्गहाराणां अङ्गविक्षेपानां ओघैः समूहैर्विघूर्णितं भ्रामितं विलोक्य इदं जगुः । इदमिति किम् ? अस्य वपुषो विलग्नदेश उदरप्रदेशः तनुः कृशः सन् उन्नतस्तनद्वयातिभारव्यथित उच्चैस्तरस्तनद्वयस्यातिभारेण पीडितो माऽभाजि मा भज्यताम् ॥ ४८ ॥

प्रकाशमुक्तास्रगसंकुचत्कुच-
द्वयं घृताच्या नटने निरीक्ष्य कः ।
कृती न कुंभावतिगूढमौक्तिका-
वभर्त्सयज्जंभनिशुंभिकुंभिनः ॥ ४९ ॥

प्रका० कः कृती घृताच्या देवनर्तक्या नटने नृत्ये प्रकाशमुक्तास्रगसंकुचत् प्रकटमौक्तिकमालाभिरसंकुचत् कुचद्वयं स्तनयुग्मं निरीक्ष्य दृष्ट्वा जंभनिशुंभी इन्द्रः तस्य कुंभिनो हस्तिनोऽतिगूढमौक्तिकौ कुंभौ न अभर्त्सयत् न निन्दति स्म । अपि तु सर्वः कोपि ॥ ४९ ॥

तिलोत्तमा निर्जरपुंजरंजना-
थिंनी कलाकेलिगृहं ननर्त यत् ।
सुरैस्तदंगद्युतिरुद्धदृष्टिभिः,
प्रबभूवभूवे तदवेक्षणेऽपि न ॥ ५० ॥

तिलो० तिलोत्तमा यत् ननर्त यत् नृत्यं चकार । किंलक्षणा तिलोत्तमा ? निर्जरपुंजरंजनार्थिनी देवसमूहस्य रंजने अर्थिनी । पुनः किंलक्षणा ? कलानां केलिगृहं क्रीडास्थानं अत्र रूपकात् गृहशब्दस्य न स्त्रीत्वम् । तदंगद्युतिरुद्धदृष्टिभिस्तस्यास्तिलोत्तमाया अङ्गकान्त्या रुद्धलोचनैः सुरैः तदवेक्षणेऽपि तस्य नृपस्यावलोकनेऽपि न प्रबभूवभूवे न समर्थीभूयते स्म ॥५०॥

अचालिषुः केऽपि पदातयः प्रभोः,
पुरो विकोशीकृतशास्त्रपाणयः ।
अमूमुहत्किं विबुधानपि भ्रमः,
स जन्ययात्रेत्यभिधासमुद्भवः ॥ ५१ ॥

अचा० केऽपि देवाः प्रभोः स्वामिनः पुरोऽग्रेऽचालिषुश्चलिताः । किंलक्षणा सुराः ? विकोशीकृतशस्त्रपाणयः, प्रत्याकाररहितशस्त्रहस्ताः । स सर्वप्रसिद्धो जन्ययात्रेत्यभिधासमुद्भवो विवाहयात्रोत्पन्नः, पक्षे संग्रामयात्राया उत्पन्नो भ्रमः, किं विबुधान् देवान् विदुषोऽपि वा किं अमूमुहत् मोहयति स्म किम् इति संशयः ॥ ५१ ॥

प्रसिद्ध एकः किल मङ्गलाख्यया,
ग्रहाः परेऽष्टावपि मङ्गलाय ते ।

इतीरयंतीव सुरैः करे धृता,
पुरोगतामस्य गताष्टमङ्गली ॥ ५२ ॥

प्रसि० सुरैर्देवैः करे धृता 'दप्पण १, भद्दासण २, वद्धमाण ३, वरकलस ४, मच्छ ५, सिरिवच्छ ६, । सत्थिय ७, नंदावत्ता ८, कहिया अट्ठट्ठमंगलगा' ॥ १ ॥ एवंविधा आगमोक्ता अष्टमंगली अस्य भगवतः पुरोगताम् अग्रेसरत्वं गता प्राप्ता । उत्प्रेक्षते इतीरयंतीव ईदृक् कथयंतीव । इतीति किम् ? किल इति सत्ये, मंगलाख्यया एको ग्रहः प्रसिद्धो वर्तते, परे आदित्याद्या अष्टावपि ग्रहास्ते तव मङ्गलाय भवन्तु ॥ ५२ ॥

प्रबुद्धपद्माननानादिषट्पदा,
उदारवृत्ताः सुरसार्थतोषिणः ।
पुरोऽस्य कल्याणगिरिस्थिता स्तुति-
व्रता दधुर्नाकतटाकसौहृदम् ॥ ५३ ॥

प्रबु० स्तुतिव्रता भटा अस्य जिनस्य पुरोऽग्रे नाकतटाकसौहृदं नाकतटाकानां स्वर्गसत्कसरोवराणां सौहृदं सादृश्यं दधुः । किंलक्षणाः स्तुतिव्रताः ? प्रबुद्धपद्माननानादिषट्पदाः, प्रबुद्धपद्मसमानेषु आननेषु मुखेषु नादिनः शब्दायमानाः षट्पदाः छंदोविशेषा येषां ते प्रबुद्धपद्माननानादिषट्पदाः । पुनः किं० ? उदारवृत्ता उदाराणि वृत्तानि कवित्वानि येषां ते उदारवृत्ताः । पुनः किं० ? सुरसार्थतोषिणः, सुरसैः शोभनरसैरर्थं तोषयन्ति इत्येवंशीलाः सुरसार्थतोषिणः । पुनः किं० ? कल्याणगिरिस्थिताः शुभवाचिवाण्यां स्थिताः । नाकतटाकस्याथ विशेषणानि,

किंलक्षणा नाकतटाकाः ? प्रबुद्धपद्मा विकसितकमला नाननादिषट्पदा अपितु नादिषट्पदा गुंजद्भ्रमराः, द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः, उदारवृत्ताश्च वृत्ताकाराः सुरसार्थान् देवसमूहान् तोषयन्तीत्येवंशीलाः, कल्याणगिरौ सुवर्णाचले स्थिताः ॥ ५३ ॥

अभर्मभृत्यश्चलितेऽर्हति प्रभाः,
प्रभाकरः स्वा विनियुक्तवांस्तथा ।
यथा वृथाभावमवाप नो दिवा,
न तापमापत्सत जान्यिका अपि ॥ ५४ ॥

अभ० प्रभाकरः सूर्यः अर्हति श्रीऋषभे चलिते सति स्वा आत्मीयाः प्रभाः तथा विनियुक्तवान् व्यापारितवान्, किंलक्षणः प्रभाकरः ? अभर्मभृत्यः सेवकः । यथा दिवा दिनं वृथाभावं न अवाप न प्राप्तः, जान्यिका अपि तापं न आपत्सत न प्राप्तवन्तः ॥ ५४ ॥

तथा प्रसन्नत्वमभाजि मार्गगे,
जगत्त्रयत्रातरि मातरिश्वना ।
यथा दृगान्ध्यं न रजस्तनूमतां,
चकार घर्मांबु च चिल्किदं वपुः ॥ ५५ ॥

तथा० मातरिश्वना वायुना जगत्त्रयत्रातरि जगत्त्रयरक्षके मार्गगे सति तथा प्रसन्नत्वमभाजि, यथा रजः तनूमतां प्राणिनां दृगान्ध्यं न चकार । च अन्यत् । घर्मांबु घर्मजलं च वपुः शरीरं चिल्किदं पिच्छिलं न चकार ॥ ५५ ॥

क्वचिन्निषिक्ता द्विरदैर्मदांबुभिः,
क्वचित्खुरैरुद्धृतरेणुरर्वताम् ।
द्युसत्किरीटैः क्वचिदापिता मह-
स्तमश्च नीलातपवारणैः क्वचित् ॥ ५६ ॥

क्वचित्खगानां न पदापि संगता,
क्वचिद्रथैः क्षुण्णतलाऽरधारया ।
समाशया स्वं क्षितिरक्षतं जगौ,
जगत्सु माध्यस्थ्यगुणं जगत्प्रभोः ॥ ५७ ॥

क्वचि० क्षितिः पृथ्वी जगत्सु स्वर्ग(मर्त्य)पातालेषु मध्ये स्थितत्वात् माध्यस्थ्यगुणं पक्षे साम्यरूपं माध्यस्थगुणं स्वं आत्मीयं जगत्प्रभोः श्रीऋषभदेवस्य अक्षतं जगौ । किंलक्षणा क्षितिः ? क्वचिद्द्विरदैर्गजैर्मदांबुभिर्मदजलैर्निषिक्ता सिक्ता । क्वचित् अर्वतां तुरगाणां खुरैरुद्धृतरेणुरुत्पाटितरजाः । क्वचित् द्युसत्किरीटैः देवमुकुटैर्महस्तेजः आपिता प्रापिता । च अन्यत्, क्वचित् नीलातपवारणैः कृष्णच्छत्रैः तमः अन्धकारं प्रापिता ॥ ५६ ॥ क्वचित् खगानां विद्याधराणां पदापि चरणेनापि न संगता न मिलिता । क्वचित् रथैः अरधारया चक्रधारया क्षुण्णतला । समाशया समाभिप्राया ॥ ५७॥ युग्मम् ॥

कृपापयःपुष्करिणीं दृशं न्यथा-
दसौ स्वभावादपि यत्र नाकिनि ।
स गाढमौष्मायत देवसंहतौ,
मयि प्रसादाधिकता प्रभोरिति ॥ ५८ ॥

कृपा० असौ भगवान् यत्र नाकिनि यस्मिन् देवे स्वभावादपि कृपापयःपुष्करिणीं कृपाजलवापीं दृशं न्यधात्, स देवौ देवसंहतौ देवसमूहे इति अमुना प्रकारेण बाढमौष्मायत गर्वं अधत्त—प्रभोः स्वामिनो मयि विषये प्रसादाधिकता प्रसादस्याधिक्यं वर्तते ॥ ५८ ॥

विचित्रवाद्यध्वनिगर्जितोर्जितो,
यथा यथासीददसौ गुणैर्घनः ।
तथा तथानंदवने सुमंगला-
सुनंदयोरब्दसखायितं हृदा ॥ ५९ ॥

विचि० असौ भगवान् विचित्रवाद्यध्वनिगर्जितोर्जितः विचित्रवाद्यध्वनय एव गर्जितानि तैः ऊर्जितो बलवान् सन्, यथा यथा आसीदत्, आसन्न आगतः । किंविशिष्टोऽसौ? गुणैर्घनो बहुलो मेघो वा, तथा तथा सुमंगलासुनंदयोः हृदा आनंदवने अब्दसखायितं मयूरवदाचरितम् ॥ ५९ ॥

तदान्यबालावदुपेयिवत्प्रभो-
र्दिदृक्षयोत्पिंजलचित्तयोस्तयोः ।
शचीनियुक्तस्वसखीनियंत्रणा,
बहिर्विहारेऽभवदर्गलायसी ॥ ६० ॥

तदा० तदा तस्मिन्नवसरे तयोः सुमंगलासुनन्दयोः अन्यबालावत् उपेयिवत्प्रभोरागतस्य स्वामिनो दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छया उत्पिंजलचित्तयोराकुलमनसोः सत्योर्बहिर्विहारे बहिर्निर्गरणे शचीनियुक्तस्वसखीनियंत्रणा शच्या इन्द्राण्या नियुक्ता

मुक्ता याः स्रसद्यस्तासां नियंत्रणा अयसी लोहमयी, अर्गला अभवत् ॥ ६० ॥

कलागुरुः स्वस्य गतौ यथाशयं,
समूह्यमानः पुरुहूतदन्तिना ।
मुखं मुखश्रीमुखितेंदुमण्डलः,
स मण्डपस्याप दुरापदर्शनः ॥ ६१ ॥

कला० स भगवान् मण्डपस्य मुखं आप प्राप । किंविशिष्टो भगवान्? पुरुहूतदन्तिना ऐरावणेन यथाशयं यथाभिप्रायं समूह्यमानो धार्यमाणः । हेतुमाह—पुनः किंविशिष्टो भगवान्? स्वस्य गतौ आत्मनः गतौ कलागुरुः कलाचार्यः । ऐरावणेन प्रभोः पार्श्वे गतिः शिक्षिता अतः प्रभुः तस्य कलागुरुः । पुनः किंविशिष्टः? मुखश्रीमुखितेन्दुमण्डलः, मुखश्रिया मुखितं लक्षणया जितं इन्दुमण्डलं चन्द्रमण्डलं येन स मुखश्रीमुखितेन्दुमण्डलः, दुरापदर्शनः दुर्लभदर्शनः ॥ ६१ ॥

अथावतीर्येभविभोः ससंभ्रमं,
प्रदत्तबाहुः पविपाणिना प्रभुः ।
मुहूर्तमालंब्य तमेव तस्थिवान्,
श्रियः स्थिरस्येतिवचः स्मरन्निव ॥ ६२ ॥

अथा० अथानन्तरं प्रभुः श्रीऋषभदेवः पविपाणिना इन्द्रेण ससंभ्रमं प्रदत्तबाहुः सन् इभविभोः ऐरावणात् अवतीर्य तमेव इन्द्रं आलंब्य मुहूर्तं तस्थिवान् स्थितः । उत्प्रेक्ष्यते, इतिवचः स्मरन्निव, इतीति किम्? स्थिरस्य श्रियः स्युरिति वचनात् ॥ ६२ ॥

न दिव्ययाऽरंजि स रंभया प्रभु-,
हरेर्नटैः शिक्षितनृत्यया यथा ।
नभस्वता नर्तितयाग्रतोरण-
स्थया यथाऽरण्यनिवासया तया ॥ ६३ ॥

न० स प्रभुर्दिव्यया देवलोकसत्कया रंभया तथा न अरंजि । किंलक्षणया रंभया ? हरेरिन्द्रस्य नटैः शिक्षितनृत्यया यथा नभस्वता वायुना नर्तितयाऽग्रतोरणस्थया तोरणाग्रस्थयाऽरण्यनिवासया, रंभया कदल्यारंजि ॥ ६३ ॥

समानय स्थालमुरुस्तनस्थले,
निधेहि दूर्वां दधि चात्र चित्रिणि ।
सुलोचने संचितु चन्दनद्रवं,
शरावयुग्मं धर बुद्धिबन्धुरे ॥ ६४ ॥

गृहाण मंथं गतिमन्थरे युगं,
जगज्जनेष्टे मुशलं च पेशले ।
क्षणः समासीदति लग्नलक्षणः,
कियच्चिरं द्वारि वरोऽवतिष्ठताम् ॥ ६५ ॥

इहोग्रशस्त्रे कुसुमव्रजे निजे,
जनोष्मणा म्लानिमुपागते हलाः ।
महाबलेनाऽपि मनोभुवा भवां-
तकेऽत्र देवे प्रभविष्यते कथम् ॥ ६६ ॥

घनत्वमापाद्य मरुन्न चन्दन-
द्रवस्य मुष्णाति किमेष सौरभम् ।

ऊल्लूलपूर्वाय वरार्थकर्मणे,
विमुच्यतां तत्करकंठकुंठता ॥ ६७ ॥
इतीरयंतीष्वितरेतरां द्युस-
द्वधूषु काचित् करपाटवांचिता ।
विलोलकौसुंभनिचोलशालिनी,
प्रभातसंध्येव समग्रकर्मणाम् ॥ ६८ ॥
मणीमयस्थालधृतार्घसाधना,
स्त्रियोचिताया न वशंवदा ह्रियः ।
वराभिमुख्यं भजति स ससया,
न कोऽथवा स्वेऽवसरे प्रभूयते ॥ ६९ ॥
षड्भिः कुलकम् ॥

समा० काचित् स्त्री ससया सगर्वा सती वराभिमुख्यं भजति स वरस्य सन्मुखत्वं सेवते स । वा अथवा स्वीये आत्मीये अवसरे को न प्रभूयते समर्थो भवति अपितु सर्वः कोऽपि । किंलक्षणा स्त्री? करपाटवांचिता हस्तलाघवेन युक्ता, पुनः किंल० विलोलकौसुंभनिचोलशालिनी, लोचनचंचलेन कौसुंभेन निचोलनेन प्रच्छदपटेन शालिनी शोभमाना। उत्प्रेक्ष्यते—समग्रकर्मणां प्रभातसन्ध्येव, पुनः किंविशिष्टा स्त्री ? मणिमयस्थाले धृतार्घसाधना धृतार्घोपकरणा । पुनः किंवि० ? स्त्रियोचितायाः स्त्रीयोग्याया ह्रियो लज्जाया न वशंवदा न वश्या । कासु सतीषु ? द्युसद्वधूषु देवांगनासु इतरेतरां परस्परं इतीरयन्तीषु कथयन्तीषु सतीषु । इतीति किम् ? हे उरुस्तनस्थले उरूणी गुरुणी स्तनस्थले यस्याः सा उरुस्तनस्थला तस्याः संबोधनं

क्रियते त्वं स्थालं समानय । हे चित्रिणि वक्रदन्तत्वात् स्तनयोः समत्वात् मधुगन्धत्वात् वक्रकेशत्वाच्च चित्रिण्युच्यते, चित्रिणी आश्चर्यकारिणी वा तस्याः संबोधने हे चित्रिणि ! त्वं अत्र स्थले दूर्वा, च अन्यत्, दधि निधेहि धेहि निवेशय । हे सुलोचने ! शोभनानि लोचनानि यस्यास्तस्याः संबोधनम् । त्वं चन्दनद्रवं संचिनु संचितं कुरु । हे बुद्धिबन्धुरे ! बुद्ध्या बन्धुरा मनोज्ञा तस्याः संबोधनम् । त्वं शरावयुग्मं धर । हे गतिमंथरे ! गत्या मंथरा अलसा तस्याः संबोधनम् । त्वं मंथं मन्थानकं गृहाण । हे जगज्जनेष्टे ! विश्वजनानामिष्टाभीष्टा तस्याः संबोधनम् । त्वं युगं गृहाण । हे पेशले ! मनोज्ञे त्वं मुशलं गृहाण । लग्नलक्षणः क्षणः कालविशेषः समासीदति आसन्नः स्यात् । वरो द्वारि कियच्चिरं कियत्कालं अवतिष्ठते । अवयोगात् आत्मने पदमत्र ज्ञेयम् । हे हलाः सख्यः, इह जगति, निजे आत्मीये, उग्रशस्त्रे उत्कटायुधे, कुसुमव्रजे पुष्पसमूहे, जनोष्मणा लोकबाष्पेन म्लानिं शोषमुपागते सति, महाबलेनापि मनोभुवा कामेन, अत्र देवे कथं प्रभविष्यते कथं समर्थीभविष्यते । किंविशिष्टे अत्र ? भवान्तके भवः संसारो महेशो वा तस्य अन्तके यमप्राये भवेन कामो निर्जितः भवस्यापि जेता अयं कामेन कथं जेष्यते इति व्यंग्यम् । एष मरुत् पवनश्चन्दनद्रवस्य घनत्वं दृढत्वं आपाद्य सौरभं परिमलं किं न मुष्णाति, अपितु मुष्णात्येव; तत् तस्मात् कारणात् उलूलपूर्वाय धवलध्वनिपूर्वकाय वरार्थकर्मणे करकंठ-

कुंठगता करौ च कण्ठश्च करकंठास्तेषां कुंठता जिह्मता करकंठकुंठता विमुच्यताम् ॥ ६९ ॥ षड्भिः कुलकम् ॥

जगद्वरेऽत्रार्घमुपाहरद्वरे,
यथेक्षिता सा हरिणा सकौतुकम् ।
स्त्रियोऽतिकस्था धवलैस्तथा जगुः,
क्वचिद्भवद्विस्मृतिशङ्कया किमु ॥ ७० ॥

जग० सा देवांगना जगद्वरे विश्वप्रशस्ये अत्र वरे तथार्घं उपाहरत् अढौकयत् । किंविशिष्टा सा ? हरिणा इन्द्रेण सकौतुकमीक्षिता, अन्तिकस्थाः समीपस्थाः, स्त्रियो धवलैः तथा जगुर्गायंतिस्म । किमु इति संशये, क्वचिद्भवद्विस्मृतिशंकया भवंती विस्मृतिस्तस्याः शंकया जगुः ॥ ७० ॥

स पस्पृशे हृद्यपि दुर्लभे पर-
स्त्रिया तथा च्छेकधिया कृतस्मितम् ।
अमुं कथंचिद्दधिबिन्दुमर्घत-
श्च्युतं विनच्मीति गृहीतदंभया ॥ ७१ ॥

स० छेकधिया चतुरबुद्ध्या तया देवांगनया कृतस्मितं यथा भवति तथा स भगवान् हृद्यपि पस्पृशे स्पृष्टः । किंलक्षणे हृदि ? परस्त्रिया दुर्लभे दुःप्रापे । अपिशब्दोप्येनमेवार्थं द्योतयति । किंविशिष्टया तया ? इति गृहीतदंभया अमुना प्रकारेणावगृहीतमायया । इतीति किम् ? हे स्वामिन् अमुं दधिबिन्दुं कथंचिदर्घतश्च्युतं पतितं विनच्मि पृथक् करोमि ॥ ७१ ॥

अपि प्रवृत्तार्घविधिर्वधूद्वयी-
दिदृक्षया नोदमनायत प्रभुः ।

समाधिनिर्धौतधियां न तादृशां,
स्वभावभेदे विषया प्रभूष्णवः ॥ ७२ ॥

अपि० प्रभुः स्वामी प्रवृत्तार्घविधिरपि समाचीर्णार्घविधिरपि वधूद्वयीदिदृक्षया सुमंगलासुनंदयोर्दिदृक्षया विलोकनेच्छया नोदमनायत उत्सुको नाभवत् । समाधिनिर्धौतधियां संतोषाधिसमाधिना धौतबुद्धीनां तादृशां विषयाः स्वभावभेदे न प्रभूष्णवः समर्था न स्युः ॥ ७२ ॥

तदीयलावण्यरुचोरिवेर्ष्यया,
शरावयुग्मं लवणाग्निगर्भितम् ।
पुरो विमुक्तं सुदृशाम्रदिष्ट सो-
ऽनलोच्छ्वसत्पर्पटलीलयाङ्घ्रिणा ॥ ७३ ॥

तदी० स भगवान् सुदृशा स्त्रिया पुरो अग्रे विमुक्तं शरावयुग्मं, अनलोच्छ्वसत्पर्पटलीलया अनलेन वैश्वानरेण उच्छ्वासेन यः पर्पटस्तस्य लीलया अङ्घ्रिणा चरणेन अम्रदिष्ट मृदितवान्, किंविशिष्टं शरावयुग्मम्? उत्प्रेक्ष्यते—तदीयलावण्यरुचोस्तस्य भगवतो लावण्यकान्त्योरीर्ष्यया क्रोधनेन लवणाग्निगर्भितम् ॥ ७३ ॥

प्रगृह्य कौसुंभसिचा गलेऽबला,
बलात्कृषंत्येनमनैष्ट मण्डपम् ।
अवारवारा प्रकृतिर्यथेच्छया,
भवार्णवं चेतनमप्यधीश्वरम् ॥ ७४ ॥

प्रगृ० अबला स्त्री एनं भगवन्तं कौसुंभसिचा कौसुंभवस्त्रेण

गले प्रगृह्य, बलात्कर्षंती मंडपमनैष्ट नीतवती । किंलक्षणा स्त्री? अवाप्तवारा प्राप्तावसरा । केव? प्रकृतिरिव । यथा इवार्थे, यथा प्रकृतिः कर्मरूपा अवाप्तवारा प्राप्तावसरा सती चेतनं आत्मानं इच्छया भवार्णवं संसारसमुद्रं नयति । किंलक्षणं एनं भगवंतं आत्मानं च? अधीश्वरमपि स्वामिनम् अधिकं समर्थमपि ॥ ७४ ॥

शतमखस्तमखंडितपौरुषं,
सपदि मातृगृहे विहिताग्रहः ।
अभिनिषण्णवरेन्दुमुखीद्वयं,
जिनवरं नवरंगभृदासयत् ॥ ७५ ॥

शत० नवरंगभृत् नवं हर्षरूपरंगं (बिभर्ति)धरतीति नवरंगभृत् । शतमख इन्द्रो विहिताग्रहः कृताऽऽग्रहः सन्, तं जिनवरं सपदि झटिति, मातृगृहे निषण्णवरेंदुमुखीद्वयं अभि प्राग्निविष्टवधूद्वयं अभि सन्मुखं आसयत् उपवेशयति स्म । अभियोगे द्वितीया । किंलक्षणं भगवन्तम्? अखंडितपौरुषं न खण्डितं पौरुषं पराक्रमो यस्य स अखंडितपौरुषम् ॥ ७५ ॥

दृष्ट्वाऽऽयान्तं नोदतिष्ठाव नाथं,
नाथ स्वास्याविष्कृतिः सङ्गता नौ ।
ध्यात्वेतीव स्वामिनोऽभ्यर्णभावे,
ते नीरंगीगोपितास्ये अभूताम् ॥ ७६ ॥

दृष्ट्वा० अथानन्तरं ते सुमंगलासुनंदे स्वामिनोऽभ्यर्णभावे सामीप्ये नीरंगीगोपितास्ये पट्टयुगलाच्छादितवदने अभूताम् ।

किं कृत्वा? उत्प्रेक्ष्यते—इति ध्यात्वा च । इतीति किम्? आवां नाथं स्वामिनं आयान्तं दृष्ट्वा नोदतिष्ठाव नोत्थिते । नौ आवयोः स्वस्य स्वस्य आत्मीयस्य आस्यस्य आविष्कृतिः विकृतिः प्रकटीकरणं न संगता न युक्ता ॥ ७६ ॥

लावण्यवारिसरसो दयितादमुष्मात्,
पातुं प्रकाशमनलं नयनद्वयं नौ ।
पानेन तृप्तिरिह चोरिकया न काचि-
देवं मिथोऽकथयतामपृथुस्वरं ते ॥ ७७ ॥

लाव० ते कन्ये अपृथुस्वरं मन्दस्वरं यथा भवति तथा मिथः परस्परमेव कथयताम् । एवमिति किम्? अमुष्मात् दयितात् भर्तुः सरसः सरोवरात्, लावण्यवारिप्रकाशं प्रकटं पातुं नौ आवयोर्नयनद्वयं लोचनयुगलं अनलं असमर्थम् । इह चौरिकया च पाने काचित् तृप्तिर्न ॥ ७७ ॥

शैशवावधिवधूद्वयदृष्ट्यो-
श्चापलं यदभवद्दुरपोहम् ।
तत्समग्रमुपभर्तृ विलिल्ये,-
ऽध्यापकान्तिक इवान्तिषदीयम् ॥ ७८ ॥

शैश० वधूद्वयदृष्ट्योः शैशवावधि बाल्यादारभ्य यत् चापलं दुरपोहं दुस्त्याज्यं अभवत् । तच्चापलं समग्रं उपभर्तृ भर्तुः समीपे विलिल्ये विलयं गतम् । किमिव? आन्तिषदीयं चापलमिव यथा आन्तिषदीयं छात्रसत्कं चापलं अध्यापकान्तिके उपाध्यायसमीपे विलयं याति ॥ ७८ ॥

तारुण्येन प्रतिपतिमुखं प्रेरितोन्मादभाजा,
बाल्येनेषत्परिचयजुषा जिह्मतां नीयमाना ।
दृष्टिर्वध्वोः समजनितरामेहिरेयाहिरातः,
श्रान्तेः पात्रं न हि सुखकरः सीमसन्धौ निवासः ॥७९॥

तारु० वध्वोर्दृष्टिः एहिरेयाहिरात आगमनगमनतः श्रमस्य पात्रं स्थानं समजनि । किंलक्षणा दृष्टिः ? उन्मादभाजा तारुण्येन यौवनेन पतिमुखं प्रति प्रेरिता । पुनः किंलक्षणा ? ईषत्परिचयजुषा बाल्येन जिह्मतां मन्दतां नीयमाना । हेतुमाह—हि यस्मात् कारणात् सीमसन्धौ निवासः सुखकरो न स्यात् ॥ ७९ ॥

जैनीं सेवां यो निर्भरं निर्मिमीते,
भोगाद्योगाद्वा तस्य वश्यैव सिद्धिः ।
हस्तालेपे त्वत्कं सिषेवे ययोः श्री-
वृक्षोऽभूदेकोऽन्यस्तयोः किं शमी न ॥८०॥

जैनीं० यः पुमान् जैनीं जिनसत्कां सेवां निर्भरं यथा भवति तथा निर्मिमीते करोति । भोगात् वाऽथवा योगात् तस्य पुंसः सिद्धिर्वश्यैव स्यात्, ययोर्वृक्षयोस्त्वक् हस्तालेपे तं जिनं सिषेवे सेवतेस्म, तयोर्मध्ये एको वृक्षः श्रीवृक्षोऽभूत्, श्रिया लक्ष्म्या वृक्षः, पक्षे पिप्पलः । अन्यो वृक्षः किं शमी न अभूत् अपि तु अभूत्, एतावता श्रीवृक्षो भोगी ज्ञेयः, यस्य गृहे श्रीः स एव भोगी इति न्यायात् । शमी च शमवान् योगी ज्ञेयः, एवं जिनसेवातो भोगात् योगाच्च तयोः सिद्धिर्जातेति

भावः ॥ 'श्रीवृक्षः कुंजराशन' इत्यादि पिप्पलनामानि । 'शमी शमयते पापम्' इत्यादि लोका अपि वदन्ति ॥ ८० ॥

इति अंचलगच्छे कविचक्रवर्तिश्रीजयशेखरसूरिविरचितश्रीजैनकुमारसंभवस्य तच्छिष्यश्रीधर्मशेखरसूरिविरचितायां टीकायां श्रीमाणिक्यसुन्दरसूरिशोधितायां चतुर्थसर्गव्याख्या समाप्ता ॥ ३ ॥

अथ पंचमः सर्गः ॥

वज्रिणा द्रुतमयोजि कराभ्यां,
कन्ययोरथ करः करुणाब्धेः ।
तस्य हृत्कलयितुं सकलाङ्गा-
लिङ्गनेऽपि किल कौतुकिनेव ॥ १ ॥

वज्रि० अथानन्तरं वज्रिणा इन्द्रेण करुणाब्धेः 'दुःखनिरासनी भवेत् करुणा' तस्याः अब्धेः समुद्रस्य, एतावता भगवतः करो हस्तः कन्ययोः सुमङ्गलासुनन्दयोः कराभ्यां द्रुतं शीघ्रमयोजि योज्यतेस्म । किंलक्षणेन वज्रिणा ? उत्प्रेक्ष्यते— सकलांगालिंगनेऽपि तस्य भगवतो हृत्कलयितुं कौतुकिनेव ॥ १ ॥

धावतामभिमुखं समवेतुं,
तत्करस्य च वधूकरयोश्च ।
अङ्गुलीयकमणिघृणिजालैः,
प्रष्ठपत्तितुलया मिमिले प्राक् ॥ २ ॥

धाव० तत्करस्य तस्य स्वामिनो हस्तस्य वधूकरयोश्च अभि-

मुखं सन्मुखं समवेतुं मिलितुं धावतां सतां, प्राक् पूर्वं अङ्गुलीयकमणिघृणिजालैः अङ्गुलीयकमणीनां मुद्रिकारत्नानां घृणिजालैः किरणसमूहैः प्रष्ठपत्तितुल्या अग्रेसरपदातिसदृशतया मिमिले मिलितम् ॥ २ ॥

वामनामनि करे स्फुरणं यत्,
कन्ययोः शुभनिमित्तमुदीये ।
तत्फलं प्रभुकरग्रहमाप-
दक्षिणः क्षणफलः क नु वामः ॥ ३ ॥

वाम० कन्ययोर्वामनामनि करे हस्ते स्फुरणं यत् शुभनिमित्तं उदीये उदितम्, 'अङ्गविस्फुरणं नृणां दक्षिणं सर्वकामदं । तदेव शस्यते सद्भिः, नारीणामदक्षिणमि'ति निमित्तशास्त्रात्, दक्षिणस्तत्फलं तस्य शुभनिमित्तस्य फलं प्रभुकरग्रहणं स्वामिपाणिग्रहणं आपत् प्राप्तः । इति वितर्के । वामः क्षणफलः उत्सवफलः क वर्तते, वामो वामहस्तः प्रतिकूलो वा यः प्रतिकूलः स्यात् स उत्सवफलं क प्राप्नोति? अपि तु न कापीत्यर्थः ॥ ३ ॥

उत्तराधरतया दधदास्यां,
तत्करे वरकरः स्फुटमूचे ।
अव्यवस्थ्यमधरोत्तरभावं,
योगभाजि पुरुषे प्रकृतौ च ॥ ४ ॥

उत्त० वरकरस्तत्करे तयोः सुमङ्गलासुनन्दयोः करे उत्तराधरतया आस्यां अवस्थितिं दधन् सन् अधरोत्तरभावं अधःस्थोपरितया अवस्थानं पुरुषे आत्मनि, च अन्यत्, प्रकृतौ कर्मणि

योगभाजि संयोगभाजि सति सत्यां च अव्यवस्थ्यं व्यवस्था-
रहितं स्फुटं प्रकटमूचे वक्ति स्म, "कत्थवि जीवो बलिओ
कत्थवि कम्माइं हुंति बलियाइं" इत्याद्यागमवचनात् ॥ ४ ॥ ३

तत्करे करशयेऽजनि जन्योः,
सञ्चरे सपदि सात्त्विकभावैः ।
सात्त्विको हि भगवान्निजभावं, ६
स्वेषु संक्रमयतेऽत्र न चित्रम् ॥ ५ ॥

तत्क० जन्योः वध्वोः सञ्चरे शरीरे सपदि तत्कालं
सात्त्विकभावैः अजनि जातं, सात्त्विकभावाश्चामी—स्तंभः १ ९
स्वेदो २ ऽथ रोमाञ्चः ३ स्वरभेदश्च ४ वेपथुः ५ । वैवर्ण्यं ६
रोदनं चैव ७ प्रलये ८ त्यष्ट सात्त्विकाः ॥ १ ॥ क्व सति ?
तत्करे तस्य स्वामिनः करे हस्ते करशये हस्ते स्थिते सति १२
हि निश्चितं । सात्त्विको भगवान्, निजभावं स्वेषु आत्मीयेषु
संक्रमयते, अत्र न चित्रं आश्चर्यं । सत्त्वेन धैर्येण चरतीति
सात्त्विकः, पक्षे सात्त्विका भावाः पूर्वोक्ताः । सात्त्विको हि १५
सात्त्विकं भावमन्यत्र संक्रमयतीति, अत्र किं चित्रम् ! शब्द-
च्छलमत्र ज्ञेयम् ॥ ५ ॥

बाल्ययौवनवयोवियदन्त- १८
वर्तिनं जगदिनं परितस्ते ।
रेजतुर्गतघनेऽहनि पूर्वा-
पश्चिमे इव करोपगृहीते ॥ ६ ॥

बाल्य० ते कन्ये, करोपगृहीते करेण पाणिना उपगृहीते २२

गृहीतहस्ते, जगदिनं जगन्नाथं परितो रेजतुः शोभिते, किंलक्षणं जगदिनम् ? बाल्ययौवनवयोवियदन्तर्वर्तिनं बाल्यं च यौवनं च वय एव वियदाकाशं तन्मध्ये वर्तिनम् । के इव ? पूर्वापश्चिमे करोपगृहीते इव, गतघने अहनि निरभ्रे दिवसे इनं सूर्यं वा परितो राजेते ॥ ६ ॥

पाणिपीडनरतोऽपि न पाणी
बालयोः स मृदुलावपिपीडत् ।
कोऽथवा जगदलक्ष्यगुणस्या-
मुष्य वृत्तमवबोद्धुमधीष्टे ॥ ७ ॥

पाणि० स भगवान् पाणिपीडनरतोऽपि पाणिपीडनं पाणिग्रहणं, पक्षे पाणेः पीडनं व्यथनं तत्र रत आसक्तोऽपि बालयोः सुमंगलासुनंदयोः मृदुलौ सुकोमलौ पाणी हस्तौ नापिपीडत् न पीडितवान्, अथवा कः पुमान् जगदलक्ष्यगुणस्य जगतां अलक्ष्यस्वरूपस्य, अमुष्य भगवतो वृत्तं चरित्रं अवबोद्धुं ज्ञातुं अधीष्टे समर्थो भवेत् ? अपि तु न कोऽपि ॥ ७ ॥

तत्यजुर्न समयागततारा-
मेलपर्वणि वरस्य तयोश्च ।
धीरतां चपलतां न दृशः स्वां,
देहिनां हि सहजं दुरपोहम् ॥ ८ ॥

तत्य० वरस्य श्रीऋषभस्य तयोश्च वध्वोर्दृशो दृष्टयः स्वां आत्मीयां धीरतां च पुनश्चपलतां समयागततारामेल-

पर्वणि अवसरायातपरस्परकनीनिकामेलनोत्सवे न तत्यजुः, हि निश्चितं, देहिनां प्राणिनां, सहजं, दुरपोहं दुस्त्याज्यम् ॥ ८ ॥

स्वर्वधूविहितकौतुकगानो-
पज्ञमस्य वपुषि स्तिमितत्वम् ।
योगसिद्धिभवमेव मघोना-
शंकि वेद चरितं महतां कः ॥ ९ ॥

स्वर्व० मघोना इन्द्रेण अस्य भगवतो वपुषि शरीरे स्तिमितत्वं निश्चलत्वं योगसिद्धिभवमेव योगसिद्धेः समुत्पन्नमेव आशंकि शङ्कितम् । किंलक्षणं स्तिमितत्वम्? स्वर्वधूविहितकौतुकगानोपज्ञं स्वर्वधूभिर्देवांगनाभिर्विहितं कृतं यत् कौतुकगानं, तेन उपज्ञं प्रणीतम् । महतां चरितं को वेद को जानाति, अपि तु न कोऽपि ॥ ९ ॥

बद्धवान् वरवधूसिचयाना-
मंचलान् स्वयमथाशु शचीशः ।
एवमस्तु भवतामपि हार्द-
ग्रन्थिरश्लथ इति प्रथितोक्तिः ॥ १० ॥

बद्ध० अथानन्तरं शचीश इन्द्रः वरवधूसिचयानां वरवधूनां सिचयानां वस्त्राणां अञ्चलान् आशु शीघ्रं स्वयं बद्धवान् । किंलक्षणः इन्द्रः? इति प्रथितोक्तिः, इति अमुना प्रकारेण विस्तारितवचनः । इतीति किम्? एवं अमुना प्रकारेण भवतामपि हार्दग्रन्थिः हार्दस्य स्नेहस्य ग्रन्थिः अश्लथो दृढोऽस्तु ॥ १० ॥

एणदृगुद्वयमुदस्य मघोनी,
वासवश्च वरमद्भुतरूपम् ।
वेदिकामनयतां हरिदुच्चै-
र्वंशसंकलितकांचनकुंभाम् ॥ ११ ॥

एण० मघोनी इन्द्राणी एणदृगुद्वयं वधूद्वयं, च पुनर्वासव इन्द्रोऽद्भुतरूपं वरं उदस्योत्पाट्य वेदिकां चतुरिकामानयतां गृहीतवन्तौ, किंलक्षणां वेदिकाम्? हरिदुच्चैर्वंशसंकलितकाञ्चनकुम्भां हरितो नीला एतावता आर्द्रा उच्चा वंशास्तैः संकलिताः कांचनकुंभाः, सुवर्णकलशा यस्यां सा ताम् ॥ ११ ॥

कोऽपि भूधरविरोधिपुरोधा-
स्तत्र नूतनमजीज्वलदग्निम् ।
यः समः सकलजन्तुषु योग्यः,
स प्रदक्षिणयितुं न हि नेतुः ॥ १२ ॥

को० कोऽपि भूधरविरोधिपुरोहितः, तत्र तस्यां वेदिकायां नूतनं नवीनं अग्निं अजीज्वलत् ज्वालयति स । यो अग्निः सकलजन्तुषु सर्वप्राणिषु समः सदृशोऽस्ति, सोऽग्निर्नेतुः स्वामिनः प्रदक्षिणयितुं न हि योग्यः ॥ १२ ॥

मंत्रपूतहविषः परिषेका-
दुत्तरोत्तरशिखः स बभासे ।
सूचयन् परमहःपदमस्मै,
यावदायुरधिकाधिकदीप्तिम् ॥ १३ ॥

मंत्र० सोऽग्निः मंत्रपूतहविषः परिषेकात् मंत्रेण पूतस्य

पवित्रस्य हविषो होतव्यद्रव्यस्य परिषेकात् सेचनात् उत्तरोत्तरशिखोऽधिकाधिकविशेषः स बभासे दीप्यते स्म। किं कुर्वन् अग्निः ? अस्मै भगवते यावदायुः, आयुर्यावदधिकाधिकदीप्तिं सूचयन् कथयन् । किंविशिष्टोऽग्निः ? परमहःपदं परं प्रकृष्टं महस्तेजस्तस्य पदं स्थानम् ॥ १३ ॥

हेम्नि धाम मदुपाधि कथं ते,
मां विना वपुरदीप्यत हैमम् ।
प्रष्टुमेवमनलः किमु धूमं,
स्वांगजं प्रभुमभि प्रजिघाय ॥ १४ ॥

हेम्नि० अनलो वैश्वानरः स्वांगजं आत्मीयपुत्रं धूमं प्रभुं अभि स्वामिसंमुखं किमु एवं प्रष्टुं प्रजिघाय प्रहिणोतिस्म । एवमिति किम् ? हे स्वामिन् ! हेम्नि सुवर्णे धाम तेजो मदुपाधि मन्निमित्तं वर्तते । मां विना ते तव हैमं वपुः सुवर्णमयं शरीरं कथमदीप्यत ? ॥ १४ ॥

सोऽभितः प्रसृतधूमसमूहा-
श्लिष्टकांचनसमद्युतिदेहः ।
स्वां सखीमकृत सौरभलुभ्य-
द्भृंगसंगमितचंपकमालाम् ॥ १५ ॥

सो० स भगवान् अभितः समंततः प्रसृतधूमसमूहाश्लिष्टकांचनसमद्युतिदेहः, प्रसृतेन धूमसमूहेन आश्लिष्टः आलिङ्गितः, काञ्चनसमद्युतिः सुवर्णसमानकान्तिर्देहो यस्य स एवंविधः सन् सौरभलुभ्यद्भृंगसंगमितचंपकमालां, सौरभ्येण परिमलेन लुभ्यन्ते भृंगा भ्रमरास्तैः संगमितां मिलितां चंपकस्त्रक्मालां,

स्वां सखीमकृत । एतावता गौरवर्णत्वात् चंपकमालासदृशो भगवतो देहः, तत्र लग्नो धूमश्च भ्रमरसमूहसदृशः, एवं भगवतो देहस्य चंपकमालायाश्च सखीत्वं सादृश्यं ज्ञेयमिति ॥ १५ ॥

धूमराशिरसितोऽपि चिरंट्यो-
लोहितत्वमतनोन्नयनानाम् ।
चूर्णकश्च धवलोऽपि रदानां,
रागमेधयति रागिषु सर्वम् ॥ १६ ॥

धूम० असितोऽपि कृष्णोऽपि धूमराशिश्चिरंट्योर्वधूट्योर्नयनानां लोचनानां लोहितत्वं आरक्तत्वं अतनोत् करोतिस्म । च पुनः । धवलोऽपि चूर्णको रदानां दन्तानां लोहितत्वं आरक्तत्वं अतनोत् कृतवान्, रागिषु रागवत्सु सर्वं वस्तु रागं एधयति वर्धयति ॥ १६ ॥

पद्मिनीसमवलंबितहस्तो,
बभ्रुमभ्रमदद्भ्रतरार्चिः ।
स प्रदक्षिणतया परितोऽग्निं,
तं शुचिं विबुधवल्लभगोत्रम् ॥ १७ ॥

पद्मि० स भगवान् पद्मिनीसमवलम्बितहस्तः पद्मिनीलक्षणाभ्यां सुमंगलासुनन्दाभ्यां समवलंबितहस्तः सन् बभ्रुं पीतवर्णं अग्निं परितः प्रदक्षिणतया अभ्रमत् भ्रमतिस्म । अभ्रमत् इति 'भ्रमूच् अनवस्थाने' इति दिवादिधातुः परं । 'भ्रासभ्लासभ्रमक्रमक्लमत्रसित्रुटिलषियसिसंयंसेवा' (३।४।७३) इतिसूत्रेण विकल्पात् दिवादेर्यं न भवति, अत्र किंलक्षणो भगवान् ? अदभ्रतरार्चिः अदभ्रतरं बहुतरं अर्चिस्तेजो यस्य सः, पुनः किं-

लक्षणः ? शुचिः पवित्रः । किंविशिष्टं अग्निम् ? विबुधवल्लभगोत्रं विबुधानां देवानां वल्लभं गोत्रं नाम यस्य सः, 'अग्निमुखा वै देवा' इति वचनात्, द्वितीये अर्थे शुचिः सूर्यो विबुधानां वल्लभं गोत्रं पर्वतं मेरुं प्रदक्षिणतया भ्रमति । किंविशिष्टः सूर्यः ? पद्मिनीभिः कमलिनीभिः समवलंबिता हस्ताः करा यस्य सः । शेषं पूर्ववत् ॥ १७ ॥

यत्तदा भ्रमिरतः परितोऽग्निं,
मङ्गलाष्टकरुचिर्विभुरासीत् ।
कुर्वतोऽस्य पुरतः किमजस्रं,
मङ्गलाष्टकमतो मतिमन्तः ॥ १८ ॥

यत्त० विभुः स्वामी तदा तस्मिन्नवसरे अग्निपरितो भ्रमिभ्रमणं तस्यां रत आसक्तः सन् यन्मंगलाष्टकरुचिरासीत्, अतः कारणात् मतिमन्तो विद्वांसः अस्य भगवतः पुरतोऽग्रे किं अजस्रं निरंतरं मङ्गलाष्टकं कुर्वते ॥ १८ ॥

श्यालकप्रतिकृतिः प्रभुपादां-
गुष्ठमिष्टविभवेच्छुरगृह्णात् ।
पूर्णमेष तमितोऽस्य निरूचे,
श्रीगृहांघ्रिकमलाग्रदलत्वम् ॥ १९ ॥

श्याल० श्यालकप्रतिकृतिः श्यालकसदृशः पुमान् इष्टं अभीष्टं, विभवं द्रव्यं, इच्छतीति इष्टविभवेच्छुः सन् प्रभुपादांगुष्ठं स्वामिसत्कचरणस्यांगुष्ठं अगृण्हात् गृहीतवान्, एष श्यालकप्रतिकृतिः, पूर्णं संपूर्णं तं विभवं इतः प्राप्तः सन् अस्य प्रभुपादांगुष्ठस्य श्रीगृहांघ्रिकमलाग्रदलत्वं, श्रिया लक्ष्म्या

गृहं यत् अंघ्रिकमलं चरणकमलं तस्य अग्रदलत्वं निरूचे निश्चितमूचे। कोऽर्थः? स्वामिसत्कचरणकमले निश्चितं लक्ष्मीर्वसति, यः कोऽपि एकचित्तः तत् सेवते स लक्ष्मीमवश्यं प्राप्नोत्येव ॥ १९ ॥

पाणिमोचनविधावथ सार्द्ध-
द्वादशास्य पुरतोऽर्जुनकोटीः।
वासवः समकिरत् कियदेतत्,
तस्य यः करवसच्छतकोटिः ॥ २० ॥

पाणि० अथानन्तरं वासव इन्द्रः अस्य भगवतः पाणिमोचनविधौ पुरतो अग्रे सार्द्धद्वादश अर्जुनकोटीः सुवर्णकोटीः, समकिरत् विक्षिप्तवान्। तस्य एतत् कियद् यः करवसच्छतकोटिः, करे वसंती शतसंख्याकोटिः शतकोटिर्वज्रं वा यस्य स ईदृक् वर्तते ॥ २० ॥

रोहणाद्रिबिलवासितयाऽन्यो-
पक्रियाव्रतमहारि पुरा यैः।
तैस्तदा गिरिभिदास्य वितीर्णैः
स्वीयसृष्टिफलमाप्यत रत्नैः ॥ २१ ॥

रोह० यैः रत्नैः पुरा पूर्वं रोहणाद्रिबिलवासितया रोहणाचलसत्कगह्वरवासित्वेन अन्योपक्रियाव्रतं परोपकारकरणव्रतं अहारि। तदा तस्मिन्नवसरे तैः रत्नैः गिरिभिदा इन्द्रेण अस्य भगवतो वितीर्णैर्दत्तैः, सद्भिः स्वीयसृष्टिफलं आप्यत, प्राप्यते स्म ॥ २१ ॥

याः पुरो मघवतास्य विमुक्तास्ता
वदामि विशदा भुवि मुक्ताः ।
क्षारपंकवसनादितरासां,
क्षीण एव खलु शुक्तिमगर्वः ॥ २२ ॥

या० मघवता इन्द्रेण अस्य भगवतः पुरो अग्रे या मुक्ता विमुक्ताः, अहं भुवि पृथ्व्यां ता मुक्ता मौक्तिकानि विशदा उज्ज्वला वदामि, तद्यथा—'तारं वृत्तं गुरु स्निग्धं कोमलं निर्मलं तथा । षड्भिर्गुणैः समायुक्तं मौक्तिकं गुणवत् स्मृतम्' ॥ १ ॥ ईदृग्गुणयुक्ता दोषमुक्ता मुक्ता विशदा उच्यन्ते, इतरासां मुक्तानां क्षारपंकवसनात्, खलु निश्चितं, शुक्तिमगर्वः धवलितागर्वः क्षीण एव ॥ २२ ॥

दीपकाः सदसि यन्मणिजालैः,
क्रोधिताः स्वमहसा परिभूय ।
क्रुत्फलं शलभकेषु वितेनु-
स्ता अढौकयदमुष्य स भूषाः ॥ २३ ॥

दीप० स इन्द्रोऽमुष्य भगवतो हारार्द्धहारकटककेयूर-नक्षत्रमालास्ता भूषा आभरणान्यढौकयत् ढौकितवान् । सदसि सभायां दीपकाः यन्मणिजालैर्यासां भूषाणां मणिसत्ककिरण-समूहैः स्वमहसा आत्मीयतेजसा परिभूय पराभवस्थानं कृत्वा क्रोधिता ईर्ष्यां प्रापिताः सन्तः क्रुत्फलं क्रोधफलं शलभकेषु पतंगेषु वितेनुश्चक्रुः ॥ २३ ॥

श्लक्ष्णशुभ्रमृदुरादित रंभा-
स्तंभभङ्गभवतंतुसमूहः ।

यद्गुणोपमितिलेशमृभुक्षा-
स्तानि तस्य सिचयान्युपनिन्ये ॥ २४ ॥

श्लक्ष्ण० ऋभुक्षा इन्द्रस्तानि सिचयानि चीनांशुकपट्टांशुकगोर्जनेर्मनीलनेत्र ! हीरागर वइरागर जादरमेघाडंबरप्रभृतिवस्त्राणि उपनिन्ये ढौकयामास । सिचयशब्दः पुंनपुंसकलिङ्गे ज्ञेयः । रंभास्तंभभंगभवतंतुसमूहः—रम्भा कदली तस्याः स्तंभस्तस्य यो भंगस्तद्भवस्तंतुसमूहः । यद्गुणोपमितिलेशं येषां सिचयानां गुणास्तंतवस्तेषां उपमितिलेशं उपमानभवं आदित गृह्णाति स्म । किंलक्षणः रम्भास्तंभभंगभवतंतुसमूहः ? श्लक्ष्णः शुभ्रः मृदुः सूक्ष्मः धवलकुसुमालः ॥ २४ ॥

यन्मरीचिनिकरे ननु विष्व-
द्रीचिवीचिसदृशे जलराशेः ।
पोतति स्म सयुवापि निविष्टो,
रत्नविष्टरमदात्स तमस्मै ॥ २५ ॥

यन्म० स इन्द्रः अस्मै भगवते तं रत्नविष्टरं रत्नमयं सिंहासनं अदात् । स भगवान् युवापि तरुणोऽपि यत्र रत्नासने निविष्टः सन् यन्मरीचिनिकरे यस्य रत्नासनस्य किरणसमूहे पोतति स्म, पोतो बालः प्रवहणं वा तद्वदाचरति स्म । किंविशिष्टे यन्मरीचिनिकरे ? ननु निश्चितं विष्वद्रीचि विष्वग् समंततः प्रसृत्वरे 'सर्वादिविष्वग् देवा०' (सि० है० ३।२।१२२) इत्यादिसूत्रेण विष्वद्रीचिनिष्पत्तिः । पुनः किम् ? जलराशेः समुद्रस्य वीचिभिः कल्लोलैः सदृशे ॥ २५ ॥

छत्रमत्रुटितचारिम चोक्षे,
चामरे शयनमुच्चविशालम् ।
यन्मनोऽभिमतमन्यदपीन्द्रा-
द्वस्तु स स्तुतिपदं तदवाप ॥ २६ ॥

छत्र० अत्रुटितचारिम अत्रुटितः अच्छिन्नः चारिमा रमणीयत्वं यस्य तत् छत्रम्, चोक्षे पवित्रे चामरे, उच्चविशालं शयनं । अन्यदपि यद्वस्तु मनोहारि तद्वस्तु भगवान् इन्द्रात् अवाप प्राप्तः । किंविशिष्टं वस्तु ? स्तुतिपदं स्तुतेः श्लाघायाः पदं स्थानम् ॥ २७ ॥

नायकस्त्रिभुवनस्य न चार्थी,
दायकश्च कथमस्य दिवीशः ।
किन्तु वाहितमुवाच विवाह-
प्रान्तरं तनुभृतामयमेवम् ॥ २७ ॥

नाय० त्रिभुवनस्य नायकोऽर्थी याचको न स्यात्, दिवीश इन्द्रः अस्य भगवतो दायकः कथं स्यात् । किंतु अयं भगवान् तनुभृतां प्राणिनां विवाहप्रान्तरं विवाहस्य दूरशून्यमार्गं एवं अमुना प्रकारेण वाहितं उवाच ॥ २८ ॥

वल्लनावसरपाणिगृहीती-
वक्रसंगमितपाणिरराजत् ।
जातयत्न इव जातिविरोधं,
सोमतामरसयोः स निहन्तुम् ॥ २८ ॥

वल्ल० स भगवान् वल्लनावसरपाणिगृहीतीवक्रसंगमित-

पाणिः, वल्लनावसरे भोजनावसरे पाणिगृहीत्योः पत्न्योः वक्त्रे मुखे संगमितो मेलितः पाणिः हस्तो येन स, एवंविधः सन् अराजत शोभितः, उत्प्रेक्ष्यते—सोमतामरसयोश्चन्द्रकमलयोर्जातिविरोधं निहन्तुं विनाशयितुं जातयत्नः कृतोपक्रम इव । एतावता पत्न्योः मुखचन्द्रः प्रभोर्हस्तकमलमितिभावः ॥ २८ ॥

भक्ष्यमादतुरिमे पतिपाणि-
स्पर्शपोषितरसं मुदिते यत् ।
तज्जनेन युवतीजनवृत्तेः,
पुंस्यवस्थितिरिति प्रतिपेदे ॥ २९ ॥

भक्ष्य० इमे सुमङ्गलासुनन्दे मुदिते हर्षिते सत्यौ पतिपाणिस्पर्शपोषितरसं पतिपाणिर्भर्तृहस्तस्पर्शेन पोषितरसं यद्भक्ष्यं आदतुः भुञ्जते स्म, तत् तस्मात् कारणात्, जनेन लोकेन इति प्रतिपेदे प्रतिपन्नं आदृतम्? इतीति किम्? युवतीजनवृत्तेः स्त्रीजनस्य वृत्तेर्निर्वाहस्य पुंसि पुरुषे अवस्थितिः अवस्थानं ज्ञेयं, स्त्रीणां पुरुषान्निर्वाह इति भावः ॥ २९ ॥

पाणिना प्रभुरथ प्रणयिन्यो-
र्यत्तदा किमपि भक्ष्यमभुंक्त ।
प्राभवेऽपि नृषु यौषिदधीनं,
भोजनं तदिति को न जगाद ॥ ३० ॥

पाणि० अथानन्तरं प्रभुः प्रणयिन्योः पत्न्योः पाणिना हस्तेन तदा तस्मिन्नवसरे यत्किमपि भक्ष्यं अभुंक्त । तत् तस्मात् कारणात् इति को न जगाद अपितु सर्वः कोपि जगौ । इतीति किम्? नृषु पुरुषेषु प्राभवेपि प्रभुत्वेपि

सति भोजनं योषिदधीनं योषितां स्त्रीणां अधीनं आयत्तं ज्ञेयम् ॥ ३० ॥

वासवोऽथ वसनांचलमोक्षं,
निर्ममे विधिवदीशवधूनाम् ।
विश्वरक्षणपरस्य पुरोऽस्या-
ऽचेतनेष्वपि चिरं न हि बन्धः ॥ ३१ ॥

वास० अथानन्तरं वासव इन्द्रः ईशवधूनां विधिवल्लोकोक्तप्रकारेण वसनांचलमोक्षं निर्ममे कृतवान् । विश्वरक्षणपरस्य अस्य भगवतः पुरः अचेतनेष्वपि बन्धश्चिरं न हि स्यात्, 'अजीवाणारंभं' इत्यागमेऽपि वचनं ॥ ३१ ॥

ऊढवद्विभुमुखेन्दुनिरीक्षा-
मेदुरप्रमदवारिधिवीच्यः ।
नाकिनां हृदयरोधसि लग्ना-
स्तेनिरे तुमुलमंबरपूरम् ॥ ३२ ॥

ऊढ० ऊढवत्परिणीतप्रभोर्मुखेन्दोर्मुखचन्द्रस्य निरीक्षातो दर्शनतो मेदुराः स्थूलाः प्रमदवारिधेः हर्षसमुद्रस्य वीच्यः कल्लोला नाकिनां देवानां हृदयरोधसि हृत्तटे लग्नाः सत्योऽम्बरपूरं आकाशपूरणसमर्थं, तुमुलं कोलाहलं तेनिरे कुर्वन्तिस्म ॥ ३२ ॥

यन्ननर्त मघवानघवाक्त्वं,
नात्र शंभुभरतौ बिभृतः स्म ।
तद्विवाहविधिसिद्धनिजेच्छा-
भूरभूत्प्रमद एव गुरुस्तु ॥ ३३ ॥

यन्न० मघवा इन्द्रो यन्ननर्त । अत्र नृत्ये शंभुभरतौ शंभुः ईश्वरो महानटत्वात्, भरतो भरतशास्त्रकर्तृत्वात् अनघवाक्त्वं अनघा निर्दुष्टा वाग् वाणिस्तस्या भावः अनघवाक्त्वं एतावता उपदेशकत्वं न बिभृतः स्म । तु पुनः । तद्विवाहविधिसिद्ध-निजेच्छाभूस्तस्य स्वामिनो विवाहविधेः सिद्धाः निष्पन्ना या निजेच्छा ततो भूरुत्पन्नः, प्रमदो हर्षः एव गुरुरभूत् । गुरुराचार्यः प्रौढो वा, गुरुहीना च नृत्यादिकला न स्यात् ॥ ३३ ॥

नृत्यतोऽस्य करयुग्ममलासी-
न्मुक्तिमेवमुपरोद्धुमिवोर्ध्वं ।
नात्र नेतरि विरक्तिवयस्यां,
संप्रति प्रहिणुया वरणाय ॥ ३४ ॥

नृत्य० अस्य इन्द्रस्य नृत्यतः सतः करयुग्मं ऊर्ध्वं अलासीत्, किं कर्तुं? उत्प्रेक्ष्यते—मुक्ति एव उपरोद्धुमिव । एवमिति किम्? न अत्र अस्मिन्, नेतरि स्वामिनि संप्रत्यधुना विरक्ति-वयस्यां वैराग्यसखीं वरणाय प्रहिणुया नैव प्रेषयेः ॥ ३४ ॥

अङ्गहारभरभङ्गुरहार-
स्रस्तमौक्तिकमिषामृतबिन्दून् ।
अप्सरःसरसगानसमाने,
नर्तनेऽतत शचीप्रमदाब्धिः ॥ ३५ ॥

अङ्ग० शचीप्रमदाब्धिः इन्द्राणीहर्षसमुद्रः अप्सरः-सरसगानसमाने नर्तने नृत्यावसरे सति अङ्गहारभरभङ्गुरहार-स्रस्तमौक्तिकमिषामृतबिन्दून्—अङ्गहारभरेण अङ्गविक्षेपसमूहेन

भङ्गुराः त्रुटिता हारास्तेभ्यः स्रस्तक्षरितमौक्तिकमिषादमृतबिन्दून् अतत विस्तारयति स्म ॥ ३५ ॥

गेयसारधवलः प्रमदौघैः,
क्लीबदुर्वहकरग्रहचिह्नः ।
सोऽभ्यगाद्गृहमथो परदेशा-
द्भूमिपाल इव लब्धमहेलः ॥ ३६ ॥

गेय० अथो अथानन्तरं स भगवान् गृहं अभ्यगात् गृहं प्रति ययौ । किंविशिष्टः भगवान्? प्रमदानां स्त्रीणां समूहैर्गेयाः सारा धवला यस्य सः । पुनः किंविशिष्टः? क्लीबैः षण्ढैः दुर्वहं करग्रहं चिह्नं (यस्य) पाणिग्रहणचिह्नं यस्य सः । पुनः किंविशिष्टः? लब्धे प्राप्ते महेले स्त्रियौ येन सः । क इव? भूमिपाल इव, यथा भूमिपालो राजा परदेशात् गृहं अभ्येति । किंविशिष्टः भूमिपालः? प्रमदानां हर्षाणां समूहे गेयं, सारं बलं तेन धवल उज्ज्वलः । पुनः किंविशिष्टः? क्लीबैः कातरैर्दुर्वहं करग्रहस्य सर्वदेशदण्डग्रहणस्य चिह्नं यस्य सः । पुनः किंविशिष्टः? लब्धा महती इला पृथ्वी, ईडा स्तुतिर्वा येन सलब्धमहेलः । डलयोरैक्यम् ॥ ३६ ॥

स्वामिनः पथि यतः पुरतो य-
स्तूरपूरनिनदः प्रससार ।
स स्वमंदिरगतासु बभारा-
कृष्टिमंत्रतुलनां ललनासु ॥ ३७ ॥

स्वामि० स्वामिनः श्रीऋषभदेवस्य पथि मार्गे यतः गच्छतः सतो यस्तत १ वितत २ घन ३ शुषिराणां ४ तूराणां पूरस्य

निनदो ध्वनिः प्रससार, स तूरपूरनिनदः स्वमन्दिरगतासु आत्मीयावासस्थितासु ललनासु स्त्रीषु आकृष्टिमंत्रतुलनां बभार । कोऽर्थः? तूरपूरनिनदेन स्वामिनं नवपरिणीतं सवधूकमागच्छन्तं श्रुत्वा स्त्रियः सर्वव्यापारं विमुच्यागता विलोकनायेति भावः ॥ ३७ ॥

पंक्तिमौक्तिकनिवेशनिमित्तं,
स्वक्रमांगुलिकया धृतसूत्राम् ।
हारयष्टिमवधूय दधावे,
वीरुधं करिवधूरिव काचित् ॥ ३८ ॥

पंक्ति० काचित् स्त्री हारयष्टिं अवधूयावगणय्य दधावे धाविता । केव? करिवधूरिव यथा करिवधूर्हस्तिनी वीरुधं वल्लीं अवधूय धावति । किंविशिष्टां हारयष्टिम्? पंक्तिमौक्तिकनिवेशनिमित्तं पंक्त्या मौक्तिकनिवेशार्थं स्वक्रमाङ्गुलिकया आत्मीयचरणांगुष्ठेन धृतसूत्राम् ॥ ३८ ॥

कापि नार्ययमितश्लथनीवी-
प्रक्षरन्निवसना(प्य?) ललज्जे ।
नायकाननिवेशितनेत्रे,
जन्यलोकनिकरेऽपि समेता ॥ ३९ ॥

कापि० कापि स्त्री अयमितश्लथनीवी अयमिताया अत एव हेतोः श्लथाया नीव्या मेखलायाः प्रक्षरन्निवसनापि क्षरद्वस्त्रापि सती न ललज्जे । लज्जाया अभावहेतुमाह, किंलक्षणा काचित्? जन्यलोकनिकरे समेतापि । किंविशिष्टे जन्यलोक-

निकरे ? नायकाननिवेशितनेत्रे नायकस्य श्रीऋषभदेवस्य आनने मुखे दत्तलोचने ॥ ३९ ॥

तत्समिन्निशमनोच्छ्वसितान्या,
कंचुकत्रुटिपट्टकृतवक्षाः ।
यौवनोत्कटकटाक्षितकुन्तैः,
पाटितापि सुभटीव पुरोऽभूत् ॥ ४० ॥

तत्सं० अन्या स्त्री यौवनोत्कटकटाक्षितकुन्तैर्यौवनेन उत्कटास्तरुणाः पुरुषास्तेषां कटाक्षा एव कुन्ताः भल्लास्तैः पाटितापि विदारितापि सुभटीव पुरोऽग्रेऽभूत् । किंलक्षणा अन्या ? तत्समिन्निशमनोच्छ्वसिता तस्य भगवतः समित् सभा संग्रामो वा तस्य निशमनेन निरीक्षणेन उच्छ्वसिता । पुनः किंलक्षणान्या ? कंचुकत्रुटिपट्टकृतवक्षाः, कंचुकः कंचुलिका जरादावा (?) तस्या त्रुटिः त्रोटनेन पट्टकृतं वक्षो हृदयं यस्याः सा कंचुकत्रुटिपट्टकृतवक्षाः ॥ ४० ॥

तूर्णिमूढदृगपास्य रुदन्तं,
पोतमोतुमधिरोप्य कटीरे ।
कापि धावितवती नहि जज्ञे,
हस्यमानमपि जन्यजनैः स्वम् ॥ ४१ ॥

तूर्णि० कापि स्त्री जन्यजनैः स्वं हस्यमानमपि नहि जज्ञे नहि ज्ञातवती । किं कृतवती ? पोतं बालं रुदन्तं अपास्य त्यक्त्वा ओतुं बिडालं कटितटे अधिरोप्य धावितवती । किंलक्षणा स्त्री ? तूर्णिमूढदृक्, तूर्ण्या औत्सुक्येन मूढा दृष्टिर्यस्याः सा तूर्णिमूढदृक् ॥ ४१ ॥

कज्जलं नखशिखासु निवेश्या-
लक्तमक्षणि च वीक्षणलोला ।
कंठिकां पदि पदांगदमुच्चैः
कंठपीठलुठितं रचयन्ती ॥ ४२ ॥

मज्जनात् परमसंयतकेशी,
वैपरीत्यविधृतांशुकयुग्मा ।
काचिदागतवती ग्रहिलेव,
त्रासहेतुरजनिष्ट जनानाम् ॥ ४३ ॥

युग्मम् ॥

कज्ज० मज्जनात्० परमसंयतकेशी वैपरीत्यविधृतांशुकयुग्मा काचिदागतवती ग्रहिलेव। काचित् स्त्री गृहिलेव आगतवती आयाता सती जनानां लोकानां त्रासहेतुरजनिष्ट जाता । किंलक्षणा स्त्री ? वीक्षणलोला विलोकनचपला । किं कुर्वती ? कज्जलं नखशिखासु निवेश्य । च पुनः, अलक्तं अक्षणि लोचने निवेश्य, कण्ठिकां कण्ठिकाभरणं पदि चरणे निवेश्य, पदांगदं नूपुरं उच्चैः कंठपीठलुठितं रचयन्ती ॥ पुनः किंलक्षणा स्त्री ? मज्जनात् परं स्नानादनन्तरं असंयतकेशी अबद्धकुन्तला । पुनः किंलक्षणा स्त्री ? वैपरीत्यविधृतांशुकयुग्मं परिधानवस्त्रं शीर्षे शीर्षवस्त्रं परिधाने, एवं विपरीतत्वेन धृतवस्त्रयुगला ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ युग्मम् ॥

यौवतेन जविना वरवीक्षा-
धाविना विधुरितप्रसरान्या ।

पत्युरिष्टमपि मंदितचारं
स्वं निनिन्द जघनस्तनभारम् ॥ ४४ ॥

निर्मि० अन्या स्त्री पत्युरिष्टमपि भर्तुरभीष्टमपि, मन्दितचारं मन्दीकृतगमनं, स्वं आत्मीयं जघनस्तनभारं निनिन्द । किंलक्षणा स्त्री अन्या ? जविना वेगवता यौवतेन युवतीसमूहेन विधुरितप्रसरा मन्दीकृतत्वरितरागमना । किंलक्षणेन यौवतेन ? वरवीक्षार्थं धाविना ॥ ४४ ॥

निर्निमेषनयनां नखचर्या-
ऽस्पृष्टभूमिमपरामिह दृष्ट्वा ।
को नु देव्यजनि पश्यत देव-
ध्यानतो द्रुतमसाविति नोचे ॥ ४५ ॥

निर्नि० इह समुदये अपरां स्त्रियं निर्निमेषां निमेषरहितलोचनां नखचर्यास्पृष्टभूमिं दृष्ट्वा कः पुमान् इति न ऊचे, इतीति किम् ? भो ! भो ! जनाः पश्यत । असौ स्त्रीषु । इति वितर्के । देवध्यानतो द्रुतं शीघ्रं देव्यजनि, यतो देवतापि निर्निमेषलोचना अस्पृष्टभूमिश्च स्यात्, 'चतुरंगुलेन भूमिं न छिवन्ति सुरा जिणा बिन्ति', इति वचनात् ॥ ४५ ॥

प्रागपि प्रभुरभूद्रमणीयः,
काधिकास्य विदधे विबुधैः श्रीः ।
यत्त एव परियन्त्यमुमन्या,
तद्दिदृक्षुरिति सेर्ष्यमुवाच ॥ ४६ ॥

प्राग० अन्या स्त्री तद्दिदृक्षुः तं भगवन्तं द्रष्टुमिच्छुः सती,

इति अमुना प्रकारेण, सेर्ष्यं ईर्षासहितं यथा भवति तथा उवाच। इतीति किम्? प्रभुः स्वामी प्रागपि अग्रेऽपि रमणीयोऽभूत्। विबुधैर्देवैरस्य भगवतः काऽधिका श्रीः शोभा विदधे कृता। यत् यस्मात् कारणात्, त एव विबुधा अमुं भगवन्तं परियन्ति परिवृण्वन्ति ॥ ४६ ॥

मुञ्च वर्त्म सखि! पृष्ठगतापि,
त्वं निभालयसि नाथमकृच्छ्रम्।
इत्युपात्तचटुवाक् पुरतोऽभूत्,
कापि खर्ववपुरुच्चतरांग्याः ॥ ४७ ॥

मुञ्च० कापि खर्ववपुर्वामनशरीरा स्त्री उच्चतरांग्याः उच्चैस्तरायाः स्त्रिया इति अमुना प्रकारेण उपात्तचटुवाक् गृहीतचाटुवचना सती पुरोऽग्रेऽभूत्। इतीति किम्? हे सखि! त्वं वर्त्म मार्गं मुंच, त्वं पृष्ठगतापि पृष्ठौ स्थितापि सती नाथं स्वामिनं अकृच्छ्रं सुखेन निभालयसि विलोकयिष्यसि ॥ ४७ ॥

एवमद्भुतरसोम्भितनारी-
नेत्रनीलनलिनांचितकायः।
तासु काञ्चनमुदं प्रददानः,
स्वालयाग्रमगमज्जगदीशः ॥ ४८ ॥

एव० जगदीशो जगन्नाथः स्वालयाग्रं स्वीयावासद्वारं अगमत्। किंलक्षणो जगदीशः? एवं पूर्वोक्तप्रकारेण अद्भुतरसोम्भितनारीनेत्रनीलनलिनांचितकायः, अद्भुतरसेन उम्भि-

तानां पूरितानां नारीणां नेत्रैरेव नीलनलिनैर्नीलकमलैः अंचितः पूजितः, कायो देहो यस्य सः । पुनः किंलक्षणः स्वामी ? तासु स्त्रीषु काञ्चनमुदं काञ्चनपूर्वां मुदं हर्षं प्रददानः, पक्षे कांचनं सुवर्णं प्रभुपूजायाः फलं, 'देवच्चणेण रज्जं' इति वचनात् ॥ ४८ ॥

हस्तिनो हसितमेरुमहिम्नो,
गाङ्गपूरवदथावतरन्तम् ।
वासवः शमितपातकतापं,
तं दधौ द्युगतमेव बलोग्रः ॥ ४९ ॥

हस्ति० अथानन्तरं वासव इन्द्रस्तं भगवन्तं हस्तिना ऐरावणात् अवतरंतम् द्युगतमेव आकाशस्थमेव दधौ धृतवान्, किंलक्षणः इन्द्रः ? बलेन उग्रः उत्कटः अथवा उग्र ईश्वरः यथा उग्र ईश्वरो मेरोः मेरुपर्वतादवतरंतं गाङ्गपूरं गङ्गायाः पूरं द्युगतमेव आकाशस्थमेव दधौ धृतवान् । किंविशिष्टाद् हस्तिनः ? हसितमेरुमहिम्नः । किंलक्षणं तं भगवन्तम् ? शमितपातकतापम् ॥ ४९ ॥

हेमकान्तिहरिणा हरिणाक्षी-
यामलं पुनरदीयत शच्यै ।
पाणिभूषणतया क्षणमस्या-
स्तत्सुवृत्तमभजद्वलयाभाम् ॥ ५० ॥

हेम० हरिणा इन्द्रेण हेमकान्तिसुवर्णवत्कान्तिर्यस्य तद् हेमकान्ति, हरिणाक्षीयामलं वधूयुगलं, पुनः शच्यै इन्द्राण्यै

अदीयत दत्तम् । तत् हरिणाक्षीयामलं क्षणं अस्याः शच्याः पाणिभूषणतया हस्ताभरणत्वेन वलयानां शोभा वलयशोभां अभजत । किंलक्षणं हरिणाक्षीयामलम् ? सुवृत्तं शोभनं वृत्तं चरित्रं यस्य, पक्षे सुष्ठु वृत्तं वृत्ताकारम् ॥ ५० ॥

अंसदेशमनयन्नयशाली,
तं हरिः स्वमथ शच्यपि वध्वौ ।
शक्तिमत्त्वमखिलापघनेभ्यो,
विश्रुतं किमु परीक्षितुमस्य ॥ ५१ ॥

अंश० अथानन्तरं नयशाली न्यायेन शोभत इति, नयशाली हरिरिन्द्रस्तं भगवन्तं स्वं आत्मीयं अंसदेशं स्कन्धप्रदेशं अनयत् । शच्यपि इन्द्राण्यपि वध्वौ सुमङ्गलासुनन्दे स्वं अंसं अनयत् अलात्, किं कर्तुं ? अस्य अंसदेशस्य अखिलापघनेभ्यः समस्तावयवेभ्यो विश्रुतं विख्यातं शक्तिमत्त्वं शक्तियुक्त्वं, परीक्षितुं किमु ॥ ५१ ॥

विश्वविश्वविभुना परिणद्धै-
कांसभूरपि विभुः स ऋभूणाम् ।
सङ्गतां सयुगलामबलाभ्यां,
न स्वतः प्रणयिनीं बहु मेने ॥ ५२ ॥

विश्व० स ऋभूणां विभुरिन्द्रः विश्वविश्वविभुना परिणद्धैकांसभूरपि समग्रविश्वाधिपेन व्याप्तैकस्कन्धस्थानोऽपि सन्, उभाभ्यां सुमंगलासुनन्दाभ्यां अबलाभ्यां सङ्गतां सयुगलां मिलितस्कन्धयुग्मामपि प्रणयिनीं इन्द्राणीं स्वत आत्मनो न

बहु मेने । कोऽर्थः ? इन्द्रेण भगवान् एकस्मिन्नेव स्कन्ध आरोपित इन्द्राण्या उभयो स्कन्धयोः वधूयुग्ममारोपितं तेन आत्मानं न्यूनत्वेन न मेने । भगवान् एकोऽपि गुरुः, वध्वौ तु अबले इति भावः ॥ ५२ ॥

तत्र तौ प्रमदनिर्मितनृत्यौ,
तं च ते च परितोषयतः स्म ।
क्ष्मां तदंह्रिकमलस्पृहयालुं,
प्रक्षरत्सुमचयैः सुखयन्तौ ॥ ५३ ॥

तत्र० तत्र तस्मिन्नवसरे तौ शचीन्द्रौ प्रमदनिर्मितनृत्यौ हर्षेण कृतनाट्यौ सन्तौ तं च भगवन्तं ते च कन्ये परितोषयतः स्म, हर्षयतः स्म । किं कुर्वन्तौ शचीन्द्रौ ? तदंह्रिकमलस्पृहयालुं तस्य भगवतश्चरणकमलस्पृहणशीलां क्ष्मां पृथ्वीं प्रक्षरद्भिः सुमचयैः पुष्पसमूहैः सुखयन्तौ ॥ ५३ ॥

अप्सरोभिरिति कौतुकगाने-
ऽप्यस्य न स्मरवशत्वमभाणि ।
मास्म लज्जिततरस्तरुणीना-
मिष्टमेष कषदेकभटस्तम् ॥ ५४ ॥

अप्स० अप्सराभिर्देवांगनाभिरित्यस्मात् कारणात् कौतुकगाने कौतुकेन गीतगानमध्येऽपि अस्य भगवतः स्मरवशत्वं न अभाणि न भणितम् । इतीति किम् ? एकभट एष भगवान् लज्जिततरो लज्जितः सन् तरुणीनां स्त्रीणां इष्टं तं स्मरं तं कंदर्पं मास्म कषद् मास्म हिंसीत् ॥ ५४ ॥

नेत्रमण्डलगलज्जलधारा-
धिष्ण्यबन्धुरिमधूर्वहदेहः ।
तं शतक्रतुरथो कृतकृत्यः,
स्वर्यियासुरभिवन्द्य जगाद ॥ ५५ ॥

नेत्र० अथो अथानन्तरं शतक्रतुरिन्द्रः कृतकृत्यः निष्पादितसर्वकार्यः सन् स्वर्यियासुः स्वर्गगमनमिच्छुः, तं भगवन्तमभिवन्द्य जगाद । स्थाने मुक्त्वा इत्यूचिवान् । किंलक्षणः इन्द्रः ? नेत्रमण्डलगलज्जलधाराधिष्ण्यबन्धुरिमधूर्वहदेहः, नेत्रमंडलाद् गलज्जलं तेन धाराधिष्ण्यस्य धारागृहस्य बन्धुरिम्नो मनोज्ञत्वस्य धूर्वहो भारवाहो देहो यस्य स नेत्रमंडलगलज्जलधाराधिष्ण्यबन्धुरिमधूर्वहदेहः ॥ ५५ ॥

रूपसिद्धिमपि वर्णयितुं ते,
लक्षणाकर ! न वाक्पतिरीशः ।
यच्चतुष्ककलनाऽपि दुरापा,
तद्धि तत्प्रकरणं मनुते कः ॥ ५६ ॥

रूप० हे लक्षणाकर ! भृङ्गारचामरयुगध्वजयुग्मशङ्खमंजीरनीरधिसरित्पुरपुष्करिण्य इत्याद्याष्टोत्तरसहस्रलक्षणानामाकरो यः, पक्षे लक्षणानां व्याकरणानां आकरस्तस्य संबोधनम् । वाक्पतिर्बृहस्पतिः । ते तव रूपसिद्धिमपि रूपं शरीरसत्कं तस्य सिद्धिः, पक्षे रूपसिद्धिः तामपि वर्णयितुं न ईशो न समर्थः । यच्चतुष्ककलनापि दुरापा, यस्य भगवतः चतुष्कावसरः सभावसरः तस्य कलनापि दुःप्रापा वर्तते । तद्धितप्रकरणं तस्य भगवतो हितप्रकरणं तदा को मनुते को जानाति, अपि तु न

कोऽपि । यस्य चतुष्के सभायामपि गन्तुं न शक्यते तस्य हितप्रकरणं हितचिन्ता कथं क्रियते ? द्वितीयेऽर्थे तस्य लक्षणाकरस्य तद्धितप्रकरणं तद्धितवृत्तिं को मनुते यस्य चतुष्कस्य आद्यवृत्तेः कलनापि दुरापा दुःप्रापाऽस्तीति ॥ ५६ ॥

यन्महः समुपजीव्य जडोऽपि,
स्यात्कलाभृदिति विश्रुतिपात्रम् ।
यन्नये विनयनं तव तस्य,
द्योतनं द्युतिपतेस्तदधीश ! ॥ ५७ ॥

यन्म० हे नाथ ! यस्य तव महः समुपजीव्य जडोऽपि मूर्खोऽपि कलाभृदिति विश्रुतिपात्रं कलावान् इति विश्रुतिपात्रं ख्यातिस्थानं स्यात् । पक्षे यन्महः यस्य द्युतिपतेः सूर्यस्य महस्तेजः समुपजीव्य जडोऽपि चन्द्रः कलाभृत् स्यात् । अमावास्यायां सूर्याचन्द्रमसौ सङ्गतः स्यातां, ततश्चन्द्रः सूर्यात्तेजः प्राप्य प्रतिपदि गोभिर्विलोक्यः स्यात्, द्वितीयायां मानुषैः । एवं कलाधर इति प्रसिद्धः स्यात् । तस्य तव नये न्यायविषये यद्विनयनं शिक्षणं हे अधीश ! तत् द्युतिपतेः सूर्यस्य द्योतनं प्रकाशनं वर्तते ॥ ५७ ॥

वच्मि किञ्चन पुनः प्रभुभक्त्या,
ये इमे ऋजु(कृत ?)मती कुलकन्ये ।
आहृते भगवता सुविनीते,
प्रेम जातु न तयोः श्लथनीयम् ॥ ५८ ॥

वच्मि० हे नाथ ! अहं पुनः किंचन प्रभुभक्त्या वच्मि, ये

इमे कृतमती विचक्षणे सुविनीते कुलकन्ये सुमंगलासुनन्दे भगवता आहृते, (तयोः) प्रेम स्नेहो जातु कदाचिदपि न श्लथनीयम् ॥ ५८ ॥

यः परोऽपि विभुमाश्रयतेऽसौ,
तस्य पुण्यमनसः खलु पाल्यः।
किं पुनः कुलवधूरवधूय,
प्रेम पैतृकमुपान्तमुपेता ॥ ५९ ॥

यः० हे नाथ? यः परोऽपि अन्योऽपि विभुं स्वामिनं आश्रयते, खलु निश्चितं असौ पुमान् पुण्यमनसः, तस्य विभोः पाल्यः पालनीयः। किं पुनः? कुलवधूः कुलवधूनां किमुच्यते, या पैतृकं प्रेम अवधूय पितृस्नेहं त्यक्त्वा उपान्तं स्वामिसमीपं उपेता समेता ॥ ५९ ॥

ये द्विषत्सु सहना इह गेहे-
नर्दिनः प्रणयिनीं प्रति चण्डाः।
ते भवन्तु पुरुषाश्चरितार्थाः,
श्मश्रुणैव न तु पौरुषभंग्या ॥ ६० ॥

ये० हे नाथ ये पुरुषा इह जगति द्विषत्सु वैरिषु सहनाः क्षमापरा वर्तन्ते। किंलक्षणा ये? गेहेनर्दिनो गेहेशूराः। पुनः किंलक्षणाः? प्रणयिनीं प्रति चण्डाः कलत्रं प्रति रौद्राः। ते पुरुषाः श्मश्रुणैव कूर्चेनैव चरितार्थाः, सत्यार्थाः भवन्तु। न तु पौरुषभङ्ग्या न तु पराक्रमव्युत्पत्त्या। उक्तं च 'पात्रे त्यागी गुणे रागी भोगी परिजनैः सह। शास्त्रे बोद्धा रणे योद्धा, पुरुषः पञ्चलक्षणः' ॥ १ ॥ हीनत्वात् तेषाम् ॥ ६० ॥

अन्तरेण पुरुषं न हि नारी,
तां विना न पुरुषोऽपि विभाति ।
पादपेन रुचिमंचति शाखा,
शाखयैव सकलः किल सोऽपि ॥ ६१ ॥

अन्त० हे नाथ ! नारी स्त्री पुरुषं अन्तरेण विना नहि भाति न शोभते, पुरुषोऽपि तां नारीं विना न विभाति, शाखा पादपेन वृक्षेण रुचिं शोभां अंचति प्राप्नोति, सोऽपि पादपोऽपि शाखयैव सकलः संपूर्णो वर्तते ॥ ६१ ॥

मुक्तिरिच्छति यदुज्झितदारं
स्त्री स्त्रियं न हि सहेत स हेतुः ।
कामयन्त इतरे तु महेला-
युक्तमेव पुरुषं पुरुषार्थाः ॥ ६२ ॥

मुक्ति० मुक्तिर्मोक्षरूपः पदार्थः यत् उज्झितदारं त्यक्तकलत्रं पुरुषं इच्छति, स हेतुरयं ज्ञेयः, यत् स्त्री स्त्रियं न हि सहेत । इतरे धर्मार्थकामाः पुरुषार्था महेलायुक्तं स्त्रीयुक्तमेव पुरुषं कामयंते ॥ ६२ ॥

योषितां रतिरलं न दुकूले,
नापि हेम्नि न च सन्मणिजाले ।
अन्तरङ्ग इह यः पतिरङ्गः,
सोऽदसीय हृदि निश्चलकोशः ॥ ६३ ॥

योषि० हे नाथ ! योषितां स्त्रीणां अलं अत्यर्थं दुकूले पट्टदुकूले न रतिः, नापि हेम्नि सुवर्णे । च पुनः, सन्मणिजाले

प्रशस्यमणिसमूहे न रतिः, इह जगति अन्तरङ्गो यः पतिरंगः, स अदसीय हृदि अमूषां योषितां हृदये निश्चलकोशो भांडागारः ॥ ६३ ॥

*स्पष्टनैकगुणमुज्झति नैका
दीनवाञ्जनमदीनमनस्कः ।
चञ्चलापि किमनल्पगुणाढ्या,
धीयते न कुलमूर्ध्नि पताका ॥ ६४ ॥

मौग्ध्यहेतुरनयोरनयोऽपि,
स्वामिना समुचितो ननु सोढुम् ।
कारिकासु सिकताधिकतायाः,
किं प्रकुप्यति नदीषु नदीशः ॥ ६५ ॥

मौग्ध्य० हे नाथ ! अनयोर्वध्वोरनयोऽन्यायोऽपि स्वामिनो ननु निश्चितं सोढुं समुचितो योग्यः । किंविशिष्टोऽनयः ? मौग्ध्यहेतुः मौग्ध्यं मुग्धता हेतुः कारणं यस्य सः । नदीशः समुद्रः किं नदीषु प्रकुप्यति ? कोपं कुरुते अपितु नैव, किंलक्षणासु नदीषु ? सिकताधिकताया सिकतानां अधिकताया आधिक्यस्य कारिकासु कुर्वाणासु ॥ ६५ ॥

मन्तुमन्तमपि भावविशुद्धं,
शुद्धमेव गणयन्ति गुणज्ञाः ।
मान्य एव शुचिरंतरिहेभ्य-
स्त्रैणकण्ठरसिकोऽपि हि हारः ॥ ६६ ॥

* टीकात्र नोपलब्धा प्राप्तयोरादर्शप्रत्योः—संपादकः ।

*स्पष्ट० हे नाथ ? अदीनमनस्कः उदारहृदयः, एकादीनवात् एकस्मात् आदीनवात् दूषणात् स्पष्टैकगुणं प्रकटानेकगुणं जनं न उज्झति, अनल्पगुणाढ्या अनल्पैर्बहुभिर्गुणैर्विनयादिभिस्तंतुभिर्वा, आढ्या समृद्धा चञ्चलाऽपि पताका कुलमूर्ध्नि कुलं आवासं गोत्रं वा तस्य मूर्ध्नि मस्तके (किं?) न धीयते अपि तु ध्रियं एव ॥ ६४ ॥

मन्तु० हे नाथ ! गुणज्ञाः पुरुषाः मन्तुमन्तमपि अपराधिनमपि पुरुषं भावविशुद्धं शुद्धमेव गणयन्ति । इहैष दृष्टान्तः, हि निश्चितं इभ्यस्त्रैणकंठरसिकोऽपि इभ्या धनवन्तस्तेषां स्त्रैणं स्त्रीसमूहस्तस्य कण्ठे रसिकोऽपि कण्ठासक्तोऽपि हारः अन्तर्मध्ये शुचिः पवित्रः सन् मान्य एव ॥ ६६ ॥

त्वं परां नृषु यथाश्नसि कोटिं,
स्त्रीष्विमे अपि तथा प्रथिते तत् ।
प्रेम्णि वीक्ष्य घनतां जनता वः,
स्थैर्यमावहतु दंपतिधर्मे ॥ ६७ ॥

त्वं० हे नाथ ? त्वं नृषु पुरुषेषु यथा परां कोटिं अग्रविभागं अश्नसि प्राप्नोसि, तथा इमे अपि सुमंगलासुनन्दे स्त्रीषु प्रथिते विख्याते । तत् तस्मात् कारणात् जनता जनसमूहो वः युष्माकं प्रेम्णि स्नेहे घनतां दृढतां वीक्ष्य दंपतिधर्मे दयिता च पतिश्च दंपती तयोर्धर्मे स्थैर्यं आवहतु ॥ ६७ ॥

प्राप्तकालमिति वाक्यमुदित्वा,
मोदभाजि विरते सुरराजे ।

---

* टीकेयं लेखकदोषादत्र पतिताऽपि यथास्थानं वाच्येति प्रार्थयति सम्पादकः ।

आलपत्कुलवधूसमयज्ञा,
शच्यपि प्रथमनाथनवोढे ॥ ६८ ॥

प्राप्त० कुलवधूसमयज्ञा कुलवधूनामाचारज्ञा शच्यपि इन्द्राण्यपि प्रथमनाथनवोढे श्रीयुगादिदेवकलत्रे, सुमंगलासुनन्दे आलपत् उवाच । क सति ? प्राप्तकालं प्राप्तावसरम् इति पूर्वोक्तं वाक्यं उदित्वा घटयित्वा मोदभाजि हर्षभाजि सुरराजे इन्द्रे विरते निवृत्ते सति ॥ ६८ ॥

यस्य दास्यमपि दुर्लभमन्यै-
स्तत्प्रिये बत युवां यदभूतम् ।
भाग्यमेतदलमत्रभवत्योः,
कः प्रवक्तुमलमत्रभवत्योः ॥ ६९ ॥

यस्य० हे कुलीने ! यस्य भगवतो दास्यमपि अन्यैः दुर्लभं वर्तते । बत इति वितर्के । युवां यत् तत्प्रिये तस्य स्वामिनो दयिते अभूतं जाते । एतत् अलं अत्यर्थं अत्रभवत्योः पूज्ययोर्भवत्योः युवयोर्भाग्यं । अत्र जगति । कः पुमान् प्रवक्तुं प्रकर्षेण जल्पितुं अलं समर्थो भवेत् । अपि तु न कोऽपि ॥ ६९ ॥

देवदेवहृदि ये निविशेथे,
ते युवां न भवथोऽन्यविनेये ।
स्वान्तमेव मम धृष्टधुरीणं,
यच्छिशिक्षयिषु वामपि कामम् ॥ ७० ॥

देव० हे सुमंगलासुनन्दे युवां ये देवदेवहृदि देवदेवस्य श्रीयुगादीशस्य हृदये निविशेथे वसथः, ते युवां अन्यविनेये अन्यशिक्षणीये न भवथः । मम स्वान्तमेव चित्तमेव धृष्टधुरीणं

वर्तते, यत् स्वान्तं वामपि कामं अत्यर्थं शिशिक्षयिषु शिक्षयितुमिच्छु वर्त्तते ॥ ७० ॥

श्रोत्रयोर्गुरुगिरां श्रुतिरास्ये,
सूनृतं हृदि पुनः पतिभक्तिः ।
दानमर्थिषु करे रमणीना-
मेष भूषणविधिर्विधिदत्तः ॥ ७१ ॥

श्रोत्र० रमणीनां स्त्रीणां एष भूषणविधिर्विधिदत्तो वर्त्तते, विधिना विधात्रा दत्तो विधिदत्तः । एष कः? श्रोत्रयोः कर्णयोः गुरुगिरां श्रुतिर्गुरुवाणीनां श्रवणम् । आस्ये मुखे सूनृतं सत्यवचः । पुनः । हृदि पतिभक्तिः । करे अर्थिषु याचकेषु दानम् ॥ ७१ ॥

सुभ्रुवां सहजसिद्धमपास्यं,
चापलं प्रसवसद्म विपत्तेः ।
येन कूलकठिनाश्मनिपाता-
द्वीचयोऽम्बुधिभुवोऽपि विशीर्णाः ॥ ७२ ॥

सुभ्रु० सुभ्रुवां स्त्रीणां चापलं चपलत्वं सहजसिद्धं अपास्यं त्याज्यं त्यजनयोग्यं वर्त्तते । किंलक्षणं चापलम्? विपत्तेः विनाशस्य प्रसवसद्म जन्मस्थानम् । येन चापलेन कूलकठिनाश्मनिपातात्, कूलं तटं तत्र ये कठिना अश्मानः पाषाणाः तत्र निपातात् पतनात् अम्बुधिभुवोऽपि समुद्रजाता अपि वीचयः कल्लोला विशीर्णा भग्नाः ॥ ७२ ॥

चापलेऽपि कुलमूर्ध्नि पताका,
तिष्ठतीति हृदि मा स निधत्तम् ।

प्राप साऽपि वसतिं जनबाह्यां,
दण्डसंघटनया दृढबद्धा ॥ ७३ ॥

चाप० हे कुलीने ! हृदि इति मा स्म निधत्तं चित्ते इति मा स्म चिन्तयन्तम्। इतीति किम् ? पताका चापलेऽपि चपलत्वेऽपि सति, कुलमूर्ध्नि कुलं गृहं गोत्रं वा तस्य मूर्ध्नि मस्तके तिष्ठति । सापि पताका दण्डसङ्घटनया दृढबद्धा सती जनबाह्यां वसतिं वासं प्राप ॥ ७३ ॥

अस्ति संवननमात्मवशं चे-
दौचितीपरिचिता पतिभक्तिः ।
मूलमंत्रमणिभिर्मृगनेत्रा-
स्तद् भ्रमन्ति किमु विभ्रमभाजः ॥ ७४ ॥

अस्ति० हे कुलीने ! स्त्रीणां चेत् यदि औचितीपरिचिता औचित्यगुणयुक्ता पतिभक्तिरात्मवशं संवननं वशीकरणमस्ति, तत् तस्मात् कारणात् मृगनेत्राः स्त्रियो मूलमंत्रमणिभिः किमु किमर्थं विभ्रमभाजो भ्रमभाजो भ्रमन्ति ॥ ७४ ॥

भोजिते प्रियतमेऽहनि भुंक्ते,
या च तत्र शयिते निशि शेते ।
प्रातरुज्झति ततः शयनं प्राक्,
सैव तस्य सुतनुः सतनुः श्रीः ॥ ७५ ॥

भोजि० या स्त्री प्रियतमे भर्त्तरि अहनि दिवसे भोजिते सति भुंक्ते । च पुनः या तत्र प्रियतमे निशि रात्रौ शयिते सति शेते । प्रातः प्रभाते तत् प्रियतमात् प्राक् पूर्वं शयनं उज्झति त्यजति । तस्य प्रियतमस्य सैव सुतनुः स्त्री सतनुः मूर्त्तिमती

श्रीः लक्ष्मीः स्यात्, उक्तं च—"अनुकूला, सदा तुष्टा दक्षा साध्वी विचक्षणा । एभिः पंचगुणैर्युक्ता श्रीरिव स्त्री न संशयः" ॥ ७५ ॥

नेत्रपद्ममिह मीलति यस्या,
वीक्षिते परपुमाननचन्द्रे ।
श्रीगृहं सृजति पंकजिनीव,
तामिनः स्वकरसङ्गमबुद्धाम् ॥ ७६ ॥

नेत्र० यस्याः स्त्रियाः परपुमाननचन्द्रे परपुरुषमुखचन्द्रे वीक्षिते सति नेत्रपद्मं मीलति संकुचति । इनो भर्ता सूर्यो वा स्वकरसङ्गमबुद्धां आत्मीयकरस्पर्शनविकसितां तां स्त्रियं पंकजिनीव कमलिनीवत् श्रीगृहं सृजति, आत्मीयगृहसत्कसर्वलक्ष्मीस्थानं करोतीति भावः ॥ ७६ ॥

मास्म तप्यत तपः परितक्षीत्,
मा तनूमतनुभिर्व्रतकष्टैः ।
इष्टसिद्धिमिह विन्दति योषि-
च्चेन्न लुम्पति पतिव्रतमेकम् ॥ ७७ ॥

मास्म० तपः मा स्म तप्यत तनूं शरीरं अतनुभिर्बहुभिर्व्रतकष्टैर्मा परितक्षीत् मा कृशां कार्षीत् । योषित् स्त्री इह जगति चेत् यदि एकं पतिव्रतं शीलं न लुम्पति तदा इष्टसिद्धिं विन्दति लभते ॥ ७७ ॥

उग्रदुर्ग्रहमभंगमयत्न-
प्राप्यमाभरणमस्ति न शीलम् ।

चेत्तदा वहति कांचनरत्नै-
र्वीवधं मृदुपलैर्महिला किम् ॥ ७८ ॥

उग्र० स्त्रीणां चेत् यदि उग्रदुर्ग्रहं उत्कटैर्दुर्ग्राह्यं अभङ्गं अयत्नप्राप्यं शीलं आभरणं नास्ति, तदा महिला स्त्री मृदुपलैः मृत्तिकापाषाणरूपैः कांचनरत्नैः वीवधं भारं किं वहति ॥ ७८ ॥

मज्जितोऽपि घनकज्जलपंके,
शुभ्र एव परिशीलितशीलः ।
स्वर्धुनीसलिलधौतशरीरो-
ऽप्युच्यते शुचिरुचिर्न कुशीलः ॥ ७९ ॥

मज्जि० परिशीलितशीलः पालितशीलः पुमान् घनकज्जलपंके घने निचिते कर्दमकज्जले मज्जितोऽपि ब्रुडितोऽपि शुभ्र एवोज्ज्वल एव । कुशीलः पुमान् स्वर्धुनीसलिलधौतशरीरोऽपि गङ्गाजलक्षालितदेहोऽपि शुचिरुचिः पवित्रकान्तिर्नोच्यते ॥ ७९ ॥

कष्टकर्म न हि निष्फलमेत-
च्चेतनावदुदितं न वचो यत् ।
शीलशैलशिखरादवपातः,
पातकापयशसोर्वनितानाम् ॥ ८० ॥

कष्ट० कष्टकर्म कृतं सत् निष्फलं न हि स्यात्, न एतत् चेतनावदुदितं चेतनावता सचेतनेन उदितं कथितम् । यत् यस्मात् कारणात्, वनितानां स्त्रीणां शीलशैलशिखरात् अवपातः, शीलमेव शैलः पर्वतः तच्छिखरात् अवपातं पतनं पातकाऽपयशसे स्यात् । कोऽर्थः? एकेचन भृगुपातादि कष्ट कर्म कृत्वा

भवान्तरे राज्यादिसुखं वाञ्छन्ति, एतत् मिथ्या । कथमिति? शीलरूपपर्वतात् पतनतः स्त्रीणां पापाऽपयशोदुःखादीन्येव स्युर्न तु सुखमिति भावः ॥ ८० ॥

या प्रभूष्णुरपि भर्तरि दासी-
भावमावहति सा खलु कान्ता ।
कोपपंककलुषा नृषु शेषा,
योषितः क्षतजशोषजलूकाः ॥ ८१ ॥

या० या स्त्री प्रभूष्णुरपि समर्थापि सति भर्त्तरि प्रियतमे दासीभावमावहति, खलु निश्चितं सा कान्ता पत्नी ज्ञेया । शेषा योषितः कोपपंककलुषाः सत्यो नृषु पुरुषेषु क्षतजरुधिरशोषाय जलूका ज्ञेयाः ॥ ८१ ॥

रोषिताऽवगणिता निहताऽपि,
प्रेम नेतरि न मुंचति कुल्या ।
मेघ एव परितुष्यति धारा-
दण्डघोरणिहतापि सुजातिः ॥ ८२ ॥

रोषि० कुल्या कुलीना स्त्री रोषिताऽवगणिता निहतापि नेतरि स्वामिनि प्रेम स्नेहं न मुंचति । यथा सुजातिः शोभना जातिः मालती कुलीना वा धारादण्डघोरणिहतापि मेघसत्कधारारूप-दंडश्रेणिहतापि सती मेघे एव परितुष्यति ॥ ८२ ॥

तद्युवामपि तथा प्रयतेथां,
स्त्रैणभूषणगुणार्जनहेतोः ।
येन वां प्रतिदधाति समस्तः,
स्त्रीगणो गुणविधौ गुरुबुद्धिम् ॥ ८३ ॥

तद्यु० हे कुलीने ! तत् तस्मात् कारणात् युवामपि भवत्यावपि स्त्रैणभूषणगुणार्जनहेतोः स्त्रीसमूहयोग्यालंकारगुणोपार्जननिमित्तं तथा प्रयतेथां उपक्रमं कुर्वाथां येन कारणेन समस्तः स्त्रीगणः स्त्रीसमूहो वां युवयोः गुणविधौ गुरुबुद्धिं प्रतिदधाति धरति ॥ ८३ ॥

बुद्धिं शुद्धामिति मतिमतामुत्तमेभ्यः शचीन्द्रौ,
भक्त्यावेशाद्विशदहृदयौ प्राभृतीकृत्य तेभ्यः ।
स्वागस्त्यागं चरणलुठनैः क्षमवन्तौ दिवं तौ,
द्रागभेजाते चिरविरहतोऽत्याकुलस्थानपालाम् ८४

बुद्धि० तौ शचीन्द्रौ मतिमतां बुद्धिमतामुत्तमेभ्यस्तेभ्यो वधूवरेभ्य इति पूर्वोक्तां शुद्धां बुद्धिं भक्त्यावेशात् प्राभृतीकृत्योपदीकृत्य द्राक् शीघ्रं दिवं भेजाते, स्वर्गलोकं गतौ । किंलक्षणौ शचीन्द्रौ ? विशदहृदयौ, पुनः किं कुर्वन्तौ (?) स्वागस्त्यागं आत्मीयापराधपरिहारं चरणलुठनैश्चरणनमस्कारैः क्षमवन्तौ । किंलक्षणां दिवम् ? चिरविरहतोऽत्याकुलस्थानपालाम् ॥ ८४ ॥

अन्येऽपीन्द्राः सकलभगवत्कार्यभारे धुरीणं,
सौधर्मस्याधिपतिमधरमप्युत्तरं भावयन्तः ।
धन्यंमन्यास्त्रिभुवनगुरोर्दर्शनादेव देवैः,
साकं नाकं निजनिजमयुर्निर्भरानन्दपूर्णाः ॥ ८५ ॥

अन्ये० अन्येऽपीन्द्रा ईशानेन्द्राद्या निर्भरानन्दपूर्णाः सन्तो देवैः साकं निजनिजं नाकं आत्मीयात्मीयं स्वलोकं अयुर्गताः । किं कुर्वन्तः ? सकलभगवत्कार्यभारे धुरीणं भगवतः कार्याणि

तेषां भारे धुरीणं धुर्यं सौधर्माधिपं, सौधर्मेन्द्रं अधरमपि अधस्तनमपि उत्तरं उत्कृष्टं भावयन्तः चिन्तयन्तः । किंलक्षणा इन्द्राः? त्रिभुवनगुरोर्दर्शनादेव धन्यंमन्याः आत्मानं धन्यं मन्यमानाः ॥ ८६ ॥

इति श्रीअंचलगच्छे कविचक्रवर्तिश्रीजयशेखरसूरिविरचितश्रीजैनकुमारसंभवस्य तच्छिष्यश्रीधर्मशेखरसूरिविरचितायां टीकायां श्रीमाणिक्यसुन्दरसूरिशोधितायां पञ्चमसर्गव्याख्या समाप्ता ॥ ५ ॥

अथ षष्ठः सर्गः ॥

अथाश्रयं स्वं सपरिच्छदेषु,
सर्वेषु यातेषु नरामरेषु ।
नाथं नवोढं रजनिर्विभक्त
इवेक्षितुं राजवधूरुपागात् ॥ १ ॥

अथा० अथानन्तरं रजनिः राजवधू राज्ञश्चन्द्रस्य, पक्षे नृपस्य वधूर्नवोढं नवपरिणीतं नाथं विभक्ते एकान्ते ईक्षितुमिवोपागात् । समेता केषु सत्सु? । सपरिच्छदेषु सपरिवारेषु, सर्वेषु नरामरेषु, स्वाश्रयं आत्मीयगृहं यातेषु गतेषु सत्सु ॥ १ ॥

निशा निशाभङ्गविशेषकान्ति
कान्तायुतस्यास्य वपुर्विलोक्य ।
स्थाने तमःश्यामिकया निरुद्धं,
दधौ मुखं लब्धनवोदयापि ॥ २ ॥

निशा० निशा रात्रिः लब्धनवोदयापि सती कान्तायुतस्य

कलत्रयुक्तस्य अस्य भगवतो वपुः शरीरं विलोक्य दृष्ट्वा तमःश्यामिकया निरुद्धं, अन्धकारकालिम्ना व्याप्तं मुखं स्थाने युक्तं दधौ बभार । किंविशिष्टं वपुः? निशाभङ्गविशेष-कान्ति, निशा हरिद्रा तस्या भङ्गः च्छेदस्तद्विशेषिणी सविशेषा कान्तिर्यस्य तत् निशाभङ्गरुचि, पक्षे निशाया रात्रेर्भंगे सति विशेषकान्ति, अत्र शब्दच्छलमेव ज्ञेयम् ॥ २ ॥

अभुक्त भूतेशतनोर्विभूतिं,
भौती तमोभिः स्फुटतारकौघा ।
विभिन्नकालच्छविदन्तिदैत्य-
चर्मावृतेर्भूरिनरास्थिभाजः ॥ ३ ॥

अभु० भौती रात्रिर्भूतेशतनोरीश्वरस्य मूर्त्तेर्विभूतिं अभुक्त सेवते स्म । किंविशिष्टा रात्रिः? तमोभिरन्धकारैरुपलक्षिता । यथा विशेषणे ( ) इति सूत्रे जटाभिस्तापसमपश्य-दित्यादि । पुनः किंविशिष्टा? स्फुटतारकौघा प्रकटतारा-समूहा । किंविशिष्टायास्तनोः? विभिन्नकालच्छविदन्तिदैत्य-चर्मावृतेः विशेषेण भिन्नः, कालः छविः कृष्णकान्तिः दन्ति-दैत्यवृतिः गजासुरचर्म तदेव आवृति आवरणं यस्याः सा । तस्याः पुनः किंविशिष्टायाः? भूरिनरास्थिभाजः । कोऽर्थः रात्रेरन्धकारमेव दैत्यसत्कं कृष्णचर्मवृतिः, तारासमूहा मनुष्या-स्थीनि, अतः कारणादीश्वरतनोरुपमानं, रात्रिरिति भावः ॥ ३ ॥

न्यास्यन्निशा तस्करपुंश्चलीनां,
नेत्रेषु लोकाक्षिमहांसि हृत्वा ।

सूरे गते दुःसहमंडलाग्रे,
तमस्विनां हि फलिता कदाशा ॥ ४ ॥

न्यास्य० निशा रात्रिर्लोकाक्षिमहांसि लोकस्य लोचनसत्क-तेजांसि हृत्वा तस्करपुंश्चलीनां चौरस्वैरिणीनां नेत्रेषु न्यास्यत् न्यस्यति स । क्व सति ? दुःसहमण्डलाग्रे दुःसहं मण्डलस्याग्रं मण्डाग्रं खड्गो वा यस्य तस्मिन् सूरे सूर्ये सुभटे वा गते सति । तमस्विनां अन्धकारचारिणां पापिनां वा । हि इति खेदे । कदाशा फलिता ॥ ४ ॥

कालीयमालीय गिरेर्गुहासु,
भास्वद्भयेनाह्नि निशा तदस्ते ।
भूबद्धखेलाखिलवस्तु काली-
चकार कालेन विना क्व शक्तिः ॥ ५ ॥

काली० इयं निशा रात्रिः काली कृष्णा भास्वद्भयेन सूर्य-भियाह्नि दिवसे गिरेर्गुहासु आलीय निलीय भूत्वा । भूबद्धखेला, भुवि पृथ्व्यां रचितक्रीडा सती अखिलवस्तु कालीचकार कालेन विना क्व शक्तिः ॥ ५ ॥

कुमुद्वतीं चाकृत रोहिणीं च,
प्रिये निशां वीक्ष्य शितिं सितांशुः ।
श्रियं च तेजश्च तयोर्ददाना,
साऽधत्त साधु क्षणदेति नाम ॥ ६ ॥

सितांशुश्चन्द्रः शितिं कृष्णां निशां रात्रिं वीक्ष्य कुमुद्वतीं कुमुदिनीं, रोहिणीं च द्वे प्रिये अकृत । सा निशा तयोः

कुमुद्वतीरोहिण्योः, श्रियं, च अन्यत्, तेजो, ददाना सती क्षणदा क्षणं उत्सवं ददातीति क्षणदा, पक्षे रात्रिरिति नाम साधु युक्तमधत्त ॥ ६ ॥

हरिद्रयेयं यदभिन्ननामा,
बभूव गौर्येव निशा ततः प्राक् ।
संतापयन्ती तु सतीरनाथा-
स्तच्छापदग्धाऽजनि कालकाया ॥ ७ ॥

हरि० यत् यस्मात् कारणात् इयं निशा रात्रिः हरिद्रया सह अभिन्ननामा सदृशनामा वर्त्तते, यतो "नाममालायां हरिद्रा कांचनी पीता निशाख्या वरवर्णिनी", इत्यादि । तत् तस्मात् कारणात् । प्राक् पूर्वं गौर्येव गौरवर्णा एव बभूव इति ज्ञायते । तु पुनः । अनाथाः सतीः संतापयन्ती सती तच्छापदग्धा कालकाया कृष्णदेहाऽजनि ॥ ७ ॥

किं योगिनीयं धृतनीलकन्था,
तमस्विनी तारकशङ्खभूषा ।
वर्णव्यवस्थामवधूय सर्वा-
मभेदवादं जगतस्ततान ॥ ८ ॥

किं० इयं तमस्विनी किं योगिनी वर्त्तते? किंलक्षणा तमस्विनी? धृतनीलकन्था । पुनः किंलक्षणा तमस्विनी? तारकशङ्खभूषा तारका एव शंखसत्काभरणानि यस्याः सा तारककशङ्खभूषा । या जगतो विश्वस्य सर्वां वर्णव्यवस्थां वर्णानां ब्राह्मणादीनां श्वेतकृष्णादीनां वा व्यवस्थामवधूय अभेदवादं एकाकारत्वं विस्तारयामास ॥ ८ ॥

तितांसति श्वैत्यमिहेन्दुरस्या,
जाया निशा दित्सति कालिमानम् ।
अहो कलत्रं हृदयानुयायि,
कलानिधीनामपि भाग्यलभ्यम् ॥ ९ ॥

तितां० इन्दुश्चन्द्र इह जगति श्वैत्यं धवलतां तितांसति विस्तारयितुमिच्छति । अस्य इन्दोर्जाया निशा कालिमानं कृष्णत्वं दित्सति दातुमिच्छति । अहो इति आश्चर्ये । हृदयानुयायि मनोऽनुकूलं कलत्रं कलानिधीनामपि कलावतामपि भाग्यलभ्यं स्यात्, यतः चन्द्रस्य कलावतोऽपि निशा प्रियास्ति ॥ ९ ॥

दत्त्वा पतङ्गः प्रवसन्वसु स्वं,
तमो निरोद्धुं भुवि यान्ययुङ्क्त ।
तैर्दीपभृत्यैर्निजनाथनाम-
विडम्बिनो हन्त हताः पतङ्गाः ॥ १० ॥

दत्त्वा० पतङ्गः सूर्यः प्रवसन् प्रवासं गच्छन् सन्, स्वं वसु द्रव्यं तेजो वा दत्त्वा तमो निरोद्धुं अन्धकारं स्फोटयितुं यान-दीपभृत्यान् भुवि पृथिव्यां नियुङ्क्त व्यापारितवान्, तैर्दीप-भृत्यैः, हन्त इति वितर्के । निजनाथनामविडंबिनः पतंगा हताः, पतङ्गशब्देन सूर्यः शलभाश्चेति शब्दच्छलम् ॥ १० ॥

यत्कोकयुग्मस्य वियोगवह्नि-
र्जज्वाल मित्रेऽस्तमिते निशादौ ।
सोद्द्योतखद्योतकुलस्फुलिंगं,
तद्धूमराजिः किमिदं तमिस्रम् ॥ ११ ॥

यत्को० यत्कोकयुग्मस्य चक्रवाकमिथुनस्य निशादौ मित्रे सूर्ये सुहृदि वा अस्तमिते सति वियोगवह्निर्जज्वाल । इदं तमिस्रं अन्धकारम् । किं न धूमराजि वर्तते? । किंलक्षणं तमिस्रम्? सोद्योतखद्योतकुलस्फुलिंगं, सोद्योतं यत् खद्योतकुलं तदेव स्फुलिंगा यत्र तत् ॥ ११ ॥

अवेत्य पाटच्चरपांसुलानां,
तमोबलाद्दुर्ललितानि तानि ।
प्रभां दिशीन्द्रस्य तमोऽपनोदा-
मदीदृशत् स्वोदयचिह्नमिन्दुः ॥ १२ ॥

अवे० इन्दुश्चन्द्रः इन्द्रस्य दिशि प्रभां अदीदृशत् दर्शितवान् । किंविशिष्टां प्रभाम्? तमोऽपनोदां तमो अन्धकारं अपनोदयति स्फोटयतीति तमोऽपनोदाम्? पुनः किंविशिष्टाम्? स्वोदयचिह्नम् । आविष्टलिङ्गमेतत् । किं कृत्वा? पाटच्चरपांसुलानां पाटच्चराणां तस्कराणां पांसुलानां असतीनां तमोबलात् तानि वक्तुमशक्यानि दुर्ललितानि दुश्चेष्टितानि अवेत्य ज्ञात्वा ॥ १२ ॥

धामेदमौत्पातिकमानलं, चे-
त्यूहं वितन्वत्यसतीसमूहे ।
उदीतमैवैक्षत चन्द्रबिम्बं,
पूर्वाम्बुधेः कोकनदश्रि लोकः ॥ १३ ॥

धामे० लोकः पूर्वाम्बुधेः पूर्वसमुद्राच्चन्द्रबिम्बं उदीतमेव ऐक्षत आलुलोके । किंविशिष्टं चन्द्रम्? कोकनदश्रि कोकनदं रक्तोत्पलं तद्वत् श्रीः शोभा यस्य तत् । क सति? असतीसमूहे इति ऊहं विचारं वितन्वति कुर्वति सति । इतीति किम्? इदं

औत्पातिकं उत्पातकारि वा अथवा आनलं अनलोऽग्निस्तत्संबंधि धाम तेजो वर्त्तते ॥ १३ ॥

सुधानिधानं मृगपत्रलेखं,
शुभ्रांशुकुम्भं शिरसा दधाना ।
कौसुंभवस्त्रायितचान्द्ररागा,
प्राची जगन्मंगलदा तदाभूत् ॥ १४ ॥

सुधा० प्राची पूर्वदिग् तदा तस्मिन्नवसरे जगन्मङ्गलदा जगतो मङ्गलदायिनी अभूत् । किं कुर्वाणा ? शुभ्रांशुकुंभं शुभ्रांशुः चन्द्रः तमेव कुम्भं कलशं शिरसा दधाना, शुभ्रांशुशब्देन रौप्यं तस्य कलशं दधाना । पुनः किंविशिष्टा ? कौसुंभवस्त्रायितचान्द्ररागा, कौसुंभवस्त्रवदाचरितः, चन्द्रसंबंधी रागो यस्याः सा कौसुम्भवस्त्रायितचान्द्ररागा, किंलक्षणं शुभ्रांशुकुंभम् ? सुधानिधानं अमृतपूर्णम् । पुनः किंविशिष्टम् ? मृगपत्रलेखं मृग एव पत्रलेखा यस्मिन् तं मृगपत्रलेखम् ॥ १४ ॥

सांराविणं राजकरोपनीत-
पीयूषपानैर्विहितं चकोरैः ।
भास्वद्विरोकापगमाप्तशोकाः,
कोकाः क्षतक्षारमिवान्वभूवन् ॥ १५ ॥

सारा० चकोरैर्विहितं कृतं सांराविणं कोलाहलं, कोकाश्चक्रवाकाः क्षतक्षारमिवान्वभूवन् क्षते व्रणे क्षारक्षेपमिवानुभवन्ति स्म । किंविशिष्टैः चकोरैः ? राजकरोपनीतपीयूषपानैः राजा चन्द्रो नृपो वा तस्य करेण हस्तेन किरणैर्वा उपनीतं

पीयूषपानं अमृतपानं येषाम् । राजकरोपनीतपीयूषपानैः । किंलक्षणाः कोकाः ? भास्वद्विरोकापगमाप्तशोकाः भास्वतः सूर्यस्य विरोकानां किरणानां अपगमे विनाशे आप्तः प्राप्तः शोको यैः ते भास्वद्विरोकापगमाप्तशोकाः ॥ १५ ॥

तमस्सु राज्ञा स्वमयूखदण्डै-
र्विखंड्यमानेष्वदयं तमोऽयात् ।
तमेव भेजे शरणं शरण्यं
लक्ष्माभिधां किं तदलंभि लोकैः ॥ १६ ॥

राज्ञा चन्द्रेण नृपेण वा स्वमयूखदण्डैरात्मीयकिरणरूपदण्डैस्तमःसु अन्धकारेषु अदयं निर्दयं यथा भवति तथा विखंड्यमानेषु सत्सु यत्तमस्तमेव चन्द्रं शरणं भेजे, किंविशिष्टं चन्द्रम् ? शरण्यं शरणहेतुम् । लोकैस्तमो अन्धकारं लक्ष्माभिधाम् लांछनाभिधानं किं न अलंभि न प्रापितं अपि तु प्रापितमेव ॥ १६ ॥

अत्रेर्द्विजादुद्भवति स्म न श्री-
तातात्पयोधेर्विधुरित्यवैमि ।
यज्ञातमात्रप्रतिधिष्ण्यमेषो-
ऽक्षिपत्करं श्रीलवलाभलोभात् ॥ १७ ॥

अत्रे० एके चन्द्रं अत्रिनेत्रजं वदन्ति । केचिच्चतुर्दशरत्नमध्ये समुद्राज्जातं वदन्ति, परं अहं इति अवैमि इति जानामि । इतीति किम् ? विधुश्चन्द्रः अत्रेर्द्विजात् अत्रिनाम्नो ब्राह्मणात् उद्भवति स्म उत्पन्नः । श्रीतातात् पयोधेर्लक्ष्मीपितुः समुद्रात्

नोत्पन्नः । हेतुमाह । यत् यस्मात् कारणात् एष विधुश्चन्द्रो जातमात्रः सन् श्रीलवलाभलोभात् श्रीर्लक्ष्मीः शोभा वा तस्या लवो लेशस्तल्लाभलोभात् प्रतिधिष्ण्यं प्रतिनक्षत्रं प्रतिगृहं वा करं हस्तं अक्षिपत् । चन्द्रोदये नक्षत्राणि निस्तेजांसि जातानीति भावः । ब्राह्मणा अपि प्रतिगृहं याच्ञां कुर्वन्ति, तेन कारणेन भिक्षाचरकुलोत्पन्नश्चन्द्र इति ज्ञायते ॥ १७ ॥

अलोपि सूरोऽपि मयाऽऽपतन्त्या-
प्यहं महोऽवग्रहभिद्ग्रहाणाम् ।
मय्येव जन्मोत्तमपूरुषाणां,
का योगिभोगिष्वपरा मदिष्टा ॥ १८ ॥
न स्त्री ततः कापि मया समाना,
मानास्पदं या बत सा पुरोऽस्तु ।
इतीव सल्लक्ष्मलिपींदुपत्र-
मुच्चैः समुत्तंभयति स्म रात्रिः ॥ १९ ॥

अलो० रात्रिः सल्लक्ष्मलिपि सत् विद्यमानं लक्ष्म लांछनमेव लिपिर्यत्र तत् सल्लक्ष्मलिपि, इन्दुपत्रं इन्दुश्चन्द्रस्तमेव पत्रं उच्चैरुच्चैस्तरं समुत्तंभयति स्म, वादिनो हि उच्चैः पत्रावलम्बं उत्तंभयन्ति, उक्तं च "उद्धृत्य बाहू परिरारटीमि यस्यास्ति शक्तिः स च वावदीतु ॥ मयि स्थिते वादिनि वादिसिंहे नैवाक्षरं वेत्ति महेश्वरोऽपि" इति पत्रावलम्बो वादिनां ज्ञेयः, उत्प्रेक्ष्यते— इतीव, इतीति किं मया आपतन्त्या आगच्छंत्या सूरोऽपि सूर्यः सुभटो वा अलोपि लुप्तः, अहं ग्रहाणां महोऽवग्रहभिद्, महस्तेजस्तस्यावग्रहो विघ्नं तद्भिनत्तीति महोऽवग्रहभित्

वर्त्ते, उत्तमपुरुषाणां तीर्थकृच्चक्रवर्तिबलदेववासुदेवाद्युत्तमपुरुषाणां जन्म मय्येव मयि सत्यामेव वर्त्तते, योगिभोगिषु का अपरा अन्या मदिष्टा मत्सकाशात् इष्टा अभीष्टा । कोऽर्थः ? योगिनो हि रात्रावेव प्रायो ध्यानस्तिमितलोचना योगनिद्रामापन्नाः स्युः । भोगिनोऽपि शब्दरूपरसगन्धस्पर्शं एतत् पञ्चप्रकारविषयसुखमनुभवन्ति रात्राविति भावः, तत् तस्मात् कारणात् कापि स्त्री मया समाना न वर्त्तते, या स्त्री मानास्पदं अहंकारस्थानं अस्ति, सा बत इति वितर्के पुरोऽस्तु अग्रे भवतु ॥ १८–१९ ॥ युग्मम् ॥

अदान्मदान्ध्यं तमसामसाध्यं,
क्षिपाक्षिपादं प्रतिवैरिणां या ।
तां विंदुरिन्दुर्दयितां चकार,
सारं कलत्रं क्व कलंकिनो वा ॥ २० ॥

अदा० या क्षिपा रात्रिः तमसां अन्धकाराणां असाध्यं मदान्ध्यं अदात् ददौ । किंविशिष्टानां तमसाम् ? क्षिपा रात्रिर्दं कलत्रं यस्य तं क्षिपादं प्रति चन्द्रं प्रति; पक्षे अक्षिणी लोचने पादौ च द्वन्द्वे अक्षिपादं, तत्प्रति वैरिणाम् । इन्दुश्चन्द्रो विंदुर्विद्वानपि तां दयितां पत्नीं चकार । वा अथवा कलंकिनः सारं कलत्रं क्व वर्त्तते ॥ २० ॥

विधोरुदीतस्य करैरनायि,
दिनायितं यत्प्रसृतैस्त्रियामा ।
युवाक्षिभृङ्गैस्तदरामि रामा-
तरंगिणीस्मेरमुखाम्बुजेषु ॥ २१ ॥

विधो० त्रियामा रात्रिरुदीतस्योदितस्य विधोश्चन्द्रस्य करैः किरणैः प्रसृतैः सद्भिर्दिनायितं दिवसवदाचरितं अनायि अप्रापि। तत् युवाक्षिभृङ्गैः यूनां तरुणानां अक्षिभृङ्गैर्लोचनरूपभ्रमरैः रामातरंगिणीस्मेरमुखाम्बुजेषु स्त्रीरूपनदीसत्कविकस्वरमुखकमलेषु अरामि रम्यते स्म ॥ २१ ॥

लोके सितांशोर्गमिते मयूखै-
र्दुग्धाब्धिकेलीकुतुकानि देवः ।
इयेष स स्वापसुखं सरोज-
साम्यं सिसत्यापयिषुः किमक्ष्णोः ॥ २२ ॥

लोके० स देवः श्रीयुगादीशः स्वापसुखं निन्द्रासौख्यं इयेष इच्छति स्म। किंलक्षणो भगवान्? अक्ष्णोर्लोचनयोः सरोजसाम्यं कमलसादृश्यम्। किं किमु सिसत्यापयिषुः सत्यापयितुमिच्छुः। क्व सति? लोके सितांशोश्चन्द्रस्य मयूखैः किरणैर्दुग्धाब्धिकेलीकुतुकानि क्षीरसमुद्रसत्कक्रीडाकौतुकानि गमिते प्रापिते सति। यथा देवो नारायणः क्षीरसमुद्रे शेते ॥ २२ ॥

तदैव देवैः कृतमग्र्यवर्णं,
समं वधूभ्यां मणिहर्म्यमीशः ।
ततोऽगुरूद्गन्धि विवेश शास्त्रं,
मतिस्मृतिभ्यामिव तत्त्वकामः ॥ २३ ॥

तदै० ततस्ततोऽनन्तरं ईशः श्रीऋषभो वधूभ्यां सुमंगलासुनन्दाभ्यां समं मणिहर्म्यं मणिसत्कावासं विवेश प्रविष्टः। किंलक्षणं मणिहर्म्यम्? तदैव देवैः कृतम्? पुनः किंलक्षणं हर्म्यम्? अग्र्यवर्णं प्रधानवर्णम्। पुनः किंलक्षणम्? अगुरूद्गंधि अगरुणा

उद्गन्धितं परिमलबहुलम् । क इव? तत्त्वकाम इव । यथा तत्त्वकामस्तत्त्वमिच्छुर्मतिस्मृतिभ्यां सह शास्त्रं प्रविशति, किंलक्षणं शास्त्रम्? प्रधानवर्णं प्रशस्याक्षरं गुरूद्गन्धि गुरुणा उद्गन्धि उत्प्राबल्येन गन्धि गन्धेन परिमलेन युक्तम् । गुरुं विना शास्त्रस्य परिमलो न स्यात् ॥ २३ ॥

विवाहदीक्षाविधिविद्वधूभ्यां,
कृत्वा सखीभ्यामिव नर्मकेलीः ।
निद्रां प्रियीकृत्य स तत्र तल्पे,
शिश्ये सुखं शेष इवासुरारिः ॥ २४ ॥

विवा० स भगवान् तत्र तस्मिन् मणिहर्म्ये मणिमयावासे तल्पे पल्यंके निद्रां प्रियीकृत्य निद्रामेव प्रियां अभीष्टां कलत्रं वा कृत्वा सुखं शिश्ये सुप्तः । क इव? असुरारिरिव यथा असुरारिः श्रीनारायणः शेषे सुखं स्वपिति । किंविशिष्टो भगवान्? विवाहदीक्षाविधिवित् विवाहसत्कदीक्षाया आचारं वेत्तीति विवाहदीक्षाविधिवत् । किं कृत्वा शिश्ये? सखीभ्यामिव वधूभ्यां सुमंगलासुनंदाभ्यां नर्मकेलीः, क्रीडाकौतुकानि कृत्वा ॥ २४ ॥

त्रिरात्रमेवं भगवानतीत्या-
निरुद्धपित्रानुपरुद्धचित्तः ।
ततस्तृतीयेऽपि पुमर्थसारे,
प्रावर्ततावक्रमतिः क्रमज्ञः ॥ २५ ॥

त्रिरा० स भगवान् एवं अमुना प्रकारेण त्रिरात्रं रात्रित्रयं

अतीत्य ततस्ततो अनंतरं तृतीयेऽपि पुमर्थसारे पुरुषार्थरहस्ये कामाख्ये प्रावर्तत, किंलक्षणो भगवान्? अनिरुद्धपित्रा कामेन अनुपरुद्धं अनासक्तं चित्तं यस्य स अनि० । पुनः किंविशिष्टो भगवान्? अवक्रमतिरकुटिलबुद्धिः । पुनः किंवि० भ०? क्रमज्ञः धर्मार्थकामादीनां क्रमं जानातीति क्रमज्ञः ॥ २५ ॥

भोगार्हकर्म ध्रुववेद्यमन्य-
जन्मार्जितं स्वं स विभुर्विबुध्य ।
मुक्त्येककामोऽप्युचितोपचारै-
रभुंक्त ताभ्यां विषयानसक्तः ॥ २६ ॥

भोगा० स विभुः अन्यजन्मार्जितं प्राग्जन्मन्युपार्जितं स्वं भोगार्हं कर्म आत्मीयभोगफलकर्म ध्रुववेद्यं अवश्यभोक्तव्यं विबुध्य ज्ञात्वा, मुक्त्येककामोऽपि मुक्तौ एकाभिलाषोऽपि सन्, उचितोपचारैः शीतग्रीष्मवर्षर्तुयोग्योपहारैरसक्तो नासक्तः सन् ताभ्यां सुमंगलासुनन्दाभ्यां समं विषयानभुंक्त ॥ २६ ॥

न तस्य दासीकृतवासवोऽपि,
मनो मनोयोनिरियेष जेतुम् ।
विगृह्णते स्वस्य परस्य मत्वा,
ये स्थाम तानाश्रयते जयश्रीः ॥ २७ ॥

न० मनोयोनिः कन्दर्पः, दासीकृतवासवोऽपि सन् दासीकृताः वासवा इन्द्रा येन स दासीकृतवासवोऽपि, तस्य भगवतः मनो जेतुं न इयेष न वांछितवान् । ये पुरुषाः स्वस्य आत्मीयस्य परस्य अन्यस्य स्थाम बलं मत्वा ज्ञात्वा विगृह्णते निग्रहं कुर्वंति, जयश्रीर्जैत्रलक्ष्मीस्तानाश्रयते ॥ २७ ॥

श्रोतांसि पञ्चापि न पुष्पचाप-
चापल्यमातन्वत तस्य नेतुः ।
स्वदेहगेहांशनिवासिनां यो,
न शासकः सोऽस्तु कथं त्रिलोक्याः ॥ २८ ॥

श्रोतां० तस्य नेतुः स्वामिनः पञ्चापि श्रोतांसि इन्द्रियाणि पुष्पचापचापल्यं कन्दर्पसत्कचपलत्वं न अतन्वन् नाकुर्वन् । यः स्वदेहगेहांशनिवासिनां स्वीयदेहरूपगृहकोणवासिनां न शासको न शिक्षकः, स त्रिलोक्याः शासकः कथमस्तु ॥२८॥

या योषिदेनं प्रति दृष्टिभल्ली-
श्चिक्षेप बाधाकरकामबुद्ध्या ।
तामप्यवैक्षिष्ट दृशा स साम्य-
स्पृशैव शक्तौ सहना हि सन्तः ॥ २९ ॥

या० या योषित् स्त्री एनं भगवन्तं प्रति बाधाकरकामबुद्ध्या दृष्टिभल्लीश्चिक्षेप । बाधाकरकामबुद्ध्येति, कामस्तस्या बाधाकरोऽस्ति, भगवन्तं दृष्ट्वा तया चिंतितं, एष एव कामस्ततोऽहमपि एनं हन्मीति बुद्ध्या दृष्टिभिल्लीश्चिक्षेप इति भावः । स भगवान् तामपि स्त्रियं साम्यस्पृशैव दृशा रागरहितदृशा अवैक्षिष्ट व्यलोकयत् । हि निश्चितं सन्तो विद्वांसः शक्तौ सत्यां सहना वर्तन्ते, 'ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्यय' इति न्यायात् ॥ २९ ॥

नासौ विलासोर्मिभिरप्सरोभि-
रक्षोभि नाट्यावसरागताभिः ।

श्रोतःपतेर्यो मनसोऽपि शोषे,
प्रभूयते तस्य किमत्र चित्रम् ॥ ३० ॥

नासौ० असौ भगवान् नाट्यावसरागताभिरप्सरोभिर्देवाङ्गनाभिः पक्षे अप्प्रधानैः सरोभिर्विलासोर्मिभिः विलासरूपैः ऊर्मिभिः कल्लोलैर्न अक्षोभि न क्षोभितः, 'विलासो नेत्रजो ज्ञेयः'। यो भगवान् श्रोतःपतेः, श्रोतसां इन्द्रियाणां पतिः श्रोतःपतिः, तस्य श्रोतःपतेः मनसोऽपि समुद्रस्य वा शोषे प्रभूयते समर्थो भवति, तस्य भगवतोऽत्र अप्सरोभिरक्षोभणे किं चित्रं किमाश्चर्यम् ॥ ३० ॥

जगे न गेयेष्वपि नाकसद्भिः,
स्मरस्य साराधिकता पुरोऽस्य ।
शान्तं सतां वर्धयितुं विरोधं,
लोला कथं सौमनसी विलोला ॥ ३१ ॥

जगे० नाकसद्भिर्देवैरस्य भगवतः पुरोऽग्रे गेयेष्वपि गीतेष्वपि स्मरस्य कंदर्पस्य साराधिकता बलाधिकत्वं न जगे न गीयते स्म । सौमनसी सुमनसां देवानां सतां वा इयं सौमनसी । लोला जिह्वा । सतां साधूनां शांतं उपशान्तं विरोधं वर्धयितुं कथं विलोला चञ्चला स्यात्, अपि तु नैव ॥ ३१ ॥

अवारि वैराग्निविवर्धनोऽपि
तं नारदो ज्ञीप्सुरनन्यजौजः ।
जीवन्नसौ जीवगणान्नियोध्य,
मां भूरिशस्तोषयितेति बुद्ध्या ॥ ३२ ॥

अवा० नारदो वैराग्निविवर्धनोऽपि वैररूपाग्नेर्विवर्धनशीलोऽपि तं भगवन्तं अनन्यजौजः अनन्यस्य कामस्य ओजो बलं ज्ञीप्सुर्ज्ञापयितुमिच्छुः सन् इति बुद्ध्या अवारि वारितवान् । इतीति किम्? असौ कन्दर्पो जीवन् सन् जीवगणान् जीवसमूहान् नियोध्य संग्रामे पातयित्वा मां भूरिशो धनिकवारान् तोषयिता हर्षं प्रापयिष्यति । अत्र नारदवर्णनकं विधर्मत्वात् भाविनिभूतवदुपचार इति न्यायाद्वा ॥ ३२ ॥

आद्यापि या तस्य सुमंगलेति,
हेतिः स्मरस्यास्खलिता रराज ।
रंभाप्यरं भारहिता यदग्रे,
रूपं रतेरप्यरतिं तनोति ॥ ३३ ॥

आद्या० तस्य भगवतः आद्या प्रथमा प्रिया सुमङ्गला इति रराज शोभिता । किंलक्षणा सुमङ्गला? स्मरस्य कंदर्पस्यास्खलिता हेतिः प्रहरणम् । रंभापि अरं अत्यर्थं यदग्रे यस्याः सुमंगलाया अग्रे भारहिता प्रभारहिता जाता, यदग्रे रतेरपि कामभार्याया अपि रूपं अरतिं असमाधिं तनोति करोति ॥ ३३ ॥

यज्ज्वालमालायुजि कांचनेना-
हुतिः स्वतन्वा विहिता हुताशे ।
तत्तेन तुष्टेन यदंगवर्ण-
सवर्णतादायि मनाकिमस्मै ॥ ३४ ॥

यज्ज्वा० काञ्चनेन सुवर्णेन हुताशे वैश्वानरे यत् स्वतन्वा निजशरीरेण आहुतिर्विहिता । किंलक्षणे हुताशे? ज्वालामालायुजि ज्वालाश्रेणियुक्ते, तत् तस्मात् कारणात् तेन हुताशेन तु

तुष्टेन मनाक् स्तोकतरा असै कांचनाय यदंगवर्णता यस्याः सुमंगलाया अङ्गवर्णेन सह सवर्णता सदृशताऽदायि दत्ता ॥ ३४ ॥

पद्मं न चन्द्रं प्रति सप्रसादं,
तस्योदितः सोऽपि ददाति सादम् ।
यस्या मुखं द्वावपि तावलुप्त,
श्रीमान् परस्फातिसहः क हन्त ॥ ३५ ॥

पद्मं० पद्मं कमलं चन्द्रं प्रति सप्रसादं सुप्रसन्नं न वर्तते । सोऽपि चन्द्र उदितः सन् तस्य पद्मस्य सादं खेदं ददाति । यस्याः सुमंगलाया मुखं कर्तृपदं, तावपि द्वौ पद्मचन्द्रौ अलुप्त लुम्पति स्म । हन्त इति वितर्के । श्रीमान् परस्फातिसहः क वर्त्तते । श्रीर्लक्ष्मीः शोभा वा मुखे वसतीति श्रीमत्त्वम् ॥ ३५ ॥

पूर्वं रसं नीरसतां च पश्चा-
द्विवृण्वतो वृद्धिमतो जलौघैः ।
जगज्जने तृप्यति तद्गिरेव-
स्थानेऽभवन्निष्फलजन्मतेक्षोः ॥ ३६ ॥

पूर्वं० इक्षोरिक्षुयष्टेर्निःफलजन्मता स्थाने युक्तं अभवत्, किं कुर्वत इक्षोः ? पूर्वं प्रथमं रसं पश्चान्नीरसतां विवृण्वतः प्रकटयतः । पुनः किं कुर्वतः ? जलौघैः पानीयसमूहैर्जड-समूहैर्वा वृद्धिमतो वृद्धियुक्तस्य । क सति ? तद्गिरैव तस्याः सुमंगलाया वाण्या एव जगज्जनैर्विश्वलोके तृप्यति सति तृप्तिं प्राप्नुवति सतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

यया स्वशीलेन ससौरभाग्या,
श्रीखंडमन्तर्गडुतामनायि ।

देवार्चने स्वं विनियोज्य जात-
पुण्यं पुनर्भोगिभिराप योगम् ॥ ३७ ॥

यया० यया सुमङ्गलया श्रीखण्डं अन्तर्गडुतां निरर्थकतां अनायि गृहीतम्? किंलक्षणया सुमंगलया? स्वशीलेन ससौरभांग्या परिमलसहितशरीरया शीलपरिमलवासितदेहेन; चन्दनमधरीकृतमित्यर्थः । पुनः किम्? देवार्चने स्वं आत्मानं विनियोज्य व्यापार्य जातपुण्यं सत् श्रीखण्डं भोगिभिः सर्पैः भोगिभिः पुरुषैर्वा योगं आप ॥ ३७ ॥

गरेण गौरीशगलो मृगेण,
गौरद्युतिर्नीलिकयाम्बु गांगम् ।
मलेन वासः कलुषत्वमेति,
शीलं तु तस्या न कथंचनापि ॥ ३८ ॥

गरे० गौरीशगल ईश्वरकंठो गरेण विषेण कलुषत्वं एति गच्छति, गौरद्युतिश्चन्द्रो मृगेण, गांगं अंबु गंगापानीयं नीलिकया सेवालेन, वासो वस्त्रं मलेन, तु पुनः, तस्याः सुमंगलायाः शीलं कथंचनापि कथमपि कलुषत्वं नैति, ईश्वरचन्द्रादिभ्यो निर्मलं शीलमित्यर्थः ॥ ३८ ॥

उदारवेदिन्युरुमानभित्तौ,
सद्वारशोभाकरणोत्तरंगे ।
उवास वासौकसि वर्ष्मणा या,
गुणैस्तु तैस्तैर्हृदि विश्वभर्तुः ॥ ३९ ॥

उदा० सुमङ्गला वर्ष्मणा शरीरेण वासौकसि शरीरेण

भवने उवास वसति स्म । तु पुनः, तैस्तैः सुरूपा सुभगा सुवेषा सुरतप्रवीणा सुनेत्रा सुरम्या विभागिनी विचक्षणा प्रियभाषिणी प्रसन्नमुखी प्रभृति नायिकानां गुणैर्विश्वभर्तुः श्रीऋषभदेवस्य हृदि उवास । किंलक्षणे वासौकसि विश्वभर्तुर्वा हृदि ? उदारवेदिनि उदारा वेदयो वरंडिका यत्र तत् उदारवेदि तस्मिन् उदारवेदिनि, पक्षे उत्कृष्टज्ञानिनि । पुनः किंलक्षणे वासौकसि ? उरुमानभित्तौ उरुमाना गुरुप्रमाणा भित्तयो यत्र तत्र उरुमानभित्तौ, पक्षे उर्वी मानस्य गर्वस्य भित्तिः क्षयो यस्मात् तस्मिन् उरुमानभित्तौ । अत्र भाषितपुंस्कं पुंवद्वेति पुंलिङ्गत्वेऽनुरागमानाऽभूत् । पुनः किं० ? सद्वारशोभाकरणोत्तरंगे सत् द्वारस्य शोभाकरण उत्तरंगो यत्र तस्मिन् सद्वार० । पक्षे सतां वारस्य समूहस्य तत्प्रशस्य वा शोभायाः करणे करणेन वा उत्तरंगे उत्कल्लोले ॥ ३९ ॥

घनागमप्रीणितसत्कदम्बा,
सारस्वतं सा रसमुद्गिरंती ।
रजोव्रजं मंजुलतोपनीत,-
च्छाया व्रती प्रावृषमन्वकार्षीत् ॥ ४० ॥

घना० सा देवी सुमंगला प्रावृषं श्रावणभाद्रपदजातं वर्षाऋतुमन्वकार्षीत् अनुचकार । किंविशिष्टा सुमङ्गला ? किंविशिष्टं प्रावृषं वा ? घनागमप्रीणितसत्कदम्बा अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः, घनागमप्रीणितसत्कदंबा घनैरागमैः शास्त्रैः प्रीणिता सतां कदम्बाः समूहा यया सा घनागम० । पक्षे घनानां मेघानां आगमेन प्रीणिताः सन्तः प्रधानाः कदम्बाः

कदंबवृक्षा यया, तां घनागम० । पुनः किं कुर्वती ? सारस्वतं रसं उद्गिरंती प्रकटयन्ती सरस्वत्या वाण्या संबन्धितं पक्षे नद्या वा रसं उद्गिरन्ती प्रकटयन्ती । पुनः किम् ? रजोव्रजं पापव्रजं रेणुव्रजं वा घ्नती क्षयं नयन्ती । किंलक्षणा सुमंगला ? मंजुलतोपनीतच्छाया मंजुलता मनोज्ञत्वं तया उपनीता ढौकिता च्छाया कान्तिर्यस्याः सा, पक्षे मंजवो मनोज्ञा लतावल्लयस्ताभिरुपनीता च्छाया यस्याः सा मंजुलतोपनीतच्छाया ॥ ४० ॥

स्मेरास्यपद्मा स्फुटवृत्तशालि-
क्षेत्रा नदद्धंसकचारुचर्या ।
याऽपास्तपंका विललास पुण्य-
प्रकाशकाशा शरदंगिनीव ॥ ४१ ॥

स्मेरा० सा सुमंगला अङ्गिनी मूर्त्तिमती शरदिव अश्वयुक् कार्तिकसत्कऋतुवद्विललास । किंलक्षणा सुमंगला शरद् वा ? स्मेरास्यपद्मा स्मेरं विकस्वरं आस्यपद्मं मुखकमलं यस्याः, पक्षे स्मेरकमला । पुनः किंविशिष्टा ? स्फुटवृत्तशालिक्षेत्रा स्फुटं प्रकटं औदार्यधैर्यगांभीर्यमाधुर्यादिवृत्तेन चरित्रेण शालि-शोभमानं क्षेत्रं शरीरं यस्याः सा स्फुटवृत्तशालिक्षेत्रा; पक्षे स्फुटानि प्रकटानि वृत्तानि निष्पन्नानि शालिक्षेत्राणि यत्र सा स्फुटवृत्तशालिक्षेत्रा । पुनः किं० ? नदद्धंसकचारुचर्या नदद्भ्यां शब्दायमानाभ्यां हंसकाभ्यां चारुर्मनोज्ञा चर्या गमनं यस्याः, पक्षे नदतां हंसकानां चारुचर्या यत्र । पुनः किं० ? अपास्तपंका निराकृतपापा पक्षे शोषितकर्दमा । पुनः किं० ? पुण्यप्रकाशकाशा

पुण्यप्रकाशिका आशा यस्याः सा; पक्षे पुण्याः पवित्राः प्रकाशा प्रकटाः काशा यस्यां सा ॥ ४१ ॥

सत्पावकार्चिःप्रणिधानदत्ता-
दरा कलाकेलिबलं दधाना ।
श्रियं विशालक्षणदा हिमर्तोः,
शिश्राय सत्यागतशीतलास्या ॥ ४२ ॥

सत्पा० सा सुमंगला हिमर्तोः मार्गशीर्षपौषसंबन्धिनीं श्रियं शिश्राय । किंलक्षणा सुमंगला ? हिमर्तुश्चात्राप्यर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः, सत्पावकार्चिःप्रणिधानदत्तादरा सत् प्रधानं पावकं पावित्र्यकारकं अर्चिस्तेजः परब्रह्मरूपं तत्र प्रणिधानं ध्यानं येषान्ते सत्पावकार्चिप्रणिधानास्तेभ्यो दत्त आदरो यया सा० । पक्षे सत् प्रधानं पावकस्य अग्नेः अर्चिस्तेजस्तत् प्रणिधाने दत्तादरा । पुनः किं० ? कलाकेलिबलं दधाना कलासु केलिबलं क्रीडाबलं दधाना, पक्षे कलाकेलेः कंदर्पस्य बलं दधातीति कला० । 'कामं निकामं सेवेत शीतकाले' इति वचनात्, पुनः किं० ? विशालक्षणदा विशालं विस्तीर्णं क्षणं उत्सवं ददातीति, पक्षे विशाला क्षणदा रात्रिर्यस्यां सा । पुनः किं० ? सत्यागतशीतलास्या त्यजनं त्यागः, सह त्यागेन वर्त्तते इति सत्याग एवंविधस्तकारो यत्र । एतावता रहितः शीतलः शब्दः शील इति स्यात्, तस्मिन् शीले आस्या निवेशो यस्याः सा सत्यागतशीतलास्या शीले निश्चला इत्यर्थः, पक्षे सत्येन आगतस्य शीतलस्य आस्य(स्या ?) यस्यां सा ॥ ४२ ॥

सत्रं विपत्रं रचयन्त्यदभ्रा-
गमं क्रमोपस्थितमारुतौघा ।
सा श्रीदकाष्ठामिनमानयन्ती,
गोष्ठ्यां विजिग्ये शिशिरर्तुकीर्तिम् ॥ ४३ ॥

सत्रं० सा सुमङ्गला शिशिरर्तुकीर्तिं माघफाल्गुनयोः कीर्तिं विजिग्ये जितवती । किं कुर्वती सुमंगला? हिमर्तुः सत्रं विपत्रं रचयन्ती, सत्रं सत्रागारं विपत्रं विपत्रायकं विपदो रक्षकं, पक्षे सत्रं वनं पत्ररहितम् । किंलक्षणं सत्रवनं च? अदभ्रागमं अदभ्रो बहुः आगमो जनानामागमनं यत्र तं? पक्षे अगमा वृक्षा बहुवृक्षमित्यर्थः । पुनः किंल० सुमंगला? क्रमोपस्थितमारुतौघा क्रमयोश्चरणयोरुपस्थितो मारुतौघो मरुतां देवानां सत्कं ओघः समूहो यस्याः, पक्षे क्रमेण उपस्थितो मारुतौघः पवनसमूहो यत्र सा० । पुनः किं कुर्वती सुमंगला? इनं स्वामिनं गोष्ठ्यां श्रीदानां लक्ष्मीदायकानां काष्ठां कोटिं आनयन्ती, गोष्ठ्यां सखीमध्ये वार्तायां स्वामिनं लक्ष्मीदायकत्वेन श्लाघयन्तीति भावः । पक्षे इनं सूर्यं श्रीदस्य धनदस्य काष्ठां उत्तरदिशं आनयन्ती ॥ ४३ ॥

उल्लासयन्ती सुमनःसमूहं,
तेने सदालिप्रियतामुपेता ।
वसन्तलक्ष्मीरिव दक्षिणाहि-
कान्ते रुचिं सत्परपुष्टघोषा ॥ ४४ ॥

उल्ला० दक्षिणा अनुकूला सुमंगला हि निश्चितं कान्ते श्रीऋषभदेवे भर्त्तरि वसंतलक्ष्मीरिव चैत्रवैशाखसत्कऋतुरिव

रुचिं अभिलाषं तेने विस्तारयामास । वसन्तलक्ष्मी दक्षिणस्या दिशः अहिकान्ते पवने रुचिं विस्तारयति । किं कुर्वती सुमंगला वसंतलक्ष्मीश्च ? सुमनसः समूहं सुमनसामुत्तमानां पुष्पाणां च समूहं उल्लासयन्ती । पुनः किंल० सुमंगला ? सदालिप्रियता-मुपेता सदा सर्वदा आलयः सख्यः, पक्षे अलयो भ्रमरास्तत्र प्रियत्वं गता । पुनः किं० ? सत्परपुष्टघोषा सत्सु साधुषु परः प्रकृष्टः पुष्टो घोषः प्रसिद्धिरूपो यस्याः, पक्षे सत् विद्यमानः परपुष्टानां कोकिलानां घोषो यस्यां सा० ॥ ४४ ॥

संयोज्य दोषोच्छ्रयमल्पतायां,
शुचिप्रभां प्रत्यहमेधयन्ती ।
तारं तपः श्रीरिव सातिपट्वी,
जाड्याधिकत्वं जगतो न सेहे ॥ ४५ ॥

सयो० सा सुमंगला तारं अत्यर्थं तपःश्री ग्रीष्मलक्ष्मी ज्येष्ठाषाढसत्कऋतुरिव जगतो विश्वस्य जाड्याधिकत्वं मूर्खत्वं जलाधिकत्वं वा न सेहे । किं कुर्वती ? दोषोच्छ्रयं दोषाणां दूषणानां पक्षे दोषा रात्रिस्तस्या उच्छ्रयं विस्तारं अल्पतायां संयोज्य, प्रत्यहं निरंतरं शुचिप्रभां शुचिं निर्मलां प्रभां, पक्षे शुचेः सूर्यस्य प्रभां राधयन्ती वर्धयन्ती । पुनः किंलक्षणा सुमंगला ? अतिपट्वी विदुषी, पक्षे अतिशयेन पट्वी तीव्रा ॥ ४५ ॥

परांतरिक्षोदकनिष्कलंका,
नाम्ना सुनंदा नयनिष्कलंका ।
तस्मै गुणश्रेणिभिरद्वितीया,
प्रमोदपूरं व्यतरद् द्वितीया ॥ ४६ ॥

परां० तस्मै भगवते श्री ऋषभदेवाय परा अन्या सुनन्दानाम्ना द्वितीया कलत्रं प्रमोदपूरं व्यतरत् ददौ, किंलक्षणा सुनंदा ? अन्तरिक्षोदकनिःकलंकाकाशोदकवन्निर्मला । पुनः किंल० ? नयनिष्कलंका न्याय एव निष्कं सुवर्णं तस्य लंकापुरी सुवर्णं हि लंकायां प्रचुरम्, पुनः किं० ? गुणश्रेणिभिर्विनयविवेकविचारशीलप्रभृतिगुणसमूहैरद्वितीया मनोज्ञा ॥ ४६ ॥

तयोः सपत्न्योरपि यत्प्रसन्न-
हृदोर्मदोद्रेकविविक्तमत्योः ।
अभूद्भगिन्योरिव सौहृदं स,
सुस्वामिलाभप्रभवः प्रभावः ॥ ४७ ॥

तयोः० तयोः सुमंगलासुनन्दयोः सपत्न्योरपि सत्योर्भगिन्योरिव यत् सौहृदं प्रेम अभूत् । किंविशिष्टयोस्तयोः ? प्रसन्नहृदोः । पुनः किंवि० ? मदोद्रेकविविक्तमत्योः, जातिलाभकुलैश्वर्यबलरूपतपःश्रुतिः, एषोऽष्टप्रकारो मदः तस्योद्रेकेण आधिक्येन विविक्तमत्योः रहितबुद्ध्योः सुस्वामिलाभप्रभवो भव्यभर्तृप्राप्तेरुत्पन्नप्रभावो ज्ञेयः ॥ ४७ ॥

आत्मोचिता मालिमनाप्नवत्यौ,
त्रिलोकभर्तुर्हृदयंगमे ते ।
सुरालयस्वामिनि बद्धरुच्या,
शच्यापि सख्या समलज्जिषाताम् ॥ ४८ ॥

आत्मो० ते त्रिलोकभर्तुर्हृदयंगमे श्रीयुगादिजिनकलत्रे सुमंगलासुनन्दे शच्यापि इन्द्राण्यापि सख्या समलज्जिषातां

लज्जिते, किं कुर्वंत्यौ ? आत्मोचितां आलिं सखीं अनाप्नुवन्त्यौ । अप्राप्तेः । किंलक्षणया शच्या ? सुरालयस्वामिनिबद्धरुच्या, सुरालयो देवलोको मदिरागृहं वा तस्य स्वामिनिबद्धरुच्या बद्धाऽभिलाषया ॥ ४८ ॥

तयोरहंपूर्विकया निदेशं,
विधित्समानासु गताभिमानम् ।
स्वर्गंगतास्वप्यमरांगनासु,
ययौ न जातु प्रशमं विवादः ॥ ४९ ॥

तयो० तयोः सुमंगलासुनन्दयोर्निदेशमादेशमहंपूर्विकया अहमहमिकया अमरांगनासु देवांगनासु गताभिमानं निरहंकारं यथा भवति तथा विधित्समानासु कर्तुमिच्छन्तीषु स्वर्गंगतास्वपि जातु कदाचिदपि विवादः प्रशमं उपशान्तिं न ययौ ॥ ४९ ॥

उपाचरद् द्वे अपि तुल्यबुद्ध्या,
प्रभुः प्रभापास्ततमःसमूहः ।
उच्चावचां न स्वरुचिं तनोति,
भास्वान्निलीनालिषु पद्मिनीषु ॥ ५० ॥

उपा० प्रभुः श्रीऋषभस्ते द्वे अपि कलत्रे तुल्यबुद्ध्या सदृशभावेन उपाचरत्, आसेविष्ट । किंलक्षणः प्रभुः ? प्रभापास्ततमःसमूहः प्रभया निराकृतांधकारपटलः । भास्वान् सूर्यः निलीनालिषु पद्मिनीषु निलीना अलयो भ्रमरा अलयः सख्यो वा यत्र तासु एवंविधासु पद्मिनीषु कमलिनीषु स्त्रीषु

वा उच्चावचां विषमां स्वरुचिं आत्मीयप्रभां स्वाभिलाषां वा किं तनोति अपि, नैव ॥ ५० ॥

ऋतूचितं पंचसु गोचरेषु,
यदा यदाशंसि जिनेन वस्तु ।
तदिंगिताकूतविदोपनिन्ये,
तदैव दूरादपि वासवेन ॥ ५१ ॥

ऋतू० जिनेन श्रीऋषभेण पञ्चसु गोचरेषु विषयेषु यदा यस्मिन्नवसरे यत् ऋतूचितं षड्ऋतुयोग्यं वस्तु आशंसि वाञ्छितं वासवेन इन्द्रेण तद्वस्तु दूरादपि उपनिन्ये ढौकितम् । किंलक्षणेन वासवेन ? तदिंगिताकूतविदा । तस्य भगवतः इङ्गितं चेष्टितं आकूतं अभिप्रायं च वेत्तीति इंगिताकूतवित् तेन, तदिंगिताकूतविदा ॥ ५१ ॥

कदापि नाथं विजिहीर्षुमन्त-
र्वणं विबुध्येव समं वधूभ्याम् ।
पत्रैश्च पुष्पैश्च तरूनशेषा-
न्विभूषयामास ऋतुर्वसन्तः ॥ ५२ ॥

कदा० ऋतुर्वसंतः पत्रैश्च पुनः पुष्पैरशेषान् तरून् समस्तवृक्षान् विभूषयामास अलंकृतवान् । किं कृत्वा ? उत्प्रेक्षते—नाथं श्रीऋषभदेवं कदापि अन्तर्वणं वनस्यान्तर्मध्ये वधूभ्यां सुमंगलासुनंदाभ्यां समं विजिहीर्षुं क्रीडाकर्तुमिच्छुर्विबुध्येव ज्ञात्वेव अन्तर्वणमित्यत्र 'निष्प्राग्रेऽन्त'रित्यादिसूत्रेण (सि० २।३।६६) नस्य णत्वं ज्ञेयम् ॥ ५२ ॥

शैत्यं सरस्यां मृदुतां लतायां,
सौरभ्यमब्जे ललनैः प्रकाश्य ।
आनन्दयन्निंद्यदिगुद्भवोऽपि,
देवं समेतत्रिगुणः समीरः ॥ ५३ ॥

शैत्य० निंद्यदिगुद्भवोऽपि निंद्या दिग् दक्षिणा तस्या उद्भवतीति निंद्यदिगुद्भवः, समीरो वायुर्देवं श्रीऋषभदेवं आनन्दयत् । किंलक्षणः समीरः ? समेतत्रिगुणः मिलितास्त्रयो गुणा यस्य सः । हीनकुलोत्पन्नोऽपि गुणैर्मान्यः स्यात् । वायोस्त्रयो गुणाः शीतो मन्दः सुरभिश्च । ललनैः प्रकाश्य च इति त्रिष्वपि स्थानेषु संबध्यते । किं कृत्वा ? सरस्यां सरोवरे ललनैः खेलनैः शैत्यं शीतलत्वं प्रकाश्य प्रादुःकृत्य, लतायां वल्ल्यां ललनैर्मृदुतां सकोमलत्वम्, अब्जे कमले ललनैः खेलनैः सौरभ्यं परिमलबहुलत्वम् ॥ ५३ ॥

वल्ली विलोला मधुपानुषङ्गं,
वितन्वती सत्तरुणाश्रितास्य ।
पुरा परागस्थितितः प्ररूढा,
पुपोष योषित्सुचलत्वबुद्धिम् ॥ ५४ ॥

वल्ली० वल्ली, अस्य भगवतः श्रीऋषभदेवस्य योषित्सु स्त्रीषु चलत्वबुद्धिं पुपोष । किंलक्षणा वल्ली ? विलोला चंचला । पुनः किं कुर्वती ? मधुपानुषंगं वितन्वती, मधुपा भ्रमरा मद्यपा वा तेषां संसर्गं कुर्वती । पुनः किं० ? सत्तरुणाश्रिता प्रशस्यवृक्षेणाश्रिता, अथवा सत्तरुणं प्रशस्ययुवानं आश्रिता । पुनः किंल० पुरा

पूर्वं परागस्थितितः प्ररूढाम्, परागः किंजल्कं परं प्रकृष्टं आगः अपराधो वा तस्य स्थितेः प्ररूढां उद्गताम् । अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः ॥ ५४ ॥

निविश्य गुल्मानि महालतानां,
विश्रम्य पत्रर्धिमिलारुहाणाम् ।
मंक्त्वा सदारः सरसां जलानि,
कृतार्थयामास कृती वने सः ॥ ५५ ॥

निवि० स कृती विद्वान् भगवान् सदारः सकलत्रः सन् वनमध्ये महालतानां महावल्लीनां गुल्मानि निविश्य उपविश्य कृतार्थयामास । एतत् क्रियापदं सर्वत्र संबध्यते । इलारुहाणां वृक्षाणां पत्रर्धिं पत्रसंपदं विश्रम्य । सरसां सरोवराणां जलानि मंक्त्वा स्नात्वा ॥ ५५ ॥

विभोर्व्यतायंत विवाहकाले,
यत्पल्लवैस्तोरणमंगलानि ।
चूतस्य तस्याविकलां फलर्धि-
मपप्रथत्साधु ततस्तपर्तुः ॥ ५६ ॥

विभो० यत् पल्लवैर्यस्य चूतस्य पल्लवैर्विभोर्विवाहकाले तोरणमङ्गलानि व्यतायन्त व्यस्तार्यन्त, ततस्ततोऽनन्तरं तपर्तुस्तस्य चूतस्य अविकलां संपूर्णां फलर्द्धिं साधु युक्तं अपप्रथत् विस्तारयति स्म ॥ ५६ ॥

दोषोन्नतिर्नाऽस्य तमोमयीष्टा,
दृष्टेति तामेष शनैः पिपेष ।

पुपोष चाहस्तदमुष्यपूजा-
पर्यायदानादुदितद्युतीति ॥ ५७ ॥

दोषो० एष ग्रीष्मर्तुरस्य भगवतस्तमोमयी अन्धकारमयी पापमयी वा दोषोन्नतिर्दूषणानामुन्नतिः, रात्रेरुन्नतिर्वा दृष्टा सती न इष्टा इति कारणात् तां दोषोन्नतिं शनैर्मंदं मन्दमपि पिपेष पिष्टवान् । च पुनः । अहर्दिनम्, इति कारणात् पुपोष । इतीति किम्? तत् अहः अमुष्य भगवतः पूजापर्यायदानात् पूजावसरदानतः उदितद्युतिः उदितप्रकाशं वर्तते ॥ ५७ ॥

उदग्रसौधाग्रनिलीनमल्ली-
वल्लीसुमश्रेणिसुगन्धिशय्यः ।
श्रीखंडलेपावृतचन्द्रपाद-
स्पर्शः कृशा ग्रीष्मनिशाः स मेने ॥ ५८ ॥

उद० स भगवान् ग्रीष्मनिशा उष्णकालसत्का रात्रीः कृशा मेने । किंलक्षणो भगवान्? उदग्रसौधाग्रनिलीनमल्लीवल्लीसुमश्रेणिसुगन्धिशय्यः उदग्र उच्चैस्तरे सौधाग्रे निलीना स्थापिता मल्लीवल्लीनां विचकिललतानां सुमश्रेणिभिः सुगन्धिशय्या यस्य स उदग्रसौधाग्र० ॥ पुनः किं०? श्रीखण्डलेपावृतचन्द्रपादस्पर्शः, श्रीखण्डस्य लेपेन आवृतः अन्तरितः चन्द्रस्य पादानां किरणानां पक्षे चरणानां स्पर्शो यस्य सः श्रीखंडलेपावृतचन्द्रपादः ॥ ५८ ॥

पुष्यर्थमीशव्रजतैकसद्म
ककुद्मतः किं जलभृज्जलौघैः ।

उदीततृण्यामवनीं समंता-
द्वितन्वती प्रावृडथ प्रवृत्ता ॥ ५९ ॥

पुष्ट्य० अथानन्तरं प्रावृट् वर्षाऋतुः प्रवृत्ता । किं कुर्वती? जलभृज्जलौघैर्मेघसत्कजलसमूहैः समन्तात् सर्वतः उदीततृण्यां उद्गततृणसमूहां अवनीं पृथ्वीं वितन्वती विस्तारयन्ती । किमर्थं? किमिति संशये, ईशध्वजतैकसद्मककुद्मतः पुष्ट्यर्थम् । ईशस्य स्वामिनो ध्वजताया एकं सद्म स्थानं यः ककुद्मान् वृषभस्तस्य पुष्ट्यर्थम् ॥ ५९ ॥

या वारिधारा जलदेन मुक्ताः,
सान्द्राः शिरस्यस्य बहिर्विहारे ।
असंस्मरंस्ता हरिहस्तकुम्भ-
नीराभिषेकं शिशुतानुभूतम् ॥ ६० ॥

या० जलदेन मेघेन अस्य भगवतः शिरसि शीर्षे या वारिधाराः, सांद्रा निबिडा बहिर्विहारे मुक्ताः, ता वारिधाराः शिशुतानुभूतं बाल्येन जन्माभिषेकावसरे अनुभूतं हरिहस्तकुंभनीराभिषेकं असंस्मरन् स्मारयन्ति स्म ॥ ६० ॥

असौ बहिर्बर्हिकुलेन क्लृप्तं,
मृदंगवद्गर्जति वारिवाहे ।
निभालयन्नाट्यमदान्मुदा तां,
दृशं धनाढ्यैरपि दुर्लभा या ॥ ६१ ॥

असौ० असौ भगवान् बहिर्मृदंगवत् वारिवाहे मेघे गर्जति सति यत् बर्हिकुलेन मयूरसमूहेन क्लृप्तं रचितं नाट्यं मुदा हर्षेण

निभालयन् सन् तां दृशं अदात् या दृग् धनाढ्यैरपि श्रीमद्भिरपि दुर्लभा स्यात् ॥ ६१ ॥

लोकोपकाराय स लोकनाथः,
कृत्वा क्षमाभृद्भवसिन्धुरोधम् ।
तदा, तदभ्यासवशाद्विधत्ते-
द्यापि क्षमाभृद्भवसिंधुरोधम् ॥ ६२ ॥

लोको० स लोकनाथः तदा तस्मिन्नवसरे लोकोपकाराय क्षमाभृद्भवसिन्धुरोधं क्षमाभृद्भवानां पर्वतोत्पन्नानां सिन्धूनां नदीनां रोधं बन्धं कृत्वा तदभ्यासवशात् अद्यापि क्षमाभृद्भवसिन्धुरोधं क्षमाभृतां साधूनां भवसिन्धोः संसारसमुद्रस्य रोधं विधत्ते ॥ ६२ ॥

प्रसादयंत्यांबु पयोजपुंजं,
प्रबोधयन्त्या विधुमिद्धयन्त्या ।
अस्याभिषेकार्चनवक्त्रदास्या,-
धिकारतोऽसौ शरदोपतस्थे ॥ ६३ ॥

प्रसा० असौ भगवान् शरदोपतस्थे आश्रितः । किं कुर्वत्या शरदा ? अंबु प्रसादयंत्या अंबु पानीयं प्रसन्नंकुर्वत्या । पुनः किंकुर्वत्या ? पयोजपुञ्जं प्रबोधयंत्या कमलसमूहं विकासयन्त्या । पुनः किंकुर्वत्या ? विधुं चन्द्रं इद्धयंत्या समृद्धं कुर्वत्या । कस्मात् ? अस्य भगवतोऽभिषेकार्चनवक्रदास्याधिकारतः, अभिषेकः स्नात्रं अर्चनं पूजनं वक्रस्य मुखस्य दास्ये तेषु अंबुप्रमुखानां अधिकारात् ॥ ६३ ॥

पङ्कैर्घनोपाधिभिराकुले प्राक्,
लोके तिरोभावमुपागतो यः ।
अहो स हंसः सहसा प्रकाशी-
बभूव भास्वन्महसा विपंके ॥ ६४ ॥

पङ्कै० यो हंसः प्राक् पूर्वं लोके तिरोभावं अदृश्यत्वं उपागतः । किंलक्षणे लोके ? घनोपाधिभिर्मेघहेतुकैर्बहुकारणैर्वा पङ्कैः कर्दमैपापैर्वा आकुले । अहो इति आश्चर्ये, स हंसः पक्षी आत्मा वा, भास्वन्महसा सूर्यतेजसा दीप्तज्ञानेन वा, विपंके सति सहसा प्रकाशीबभूव ॥ ६४ ॥

करैः श्रमच्छेदकरैः शरीर-
सेवां मणीकुट्टिमशायिनोऽस्य ।
विधुर्विविक्ते विदधन् प्रसाद-
पूर्वामपूर्वां श्रियमाप युक्तम् ॥ ६५ ॥

करैः० विधुश्चन्द्रः अस्य भगवतो मणिकुट्टिमशायिनः सतः विवक्ते विजने श्रमच्छेदकरैः किरणैः हस्तैर्वा शरीरसेवां विदधन् (कुर्वन्) प्रसादपूर्वां अपूर्वां श्रियं युक्तं आप प्राप, श्रीः चन्द्रे वसतीति प्रसिद्धिः ॥ ६५ ॥

मनाग् मुखश्रीः परमेश्वरस्य,
जिह्रीर्षिता यैः शरदा मदाढ्यैः ।
विधाय मन्तोः फलमन्तमेषु,
पद्मेषु भेजे प्रशलर्तुरेनम् ॥ ६६ ॥

मना० यैः पद्मैः शरदा मदाढ्यैर्मदपरवशैः सद्भिः परमेश्वरस्य

मनाक् स्तोकतरं मुखश्री जिहीर्षिता हर्तुं वांछिता । एषु पद्मेषु अन्तं विनाशं मन्तोरपराधस्य फलं विधाय कृत्वा प्रशलर्तुः हेमंतर्तुः, एनं भगवंतं भेजे । शरदि पद्मानि सश्रीकानि हेमन्ते च दह्यन्त इति भावः ॥ ६६ ॥

भृशं महेलायुगलेन खेला-
　रसं रहस्तस्य विलोकमाना ।
पौषी पुपोषालसतां गतौ यां,
　निशा न साद्यापि निवर्ततेऽस्याः ॥ ६७ ॥

भृशं० पौषी निशा पौषमाससंबन्धिनी रात्रिर्गतौ गमने यां अलसतां आलस्यं पुपोष, सा अलसता अस्या निशाया अद्यापि न निवर्तते । किं कुर्वाणा ? भृशं अत्यर्थं तस्य भगवतो महेला-युगलेन रह एकान्ते खेलारसं क्रीडारसं विलोकमाना ॥ ६७ ॥

नक्तं जगत्कंपयतो हसन्ती,
　या शीतदैत्यस्य बलं बिभेद ।
नेतुः पुरःस्थोचितमाप्तचक्रा,
　सा कृष्णवर्त्माश्रयतां बिभर्तु ॥ ६८ ॥

नक्तं० या, हसंती शकटिका, पक्षे हास्यं कुर्वती, नक्तं रात्रौ, जगत्कंपयतः शैत्यदैत्यस्य बलं बिभेद, सा हसंती आप्त-चक्रा सती नेतुः स्वामिनः पुरःस्था, उचितं युक्तं, कृष्णवर्त्मा-श्रयतां कृष्णवर्त्मनोऽग्नेः पक्षे कृष्णस्य वर्त्म मार्गः तस्याश्रयतां बिभर्तु । कृष्णश्चक्रधरः दैत्यभेत्ता च भवतीति भावः ॥ ६८ ॥

अथ प्रभाह्रासकरीं विमोच्य,
दुर्दक्षिणाशां शिशिरर्तुरंशुम् ।
अचीकरद्दीप्तिकरं प्रणन्तु-
मिवोत्तरासंगमसंगमेनं ॥ ६९ ॥

अथ० अथानन्तरं शिशिरर्तुः अंशुं सूर्यं असंगं सङ्गरहितं एनं भगवन्तं प्रणंतुमिव नमस्कर्तुमिव उत्तरासंगं अचीकरत् अकारयत् । किंवि० ? अंशुदीप्तिकरं दीप्तौ दीप्ता वा करौ हस्तौ किरणाः वा यस्य स तम् किं कृत्वा ? प्रभाया हानिकारिणी दुर्दक्षिणाशां दुष्टदक्षिणदिशं दुर्दक्षिणाया आशां अभिलाषं वा विमोच्य ॥ ६९ ॥

प्रभौ प्रसुप्ते निशि शीतवश्यं,
यदम्बु कम्बुच्छवि बन्धमाप ।
तज्जाग्रतादिष्ट इवाह्नि तेन,
भानुः स्वभावं स्वकरैर्निनाय ॥ ७० ॥

प्रभौ० कंबुच्छवि शंखसदृशं निर्मलं यदंबु जलं, निशि रात्रौ प्रभौ प्रसुप्ते सति शीतवश्यं सन् बन्धं आप, भानुः सूर्यस्तज्जलं अह्नि देवमिव स्वकैरैरात्मीयहस्तैः किरणैर्वा स्वभावं निनाय, उत्प्रेक्षते—तेन भगवता जाग्रता सता आदिष्ट इव ॥ ७० ॥

शीतेन सीदत्कुसुमासु युष्मा-
स्वर्चास्य देवस्य मदेकनिष्ठा ।
इति स्फुटत्पुष्परदा तदानीं,
शेषा लताः कुन्दलता जहास ॥ ७१ ॥

शीते० कुन्दलता कुन्दनाम्नी लता वल्ली तदानीं तस्मिन्

शिशिरर्तौ शेषा लता इति अमुना प्रकारेण जहास । किंलक्षणा कुंदलता? स्फुटत्पुष्परदा स्फुटन्ति विकसन्ति पुष्पाण्येव रदा दन्ता यस्याः सा स्फुट० । इतीति किम्? युष्मासु शीतेन सीदत्कुसुमासु सतीषु अस्य देवस्य अर्चा पूजा मदेकनिष्ठा वर्तते मय्येव एका निष्ठा यस्याः सा मदेकनिष्ठा ॥ ७१ ॥

तत्तादृगाहारविहारवासो-
निवासनिर्नाशितशीतभीतिः ।
शरीरसौख्येन स शैशिरीणां,
निशां न सेहे विपुलत्ववादम् ॥ ७२ ॥

तत्ता० स भगवान् शैशिरीणां शिशिरसंबन्धिनीनां निशां रात्रीणां शरीरसौख्येन विपुलत्ववादं विस्तीर्णवादं न सेहे, किंलक्षणो भगवान्? तत्तादृगाहारविहारवासोनिवासनिर्वासितशीतभीतिः, ते तादृशाः शीतव्यथोपशमनहेतुभूता आहारा विहारा विचरणानि वासांसि वस्त्राणि निवासा गृहाणि तैर्निनाशिता शीतभीतिर्येन स । उक्तं च,

"तप्तं जलं तापनतैलतूष्णीतांबूलतूलीवसनं तरुण्यः ।
नीत (?) प्रतापः, कथितं पयोऽपि शरीरिणां शीतभये सुखाय" ७२

इति ऋतूचितखेलनकैर्न कैः
हृतहृदश्चरतोऽस्य यथारुचि ।
सुकृतसूरसमुत्थधृतिप्रभा
परिचिता अरुचन्नखिला दिनाः ॥ ७३ ॥

इति० अस्य भगवतो यथारुचि स्वेच्छया चरतः सतः अखिलाः समस्ता दिनाः अरुचन् अदीप्यन्त । किंविशिष्टा

दिनाः ? सुकृतसूरसमुत्थधृतिप्रभापरिचिताः, सुकृतं पुण्यमेव सूरः सूर्यः ततः समुत्था समुत्पन्ना धृतिः समाधिरेव प्रभा कान्तिः तया परिचिताः सेविताः । किंविशिष्टस्य भगवतः ? इति ऋतूचितखेलनकैः न कैः हृतहृदः, इति पूर्वोक्तप्रकारैः षड्-ऋतुयोग्यक्रीडनैः,

"वर्षासु लवणममृतं शरदि जलं गोपयश्च हेमन्ते ।
शिशिरे चामलकरसो घृतं वसन्ते गुडश्चान्ते" ॥ १ ॥

इत्यादिभिश्च कैः कैर्न हृतहृदः, अपि तु सर्वैरपि हृतहृदः ॥७३॥

कौमारकेलिकलनाभिरमुष्य पूर्व-
लक्षाः षडेकलवतां नयतः सुखाभिः ।
आद्या प्रिया गरभमेणदृशामभीष्टं,
भर्तुः प्रसादमविनश्वरमाससाद ॥ ७४ ॥

कौमा० अमुष्य भगवतः आद्या प्रिया सुमंगला गरभं गर्भं आससाद प्राप्ता, 'गर्भस्तु गरभो भ्रूणो' इति पाठः । किंलक्षणं गरभं ? एणदृशां स्त्रीणां अभीष्टम् । पुनः किंलक्षणम् ? भर्तुः श्रीऋषभदेवस्य अविनश्वरं प्रसादम् । किंकुर्वतो भगवतः ? कौमारकेलिकलनाभिः षट्पूर्वलक्षा एकलवतां 'षट्त्रिंशन्निमेषैरेको लव' उच्यते, तद्भावं नयतः । किंविशिष्टाभिः कौमारकेलिकलनाभिः ? सुखाभिः सुखहेतुभिः ॥ ७४ ॥

इति श्रीअंचलगच्छे कविचक्रवर्तिश्रीजयशेखरसूरिविरचितश्रीजैन-
कुमारसंभवस्य तच्छिष्यश्रीधर्मशेखरसूरिविरचितायां टीकायां
श्रीमाणिक्यसुन्दरसूरिशोधितायां षष्ठ-
सर्गव्याख्या समाप्ता ॥ ६ ॥

अथ सप्तमः सर्गः ॥

अथ प्रथमनाथस्य, प्रिया तस्य सुमंगला ।
अध्युवास निजं वासभवनं यामिनीमुखे ॥ १ ॥

अथ० अथानन्तरं तस्य प्रथमनाथस्य श्रीयुगादिदेवस्य प्रिया सुमंगला यामिनीमुखे रात्रिमुखे निजं आत्मीयं वासभवनं आवासं अध्युवास उषिता ॥ १ ॥

यत्र ज्वलत्प्रदीपाणां, प्रभाप्राग्भारभापितम् ।
धृत्वा धूमशिखेत्याख्यांतरं दूरेऽगमत्तमः ॥ २ ॥

यत्र० यत्र यस्मिन् वासे तमोऽन्धकारं दूरेऽगमत् । किं कृत्वा ? धूमशिखा इति आख्यान्तरं नामान्तरं धृत्वा । किंलक्षणं तमः ? ज्वलत्प्रदीपाणां प्रभाप्राग्भारेण भापितं प्रभासमूहेन त्रासितम् ॥ २ ॥

यत्र नीलामलोल्लोचामुक्तामुक्ताफलस्रजः ।
बभुर्नभस्तलाधारतारकालक्षकक्षया ॥ ३ ॥

यत्र० यत्रावासे मुक्ताफलस्रजो नभस्तलाधारतारकाललक्षाणां कक्षया सादृश्येन बभुः शोभिताः । किंलक्षणा मुक्ताफलस्रजः ? नीलामलोल्लोचामुक्ता नीलेषु कृष्णवर्णेषु अमलेषु उल्लोचेषु आमुक्ता बद्धाः ॥ ३ ॥

सौवर्ण्यः पुत्रिका यत्र, रत्नस्तम्भेषु रेजिरे ।
अध्येतुमागता लीलां, देव्या देवांगना इव ॥ ४ ॥

सौव० यत्र वासे रत्नस्तंभेषु सौवर्ण्यः पुत्रिकाः सौवर्णमय्यः

पुत्रिका रेजिरे शोभिताः । उत्प्रेक्ष्यते—देव्याः सुमंगलाया लीलां अध्येतुं पठितुं आगता देवांगना इव ॥ ४ ॥

दह्यमानाः काकतुण्डा, यत्र धूमैर्विसृत्वरैः ।
स्वपंक्तिं वर्णगन्धाभ्यां, निन्युर्दार्वन्तराण्यपि ॥ ५ ॥

दह्य० यत्रावासे काकतुंडाः कृष्णागरवो दह्यमानाः उद्ग्राह्यमानाः संतः विसृत्वरैः प्रसरणशीलैर्धूमैर्दार्वान्तराण्यपि वर्णगन्धाभ्यां वर्णेन गन्धेन च स्वपंक्तिं निन्युर्गृहीतवन्तः ॥ ५ ॥

उत्पित्सव इवोत्पक्षा, यत्र कृत्रिमपत्रिणः ।
आरेभिरे लोभयितुं, बालाभिश्चारुचूर्णिभिः ॥ ६ ॥

उत्पि० यत्रावासे कृत्रिमपक्षिणः बालाभिर्बालिकाभिश्चारुचूर्णिभिर्मनोज्ञभक्ष्यैः लोभयितुमारेभिरे । उत्प्रेक्ष्यते—उत्पक्षा ऊर्ध्वीकृतपक्षाः सन्तः उत्पित्सव इव उत्पतितुंकामा इव ॥ ६ ॥

यन्मणिक्षोणिसंक्रान्तमिन्दुं कन्दुकशङ्कया ।
आदित्सवो भग्ननखा, न बालाः कमजीहसन् ॥ ७ ॥

यन्म० बालाः कं पुरुषं न अजीहसन् न हासयन्ति स ? अपि तु हासयन्ति सैव, किंलक्षणा बालाः ? यन्मणिक्षोणिसंक्रान्तं इन्दुं यस्यावासस्य रत्नपृथ्वीप्रतिबिंबितं इन्दुं चन्द्रं कन्दुकशंकया आदित्सवो ग्रहीतुमिच्छवः, पुनः किंलक्षणाः ? भग्ननखाः ॥ ७ ॥

व्यालंबिमालमास्तीर्णकुसुमालि समन्ततः ।
यदद्दृश्यत पुष्पास्त्रशस्त्रागाराधिया जनैः ॥ ८ ॥

व्यालं० जनैर्लोकैर्यत् गृहं पुष्पास्त्रस्य कामस्य शस्त्रागारधिया आयुधशालाबुद्ध्या अदृश्यत । किंलक्षणं गृहम् ? व्यालंबिमालं लंबमानस्रक् । पुनः किंलक्षणम् ? समंततः सर्वतः आस्तीर्णकुसुमालि प्रसरितपुष्पश्रेणि ॥ ८ ॥

कौतुकी स्त्रीजनो यत्र, पुरःस्फाटिकभित्तिषु ।
स्पष्टमाचष्ट पृष्ठस्थचेष्टितान्यनुबिम्बनैः ॥ ९ ॥

कौतु० यत्रावासे कौतुकी जनः पुरःस्फाटिकभित्तिषु अग्रे स्फटिकमणिसत्कभित्तिमध्ये अनुबिंबनैः प्रतिबिंबनैः पृष्ठस्थचेष्टितानि स्फुटं प्रकटं आचष्ट कथितवान् ॥ ९ ॥

लतागुल्मोत्थितो यत्राहरज्जालाध्वनागतः ।
मुक्ताधिया मरुच्चौरः, स्वेदबिन्दून् मृगीदृशाम् ॥१०॥

लता० यत्र वासे लतागुल्मोत्थितो वल्लिसत्कगुल्मसमुत्पन्नो मरुच्चौरः, मृगीदृशां स्त्रीणां स्वेदबिन्दून् मुक्ताधियाऽहरत् हृतवान् । किंलक्षणो मरुच्चौरः ? जालाध्वनागतः जालमार्गेण प्रविष्टः ॥ १० ॥

वीक्ष्य यत्परितोऽध्यक्षं, वनं सर्वर्तुकं जनः ।
श्रद्धेयमागमोक्त्यैवाभिननन्द न नन्दनम् ॥ ११ ॥

वीक्ष्य० जनो लोको यत्परितो यस्यावासस्य समंततः सर्वर्तुकं सर्वऋतुषु साधारणं अध्यक्षं प्रत्यक्षं वनं वीक्ष्य नन्दनं नंदनाख्यं वनं न अभिननन्द न प्रशशंस । किंविशिष्टं नंदनम् ? आगमोक्त्यैव श्रद्धेयं नतु प्रत्यक्षम् ॥ ११ ॥

श्वेतोत्तरच्छदं तत्र, दोलातल्पमुपेयुषी ।
हंसीं गङ्गातरंगात्तरंगामभिबभूव सा ॥ १२ ॥

श्वेतो० सा सुमंगला तत्र तस्मिन् वासे श्वेतोत्तरच्छदं श्वेतउत्तरपटयुक्तं, दोलातल्पं उपेयुषी दोलायमानशय्यां प्राप्तवती सती हंसीं अभिबभूव पराभवति स्म । किंलक्षणां हंसीम् ? गङ्गातरंगेषु गङ्गाकल्लोलेषु आत्तगृहीतरंगाम् ॥ १२ ॥

दक्षिणं तमुरीचक्रे, विवाहे भगवानिति ।
वामा वाममुपष्टभ्य, पाणिं तस्मिन्नशेत सा ॥ १३ ॥

दक्षि० सा वामा सुमंगला तस्मिन् शयनीये इति कारणात् वामं पाणिं उपष्टभ्य अशेत स्वपिति स्म । इतीति किं ? विवाहे भगवान् तं दक्षिणपाणिं हस्तं उरीचक्रे अङ्गीकृतवान् ॥ १३ ॥

पूर्वमप्सरसामंके, स्थित्वा तत्पादपंकजे ।
पश्चादवाप्तां दिव्यतूलीमौलिवतंसताम् ॥ १४ ॥

पूर्व० पूर्वं प्रथमं अप्सरसां अङ्के देवांगनानामुत्संगे स्थित्वा पश्चात् तत्पादपंकजे तस्याः सुमंगलायाश्चरणकमलौ दिव्यतूली-मौलिवतंसतां हंसतूल्यामस्तके मुकुटत्वं अवाप्तां प्राप्तौ ॥ १४ ॥

दीपाः सस्नेहपटवोऽभितस्तां परिवव्रिरे ।
ध्वान्तारातिभयं भेत्तुं, जाग्रतो यामिका इव ॥ १५ ॥

दीपाः० दीपा अभितः समंततः तां सुमंगलां परिवव्रिरे, परिवृण्वन्ति स्म । किंलक्षणा दीपाः ? सस्नेहपटवः स्नेहसहिताः पटवश्च पटिष्ठाः । उत्प्रेक्ष्यते—ध्वान्तारातिभयं भेत्तुं अन्धकार-शत्रुभयं छेत्तुं जाग्रतो यामिकाः, प्राहरिका इव ॥ १५ ॥

विसृज्य सा परप्रेमालापपात्रीकृताः सखीः ।
निद्रां सुखार्थामेकान्तसखीं संगंतुमैहत ॥ १६ ॥

विसृ० सा सुमंगला परप्रेमालापपात्रीकृताः, परा प्रेमालापस्य प्रकृष्टा(या) स्नेहवार्ताया(तस्याः ?) पात्रीभूता एवंविधाः सखीः विसृज्य निद्रां संगंतुं निद्रासङ्गमं ऐहत इच्छति स्म । किंलक्षणां निद्राम् ? सुखार्थां सुखकारिणीं, पुनः किंविशिष्टाम् ? एकान्तसखीम् ॥ १६ ॥

तस्याः सुषुप्सया जोषजुषोऽजायत शर्मणे ।
मोहो निद्रानिमित्तः स्याद्दोषोऽप्यवसरे गुणः ॥१७॥

तस्याः० सुमंगलायाः निद्रानिमित्तो मोहः शर्मणे सौख्याय अजायत जातः, किंलक्षणायाः सुमंगलायाः सुषुप्सया सुखशयनवांछया, जोषजुषो मौनं सेविन्या दोषोऽप्यवसरे गुणः स्यात् ॥ १७ ॥

स्रोतांसि निवृतीभूय, नृपस्येव नियोगिनः ।
निशि निर्वव्रिरे तस्याः, स्वस्वव्यापारसंवृतेः ॥ १८ ॥

स्रोतां० तस्याः सुमंगलायाः स्रोतांसि इन्द्रियाणि स्वस्वव्यापारसंवृतेः निवृतीभूय निश्चलीभूय निर्वव्रिरे निवृतिं प्रापुः, के इव ? नियोगिनो व्यापारिण इव, यथा नृपस्य राज्ञो नियोगिनः स्वस्वव्यापारसंवृतेर्निवृतिं समाधिं प्राप्नुवन्ति ॥ १८ ॥

तदा निद्रामुद्रितदृग् भवने सा वनेऽब्जिनी ।
निद्राणकमला सख्योचितमाचरतुर्मिथः ॥ १९ ॥

तदा० तस्मिन्नवसरे सा सुमंगला भवने गृहे निद्रामुद्रित-

दृग् निद्रया संकुचितदृष्टिः, सती वने अब्जिनी कमलिनी निद्राणकमला संकुचितकमला द्वे अपि मिथः परस्परं सख्योचितं मैत्रीसदृशं आचरतुः चरतुः ॥ १९ ॥

आसतामपरे मौनं, भेजुराभरणान्यपि ।
असंचरतया तस्या, निद्राभङ्गभयादिव ॥ २० ॥

आस० अपरे आसतां दूरे सन्तु तस्याः सुमंगलाया आभरणान्यपि असंचरतया निःसञ्चलत्वेन मौनं भेजुः, उत्प्रेक्ष्यते—सुमंगलाया निद्राभङ्गभयादिव ॥ २० ॥

निद्रानिभृतकाया साऽनायासान्नाकियोषिताम् ।
लोचनैर्लेह्यसर्वांगलावण्या समजायत ॥ २१ ॥

निद्रा० सुमंगला निद्रानिभृतकाया निद्रया निश्चलदेहा सती नाकियोषितां देवांगनानां लोचनैर्लेह्य आस्वाद्य सर्वांगलावण्या समजायत ॥ २१ ॥

निर्वातस्तिमितं पद्ममिवामुष्या मुखं सुखम् ।
न्यपीयताप्सरोनेत्रभृङ्गैर्लावण्यसन्मधु ॥ २२ ॥

निर्वा० अमुष्याः सुमंगलायाः लावण्यसन्मधु लावण्यमेव सत् विद्यमानं मधु मकरन्दो यत्र एवंविधं मुखं यथा भवति तथा अप्सरोनेत्रभृंगैर्देवांगनासत्कलोचनभ्रमरैर्न्यपीयत पीतम्, उत्प्रेक्ष्यते—निर्वातस्तिमितं वातरहितं निश्चलं पद्ममिव ॥ २२ ॥

आप्तनिद्रासुखा सौख्यदायीति स्वप्नदर्शनम् ।
अन्वभूत्पुण्यभूमी सोत्सवान्तरमिवोत्सवे ॥ २३ ॥

आप्त० सा सुमंगला आप्त प्राप्तनिद्रासुखा सती सौख्यदायि

सुखदायिकं इति अमुना प्रकारेण वक्ष्यमाणं स्वप्नदर्शनमन्वभूत् अनुभवति स्म । किंलक्षणा सुमंगला ? पुण्यभूमी । किमिव ? उत्सवान्तरमिव यथा उत्सवेन उत्सवान्तरं अनुभूयते ॥ २३ ॥

प्रथमं सा लसद्दन्तदण्डमुच्छुंडमुन्नतम् ।
भूरिभाराद्भुवो-भङ्गभीत्येव मृदुचारिणम् ॥ २४ ॥
गण्डशैलपरिस्पर्द्धिकुम्भं कर्पूरपाण्डुरम् ।
द्विरदं मदसौरभ्यलुभ्यद्भ्रमरमैक्षत ॥ २५ ॥ युग्मम् ॥

प्रथ० सा सुमंगला प्रथमं द्विरदं गजेन्द्रं ऐक्षत दृष्टवती, किंलक्षणं गजेन्द्रम् ? एतानि सर्वाणि गजेन्द्रविशेषणानि ज्ञेयानि । लसद्दन्तदण्डं उल्लसद्दन्तमुशलम्, उच्छुंडं ऊर्द्धीकृतशुण्डादण्डम्, उन्नतं उच्चैस्तरम् । उत्प्रेक्ष्यते—भूरि बहुभारात् भुवो भङ्गभीत्या पृथिव्या भङ्गभयेन मृदुचारिणमिव मन्दगमनमिव ॥ २४ ॥ गण्डशैलपरिस्पर्द्धिकुंभं पर्वतसत्कस्थूलोपलेन सह स्पर्द्धां कुर्वन् कुंभस्थलं यस्य तम् । कर्पूरपांडुरं कर्पूरवद्धवलम् । मदसौरभलुभ्यद्भ्रमरं मदसौरभ्येण मदपरिमलेन लुभ्यन्तो भ्रमरा यस्य तम् ॥ २५ ॥ युग्मम् ॥

भाग्यैः शकुनकामानामिव गर्जन्तमूर्जितम् ।
शुभ्रं पुण्यमिव प्राप्तं, चतुश्चरणचारुताम् ॥ २६ ॥
सिन्धुरोधक्षमं रोधः स्यतं मृल्लवलीलया ।
सशृङ्गमिव कैलासं, ककुद्मंतं ददर्श सा ॥ २७ ॥
युग्मम् ॥

भाग्यैः० सा सुमंगला कुकुद्मंतं वृषभं ददर्श, किंलक्षणं

ककुद्मंतम्? एतानि सर्वाणि ककुद्मत एव विशेषणानि, किं कुर्वंतं वृषभं ऊर्जितम्? बलवन्तम्, गर्जंतम्। उत्प्रेक्ष्यते-शकुनकामानां शकुनाभिलाषिणां भाग्यैरेव। उत्प्रेक्ष्यते-चतुश्चरणचारुतां चतुर्भिः चरणैर्मनोज्ञत्वं प्राप्तं शुभं उज्ज्वलं पुण्यमिव ॥ २६ ॥ सिन्धुरोधक्षमं नद्या रोधसमर्थं एवंविधं रोधस्तटं मृल्लवलीलया मृत्तिकालववत् खण्डवत् स्यन्तं पातयन्तम्। उत्प्रेक्ष्यते— सशृङ्गं कैलासमिव ॥ २७ ॥ युग्मम् ॥

अप्यतुच्छतया पुच्छाघातकंपितभूतलम्।
अत्युदारदरीक्रोडक्रीडत्क्ष्वेडाभयंकरम् ॥ २८ ॥
सद्यो भिन्नेभकुम्भोत्थव्यक्तमुक्तोपहारिणम्।
हरिणाक्षी हरिं स्वप्न-दृष्टं सा बहमन्यत ॥ २९ ॥
युग्मम् ॥

अप्य० सा हरिणाक्षी सुमंगला स्वप्नदृष्टं हरिं सिंहं बहु अमन्यत बहु मन्यते स्म। किंलक्षणं हरिम्? एतानि सर्वाणि हरिविशेषणानि। अतुच्छतया घनतया, पुच्छाघातकंपितभूतलमपि पुच्छप्रहारेण कंपितपृथ्वीतलमपि। उदारदरीक्रोडक्रीडत्क्ष्वेडाभयंकरमपि उदारदरीगुहा तस्याः क्रोडे उत्संगे क्रीडन्ती क्ष्वेडा सिंहनादस्तेन भयंकरमपि ॥ २८ ॥ सद्यो भिन्नेभकुंभोत्थव्यक्तमुक्तोपहारिणं, सद्यस्तत्कालं भिन्ना विदारिता इभा गजास्तेषां कुंभोत्था व्यक्ता प्रकटा मुक्ता मौक्तिकानि उपहारिणम् ढौकयन्तम्, सद्योभि०, पहारिणम्। रौद्रोऽपि हरिः मौक्तिकदायकत्वात् बहुमान्यो जात इति भावः ॥ २९ ॥ युग्मम् ॥

निधीनक्षय्यसारौघतुंदिलान् सन्निधौ दधिः ।
भूषाहेम्नः स्ववपुषो, मयूखैरन्तरं घ्नती ॥ ३० ॥
पद्माकरमयीं मत्वा, नेत्रवक्त्रकरांघ्रिणा ।
पद्मवासा निवासार्थमिवोपनमति स्म ताम् ॥ ३१ ॥
युग्मम् ॥

निधी० पद्मवासा लक्ष्मीस्तां सुमंगलां निवासार्थमिव निवासहेतोरिव उपनमति स्म । किंलक्षणा पद्मा ? अक्षय्यसारौघतुंदिलान् अक्षय्य सारस्य अत्रुटितसारस्य द्रव्यस्य ओघः समूहस्तेन तुंदिलान् लक्षणया स्थूलान् एवंविधान् निधीन् सन्निधौ समीपे दधिर्दधाना । दधिरिति निपातो ज्ञेयः । पुनः किं कुर्वती ? स्ववपुषो मयूखैः आत्मीयशरीरस्य मयूखैः किरणैः भूषाहेम्नः आभरणसत्कसुवर्णस्य अन्तरं घ्नती विनाशयती ॥ ३० ॥ किं कृत्वा ? नेत्रवक्त्रकरांह्रिणा '–प्राणितूर्यांगाणाम्' (सि० ३।१।१३७) इत्येकवचनम्, लोचनमुखहस्तपादैः तां सुमंगलां पद्माकरमयीं मत्वा ज्ञात्वा लक्ष्मीः पद्मेषु वसतीति सुमंगलामाश्रयते स्म ॥ ३१ ॥ युग्मम् ॥

भृङ्गैः सौरभलोभेनानुगतं सेवकैरिव ।
तन्व्या दोःपाशवत्पुण्यभाजां कण्ठग्रहोचितम् ॥ ३२ ॥
प्रहितं प्राभृतं पारिजातेनैव जगत्प्रियम् ।
असमं कौसुमं दाम, जज्ञे तन्नेत्रगोचरः ॥ ३३ ॥ युग्मम् ॥

भृङ्गैः० कौसुमं दाम कुसुमसंबन्धि दाम माला तन्नेत्रगोचरो जज्ञे, तया सुमंगलया पुष्पमाला दृष्टेति भावः । किंलक्षणं दाम ? सेवकैरिव भृङ्गैर्भ्रमरैः सौरभलोभेन अनुगतं परिमलस्य

लोमेन वेष्टितम् । दाम्न एव सर्वाणि विशेषणानि । तन्व्याः स्त्रियाः दोःपाशवत् भुजापाशवत् पुण्यभाजां भाग्यवतां कंठग्रहोचितं कंठक्षेपणयोग्यम् ॥ ३२ ॥ उत्प्रेक्ष्यते—पारिजातेन प्रहितं प्राभृतमिव ढौकनमिव जगत्प्रियं विश्वाभीष्टम् । असमं निरुपमम् ॥ ३३ ॥ युग्मम् ॥

चकोराणां सुमनसामिव प्रीतिप्रदामृतम् ।
रोहिण्या इव यामिन्या, हृदयंगमतां गतम् ॥ ३४ ॥
संप्राप्तकौमुदीसारं, कामुकैरिव कैरवैः ।
आस्ये विशंतं पीयूषमयूखं सा निरैक्षत ॥३५॥ युग्मम् ॥

चको० सा सुमंगला आस्ये मुखे विशंतं प्रविशंतं पीयूषमयूखं चन्द्रमसं निरैक्षत दृष्टवती । किंलक्षणं चन्द्रमसम्? एतानि सर्वाणि चन्द्रस्यैव विशेषणानि । सुमनसां देवानामिव चकोराणां प्रीतिप्रदामृतम् । यामिन्या इव रात्रेरिव रोहिण्या हृदयंगमतां गतं भर्तृत्वं प्राप्तवन्तम् ॥ ३४ ॥ कामुकैरिव कैरवैः कुमुदैर्निविष्टकौमुदीसारम् उपभुक्तज्योत्स्नासारम् ॥३५॥ युग्मम् ॥

क्षिपन् गुहासु शैलानां, लोकादुत्सारितं तमः ।
सङ्कोचं मोचितं पद्मवनाद् घूकदृशां दिशन् ॥ ३६ ॥
न्यस्यन् प्राकाश्यमाशासु, तारकेभ्योऽपकर्षितम् ।
स्वप्नेऽपि स्मेरयामास, तस्या हृत्कमलं रविः ॥ ३७ ॥
युग्मम् ॥

क्षिप० रविः सूर्यस्तस्याः सुमंगलायाः हृत्कमलं स्वप्नेऽपि स्मेरयामास विकासयति स्म । किं कुर्वन् रविः? सर्वाणि

विशेषणानि रवेरेव ज्ञेयानि। लोकात् उत्सारितं तमः अन्धकारं शैलानां पर्वतानां गुहासु क्षिपन्, पद्मवनात् मोचितं संकोचं घूकदृशां दिशन् ॥ ३६ ॥ तारकेभ्योऽपकर्षितं गृहीतं प्राकाश्यं प्रकटत्वं आशासु दिक्षु न्यस्यन् ॥ ३७ ॥ युग्मम् ॥

अखण्डदण्डनद्धोऽपि, न त्यजन्निजचापलम् ।
सहजं दुस्त्यजं घोषन्निव किंकिणिकाक्कणैः ॥ ३८ ॥
ध्वजो रजोभयेनेव, व्योमन्येव कृतास्पदः ।
तत्प्रीतिनर्तकीनाट्याचार्यकम्बां व्यडम्बयत् ॥ ३९ ॥

अख० ध्वजस्तत्प्रीतिनर्तकीनाट्याचार्यकंबां तस्याः सुमंगलायाः प्रीतिरूपमा(गा?)त्रस्य ? नर्तने नाट्याचार्य० रंगाचार्यकरकृतकंबां व्यडंबयत्, लक्षणया नाट्याचार्यकंबायाः सादृश्यं प्रापेति भावः । किं कुर्वन् ध्वजः ? एतानि ध्वजविशेषणानि ज्ञेयानि । अखंडदंडेन नद्धपि बद्धोऽपि निजचापल्यं न त्यजन्, उत्प्रेक्ष्यते-किंकिणिकाक्कणैः क्षुद्रघंटिकाशब्दैः सहजं दुस्त्यजं घोषन्निव ॥ ३८ ॥ उत्प्रेक्ष्यते-रजोभयेन व्योमन्येव आकाश एव कृतास्पदः कृतस्थान इव ॥ ३९ ॥ युग्मम् ॥

स्त्रैणेन मौलिनाधीये, सोऽहं साक्षी जगज्जनः ।
त्वं धत्सेऽतुच्छमत्संपल्लुम्पाकौ हृदये पुनः ॥ ४० ॥
मुखन्यस्तांबुजचंचच्चंचरीकरवच्छलात् ।
इति प्रीतिकलिं कुर्वन्निव कुम्भस्तयैक्ष्यत ॥ ४१ ॥
युग्मम् ॥

स्त्रैणे० तया सुमंगलया कुम्भ ऐक्षत दृष्टः । किं कुर्वन्

कुम्भः ? उत्प्रेक्ष्यते—मुखन्यस्तांबुजच्चंचच्चंचरीकरवच्छलात् मुखन्यस्तांबुजे चंचत् स्रवन् चंचरीकभ्रमररवच्छलात् मिषात् इति प्रीतिकलिं कुर्वन्निव ॥ ४० ॥ इतीति किम् ? सर्वप्रसिद्धोऽहं स्त्रैणेन स्त्रीसमूहेन मौलिना मस्तकेन आधीये ध्रिये, अत्र विषये जगज्जनः साक्षी वर्तते, त्वं पुनरतुच्छमत्संपल्लुंपाकौ मदीयसंपदो लुंपाकौ अपहारकौ हृदये धत्से धरसि ॥४१॥ युग्मम् ॥

अम्लानकमलामोदमनेककविशब्दितम् ।
सद्वृत्तपालिनिर्वेशक्षमविष्टरडम्बरम् ॥ ४२ ॥
स्वर्णस्फातिस्फुरद्भंगिवर्ण्यं विश्वोपकारकृत् ।
इभ्यागारमिवातेने, कासारं तद्दृगुत्सवम् ॥ ४३ ॥
युग्मम् ॥

अम्ला० कासारं सरोवरं इभ्यागारमिव व्यावहारिकगृहमिव तद्दृगुत्सवं तस्याः सुमंगलायाः दृष्टिगोचरे उत्सवं आतेने विस्तारयति स्म । कासारः पुंनपुंसको ज्ञेयः । किंलक्षणं कासारं इभ्यागारं च ? द्वयोरपि विशेषणानि सर्वाणि । अम्लानकमलामोदं अम्लानकमलानां आमोदः परिमलो यत्र तत्, पक्षे अम्लानः कमलया लक्ष्म्या आमोदो हर्षो यत्र तत् । अनेककविशब्दितं, अनेककानां वीनां पक्षिणां शब्दितं यत्र तत्, पक्षे अनेकानां कवीनां शब्दितं गीतकवित्वादिना कीर्त्तिविस्तारणं यत्र तत् । सती प्रशस्या वृत्ताकारा पालिर्यत्र तत् सद्वृत्तपालि निर्वेशस्य उपभोगस्य क्षमो विष्टराणां वृक्षाणां डंबरो यत्र तत् निर्वेशक्षमविष्टरडम्बरम्, पक्षे सद्वृत्तानां सच्चारित्राणां पालिः श्रेणिः तस्या निर्वेशक्षमो विष्टराणां

आसनानां डंबरो यत्र तत् ॥ ४२ ॥ स्वर्णस्फातिस्फुरद्भंगिवर्णं सुष्ठु शोभनस्य अर्णस्य पानीयस्य स्फात्या स्फुरंत्यो भंगयस्तरंगास्तैर्वर्ण्यम्, पक्षे स्वर्णस्य स्फात्या स्फुरन्त्यो भंगयो विच्छित्तयस्ताभिर्वर्ण्यं विश्वोपकारकृत् ॥ ४३ ॥ युग्मम् ॥

क्वचिद्वायुवशोद्धूतवीचीनीचीकृताचलम् ।
उद्वृत्तपृष्ठैः पाठीनैः, कृतद्वीपभ्रमं क्वचित् ॥ ४४ ॥
पीयमानोदकं क्वापि, सतृषैरिव वारिदैः ।
रत्नाकरं कुरङ्गाक्षी,वीक्ष्यमाणा विसिष्मिये ॥ ४५ ॥
युग्मम् ॥

क्वचि० कुरंगाक्षी सुमंगला रत्नाकरं समुद्रं वीक्ष्यमाणा सती विसिष्मिये विस्मयं प्राप्ता । किंलक्षणं रत्नाकरम्? सर्वाणि रत्नाकरस्यैव विशेषणानि । क्वचिद्वायुवशोद्धूतवीचीनीचीकृताचलम्, वायुवशेन उत्पाटिता ये वीचयः कल्लोलास्तैर्नीचीकृताः पर्वता येन तं वायु० । क्वचित् उद्वृत्तपृष्ठैः उत्पाटितपृष्ठविभागैः पाठीनैर्मत्स्यविशेषैः कृतद्वीपभ्रमम् ॥ ४४ ॥ उत्प्रेक्ष्यते—सतृषितैरिव वारिदैर्मेघैः क्वचित् पीयमानोदकम् ॥ ४५ ॥ युग्मम् ॥

सूर्यबिम्बादिवोद्भूतं, जन्मस्थानमिवार्चिषाम् ।
चरिष्णुमिव रत्नाद्रिं, भारादिव दिवश्च्युतम् ॥ ४६ ॥
दीव्यद्देवांगनं रत्नभित्तिरुग्भिः क्षिपत्तमः ।
अभूदभ्रंकषं तस्या, विमानं नयनातिथिः ॥ ४७ ॥
युग्मम् ॥

सूर्य० विमानं तस्याः सुमंगलाया नयनातिथिरभूत्, तया विमानं दृष्टमित्यर्थः । किंलक्षणं विमानम्? एतानि सर्वाणि

विमानस्यैव विशेषणानि । उत्प्रेक्ष्यते—सूर्यबिंबादुद्भूतं प्रकटीभूतमिव । उत्प्रेक्ष्यते-अर्चिषां तेजसां स्थानमिव । उत्प्रेक्ष्यते—चरिष्णुः चलनशीलो रत्नाद्रिः रत्नाचल इव । उत्प्रेक्ष्यते—भाराद्दिवः स्वर्गात् च्युतमिव भ्रष्टमिव ॥ ४६ ॥ दीव्यद्देवांगनं क्रीडद्देवस्त्री । रत्नभित्तिरुग्भिः किरणैस्तमोऽन्धकारं क्षिपत् । अभ्रंकषं आकाशलग्नम् ॥ ४७ ॥ युग्मम् ॥

रक्ताश्मरिष्टवैडूर्यस्फटिकानां गभस्तिभिः ।
लम्भयन्तं नभश्चित्र-, फलकस्य सनाभिताम् ॥ ४८ ॥
वार्धिना दुहितुर्दत्तामिव कन्दुककेलये ।
रत्नराशिं दवीयांसमपुण्यानां ददर्श सा ॥ ४९ ॥
युग्मम् ॥

रक्ता० सा सुमंगला रत्नराशिं ददर्श । किं कुर्वन्तं रत्नराशिम् ? रक्ताश्मरिष्टवैडूर्यस्फटिकानां रक्ताश्मा पद्मरागमणिः, अरिष्टं कृष्णरत्नं, वैडूर्यं नीलमणिः, स्फटिकः श्वेतमणिः, एतेषां गभस्तिभिः किरणैः नभ आकाशं चित्रफलकस्य सनाभितां चित्रफलकस्य सादृश्यं लंभयन्तं प्रापयन्तम् ॥ ४८ ॥ पुनः किंलक्षणं रत्नराशिम् ? उत्प्रेक्ष्यते—वार्धिना समुद्रेण दुहितुः पुत्र्या लक्ष्म्याः कंदुककेलये दत्तमिव । अपुण्यानां निर्भाग्यानां दवीयांसं अतिदूरम् ॥ ४९ ॥ युग्मम् ॥

आघोराघोररोचिष्णुं, जिष्णुं चामीकरत्विषाम् ।
अजिह्मविलसज्ज्वालाजिह्वमाहूतिलोलुपम् ॥ ५० ॥
श्मश्रुणेव नु धूमेन, श्यामं मखभुजां मुखम् ।
ददर्श श्वसनोद्भूतरोचिषं सा विरोचनम् ॥ ५१ ॥
युग्मम् ॥

आघा० सा सुमंगला विरोचनं अग्निं ददर्श । किंलक्षणं अग्निम्? सर्वाण्यग्नेर्विशेषणानि, आघोराघोररोचिष्णुं आघोरं घृतं तस्य घोरेण सेकेन रोचिष्णुं देदीप्यमानम् । चामीकरत्विषं सुवर्णकान्तिम्, जिष्णुं जयनशीलम् । अजिह्मविलसज्ज्वालाजिह्वं अजिह्मापदिष्टाः विलसन्त्यः ज्वाला एव जिह्वा यस्य तं अजि० । आहुतिलोलुपं आहुतौ होतव्यद्रव्यग्रहणे लोलुपं लम्पटम् ॥ ५० ॥ उत्प्रेक्ष्यते—श्मश्रुणा इव कूर्चसदृशेन धूमेन श्यामं कृष्णम्, मखभुजां देवानां मुखम् श्वसनोद्भूतरोचिषं श्वसनः पवनः तस्मादुत्पन्नरुचिम् ॥ ५१ ॥

युग्मम् ॥

॥ इत्यष्टाविंशतिश्लोकैः चतुर्दशस्वप्नवर्णनम् ॥

प्रविश्य वदनद्वारा, तस्याः स्वप्ना अमी समे ।
कूटस्थकौटुम्बिकतां, भेजिरे कुक्षिमन्दिरे ॥ ५२ ॥

प्रवि० अमी गजादयोऽग्निपर्यन्ताः समे सर्वे स्वप्नास्तस्याः सुमंगलायाः कुक्षिमन्दिरे उदररूपगृहे वदनद्वारा मुखद्वारेण प्रविश्य कूटस्थकौटुंबिकतां स्थिरगृहपतित्वं भेजिरे सेवन्ते स्म ॥ ५२ ॥

ततो गुणव्रजागारं, जजागार सुमंगला ।
साक्षात्तद्वीक्षणात्कर्तुकामेव नयनोत्सवम् ॥ ५३ ॥

ततो० ततस्ततोऽनन्तरं सुमंगला जजागार । किंविशिष्टा सुमंगला? गुणव्रजागारं, गुणा औदार्यगांभीर्यचातुर्यमाधुर्यधैर्यादयस्तेषां व्रजः समूहस्तस्य आगारं गृहम् । पुनः किंविशिष्टा?

उत्प्रेक्ष्यते-साक्षात् प्रत्यक्षं तद्वीक्षणात् तेषां स्वप्नानां दर्शनात् नयनोत्सवं कर्तुकामेव ॥ ५३ ॥

स्वप्नार्थांस्तानपश्यन्ती, पुरः सा चिखिदे क्षणम् ।
प्राप्ता मत्कुक्षिमेवामी, इति द्राग् मुमुदे पुनः ॥५४॥

स्वप्ना० सा सुमङ्गला पुरोऽग्रे तान् स्वप्नार्थान् स्वप्नपदार्थान् अपश्यन्ती, क्षणं चिखिदे खेदं प्राप्तवती । पुनर्द्राग् शीघ्रं इति कारणात् मुमुदे प्रमोदं धृतवती, इतीति किम् ? अमी स्वप्नार्थां मत्कुक्षिमेव प्राप्ताः ॥ ५४ ॥

निर्नष्टनिद्रनेत्रा सा, स्वप्नान्तरचिन्तयत् ।
मुनिरप्राप्तपूर्वाणि, पूर्वाणीव चतुर्दश ॥ ५५ ॥

निर्न० सा सुमंगला निर्नष्टनिद्रनेत्रा निद्रारहितलोचना सती चतुर्दशस्वप्नान् अन्तर्मध्ये अचिन्तयत् । क इव ? मुनिरिव, यथा मुनिरप्राप्तपूर्वाणि चतुर्दशपूर्वाणि चिन्तयति स्मरति ॥ ५५ ॥

स्मृतिप्रत्ययमानीते, मत्या स्वप्नकदम्बके ।
कदम्बकोरकाकारपुलका साऽभवन्मुदा ॥ ५६ ॥

स्मृति० सा सुमंगला मुदा हर्षेण कन्दबकोरकाकारपुलका कदंबाख्यपुष्पस्य कोरको मुकुलस्तदाकारका पुलका तत्सदृश-रोमांचाऽभवत् । क सति ? मत्या बुद्ध्या स्वप्नकदंबके स्वप्नसमूहे स्मृतेः प्रत्ययं गोचरं आनीते सति ॥ ५६ ॥

नैयग्रोधोऽङ्कुर इव, प्रवर्धिष्णुः पुटं भुवः ।
आनन्दो हृदयं तस्याः, सोल्लासं निरवीवृतत् ॥५७॥

नैय० प्रवर्धिष्णुर्वर्धनशीलः आनंदः तस्याः सुमंगलायाः हृदयं सोल्लासं सविकाशं निरवीवृतत् निवर्तयामास निष्पादयामासेत्यर्थः । क इव ? नैयग्रोधांकुर इव, न्यग्रोधस्यायं नैयग्रोधः, यथा वटसंबंधी अंकुरो वर्धिष्णुर्भुवः, पुटं सोल्लासं निर्वर्तयति ॥ ५७ ॥

यन्निभालनभूः प्रीतिर्मेने मम तनूं तनुम् ।
तत्फलावाप्तिजन्मा तु, मातु केत्याममर्श सा ॥ ५८ ॥

यन्नि० सा सुमंगला इति आममर्श इत्थं विमर्शति स । इतीति किम् ? यन्निभालनभूः येषां स्वप्नानामालोकनसमुत्पन्ना प्रीतिर्मम तनूं शरीरं तनुं कृशां मेने । तु पुनस्तत्फलावाप्तिजन्मा तेषां स्वप्नानां फलप्राप्तिसमुत्पन्ना प्रीतिः क मातु ॥ ५८ ॥

तया स्वप्नक्षणोन्नीतप्रीतिसन्तर्पितात्मया ।
उन्निद्रा नित्यमस्वप्नवध्वोऽप्यबहु मेनिरे ॥ ५९ ॥

तया० तया सुमंगलया अस्वप्नवध्वोऽपि देवांगना अपि नित्यं निरंतरं उन्निद्रा निद्रारहिताः सत्यः अबहु मेनिरे न बहु मन्यन्ते स । किंविशिष्टया तया ? स्वप्नक्षणोन्नीतप्रीतिसंतर्पितात्मया, स्वप्नक्षणात् स्वप्नोत्सवात् उन्नीता प्राप्ता प्रीतिस्तया संतर्पितात्मया प्रीणितात्मया ॥ ५९ ॥

चेतस्तुरंगं तच्चारुविचाराध्वनि धावितम् ।
सा निःप्रत्यूहमित्यूहवल्गया विदधे स्थिरम् ॥ ६० ॥

चेत० सा सुमंगला चेतस्तुरंगं इति ऊहविचारवल्गया निःप्रत्यूहं निर्विघ्नं यथा भवति तथा स्थिरं विदधे । किंलक्षणं

चेतस्तुरंगम् ? तच्चारुविचाराध्वनि तेषां स्वमानां मनोज्ञविचारमार्गधावितं सत्वरं चलितम् ॥ ६० ॥

नाम्ना न केवलं वामा, वामा बुद्धिगुणेष्वपि ।
ऊहे स्फुरन्ति सद्दृष्टिलालसे नालसेक्षणाः ॥ ६१ ॥

नाम्ना० वामा स्त्रियः केवलं नाम्ना न वामा न प्रतिकूला किं तु बुद्धिगुणेष्वपि तु वामाः । अलसेक्षणाः स्त्रियः सद्दृष्टिलालसे प्रशस्यलोचनगोचरे ऊहे विचारे न स्फुरन्ति न समर्था भवन्ति ॥ ६१ ॥

कटीरस्तनभारेण, यासां मन्दः पदक्रमः ।
तासां विचारसामर्थ्यं, स्त्रीणां संगच्छते कथम् ? ॥६२॥

कटी० यासां स्त्रीणां कटीरं कटितटं तस्य स्तनयोश्च भारेण पदक्रमो मन्दो वर्तते, पदश्चरणः पक्षे विभक्त्यंतरं पदं, तासां स्त्रीणां विचारसामर्थ्यं विशेषेण चारो गमनं तस्या समर्थं, पक्षे ऊहशक्तिः कथं सङ्गच्छते, कथं घटते ? ॥ ६२ ॥

स्थूलस्तनस्थलं दृष्ट्वा, हृदयं हरिणीदृशाम् ।
त्रस्यता यानहंसेन, भारती नीयतेऽन्यतः ॥ ६३ ॥

स्थूल० हरिणीदृशां स्त्रीणां स्थूलस्तनस्थलं हृदयं दृष्ट्वा त्रस्यता त्रासं प्राप्नुवता यानहंसेन वाहनराजहंसेन भारती सरस्वती अन्यतः अन्यत्र नीयते । कोऽर्थः ? स्थले राजहंसानां प्रायः स्थितिर्न भवति इति भावः ॥ ६३ ॥

हारेऽनुस्तनवल्मीकं, महाभोगिनि वीक्षिते ।
आसीदति कुलायेच्छुः, स्त्रीणां धीविष्करी कथम् ? ॥६४॥

हारे० धीविष्करी बुद्धिपक्षिणी स्त्रीणां स्तनवल्मीकं अनु-स्तनरूपो कोटनन्तरं, अनु पश्चात् महाभोगिनि, महाना-भोगो विस्तारो यस्य स महाभोगी, तस्मिन् महासर्पे ? या वा एवंविधे हारे वीक्षणे सति कथं आसीदति आसन्ना भवति अपितु नैव,, किंलक्षणा धीविष्करी ? कुलायेच्छुः कुलायं नीडं, पक्षे कुलाय वंशाय निरुपद्रवतां इच्छुः ॥ ६४ ॥

मन्ये मोहमयः सर्गः, स्त्रीषु धात्रा समर्थितः ।
यान्ति यत्तदभिष्वंगा-न्मूढतां तात्त्विका अपि ॥६५॥

मन्ये० अहं एवंविधं मन्ये धात्रा ब्रह्मणा स्त्रीषु मोह-मयः सर्गः सृष्टिः समर्थितः कृतः, यत्तदभिष्वंगात् यत् यस्मात् कारणात् तासां स्त्रीणामासक्तितः तात्त्विका अपि विद्वां-सोऽपि मूढतां यान्ति ॥ ६५ ॥

जातौ नः किल मुख्या श्रीः, सापि गोपालवल्लभा ।
जातं जलात्कलाधार-द्विष्टं शिश्राय पुष्करम् ॥ ६६ ॥

जातौ० नो अस्माकं जातौ या श्रीर्लक्ष्मी मुख्या वर्तते, सापि श्रीगोपालवल्लभा गोपालः पशुपालः कृष्णो वा तस्य वल्लभा पत्नी जलात्पानीयात् जडात् मूर्खाद्वा जातं कलाधार-विद्विष्टं कलाधारश्चन्द्रो विचक्षणो वा तं प्रति द्विष्टं पुष्करं कमलं शिश्राय आश्रितवती ॥ ६६ ॥

बभार भारती ख्यातिं, स्त्रीजातौ विदुषीति या ।
स्वभावभङ्गे न श्रेय, इति साऽभूदभर्तृका ॥ ६७ ॥

बभार० या भारती स्त्रीजातौ विदुषी इति ख्यातिं बभार

धृतवती, स्वभावभङ्गे स्वीयसहजत्यागे न श्रेयः कल्याणं, इति कारणात् सा अभर्तृका भर्तृरहिता बालकुमार्येव अभूत् ॥ ६७ ॥

तज्जगद्गुरुरेवैत-द्विचारं कर्तुमर्हति ।
जात्यरत्नपरीक्षायां, बालाः किमधिकारिणः ॥ ६८ ॥

तज्ज० तत् तस्मात् कारणात् जगद्गुरुः श्रीयुगादीश्वर एवैतद्विचारं एतेषां चतुर्दशानां स्वप्नानां विचारं कर्तुं अर्हति योग्यः स्यात्, जात्यरत्नपरीक्षायां बालाः शिशवः किं अधिकारिणः स्युः, अपि तु नैव ॥ ६८ ॥

अथालसलसद्बाहुलता तल्पं मुमोच सा ।
सौषुप्तिकैरिव प्रीयमाणा क्वणितभूषणैः ॥ ६९ ॥

अथा० अथानन्तरं अलसलसद्बाहुलता आलस्येन प्रसरद्भुजवल्ली सती सा सुमंगला तल्पं शयनीयं मुमोच । किंविशिष्टा सुमंगला ? क्वणितभूषणैः क्वणितैः शब्दितैः भूषणैराभरणैः सौषुप्तिकैरिव सुषुप्तं सुष्ठु सुप्तं पृच्छन्तीति सौषुप्तिकानि तैः सौषु०, प्रीयमाणाः प्रीतिं प्राप्यमानाः ॥ ६९ ॥

अकुर्वती स्वहर्षस्य, सखीरपि विभागिनीः ।
साऽचलच्चलनन्यासै-र्हसन्ती हंसवल्लभाः ॥ ७० ॥

अकु० सा सुमंगला अचलत् । किं कुर्वती ? सखीरपि स्वहर्षस्य विभागिनीरकुर्वती । पुनः किंवि० चलनन्यासैश्चरणमोचनैर्हंसवल्लभा राजहंसीर्हसन्ती ॥ ७० ॥

इच्छन्त्या विजनं याने, तस्या नाऽभवतां प्रिये ।
नूपुरे रूपरेखाया, आरावैः स्तावकैः पदोः ॥ ७१ ॥

इच्छ० तस्याः सुमङ्गलाया नूपुरे प्रिये अभीष्टे नाभवताम् । किं कुर्वत्याः ? याने गमने विजनं एकान्तं इच्छन्त्याः । किंलक्षणे नूपुरे ? आरावैः शब्दैः सुमङ्गलासंबन्धिनोः पदोः चरणयो रूपरेखायाः स्तावकैः स्तुतिकारकैः ॥ ७१ ॥

अकाले मञ्जु सिञ्जाना, मेखला मे खलायितम् ।
अधुनैव विधात्री किमिति सा दध्युषी क्षणम् ॥७२॥

अका० सा सुमङ्गला क्षणं इति दध्युषी ध्यातवती । इतीति किम् ? मे मम मेखला खलायितं दुर्जनाचरितं अधुनैव किं विधात्री करिष्यति ? किं कुर्वाणा मेखला ? अकाले मञ्जु सिञ्जाना मञ्जु मनोज्ञं सिञ्जाना अव्यक्तं शब्दं कुर्वाणा ॥७२॥

मौनं भेजे करस्पर्शसंकेताद्वलयावलिः ।
विदुषीव तदाकूतं, तरसा तत्प्रकोष्ठयोः ॥ ७३ ॥

मौनं० तत्प्रकोष्ठयोस्तस्याः सुमङ्गलायाः प्रकोष्ठयोः कलाचिकयोर्वलयावलिः करस्पर्शसंकेतात् मौनं भेजे । किं कुर्वती वलयावलिः ? तरसा वेगेन तदाकूतं तस्याः सुमङ्गलायाः आकूतं स्वान्ताभिप्रायं विदुषी विज्ञातवती ॥ ७३ ॥

दुर्निमित्तात्क गन्तासीत्यालापादालिजन्मनः ।
भीता मन्दपदन्यासं, साऽभ्यासं भर्तुरासदत् ॥७४॥

दुर्नि० सा सुमङ्गला मन्दपदन्यासं यथा भवति तथा भर्तुः श्रीऋषभदेवस्य अभ्यासं समीपं आसदत् प्राप्ता । किंलक्षणा

सुमङ्गला ? आलिजन्मनः सखीभ्यः समुत्पन्नात् दुर्निमित्तात् अमङ्गलरूपात् क गन्तासि त्वं कुत्र गमिष्यसि इत्यालापात् ईदृग्जल्पात् भीता भयं प्राप्ता । इतीति किम् ? "छीए विभग्गे कहमणिए कंटए य भग्गेय । दिट्ठे सप्पविराले नहि गमणे सुंदरं होइ" ॥ १ ॥ इति वचनात् अपशकुनभयेन सखीनामकथयित्वैव एकाकिनी ययाविति भावः ॥ ७४ ॥

रत्नप्रदीपरुचिसंयमितान्धकारे,
मुक्तावचूलकमनीयवितानभाजि ।
सा तत्र दिव्यभवने भुवनाधिनाथं,
निद्रानिरुद्धनयनद्वयमालुलोके ॥ ७५ ॥

रत्न० सा सुमङ्गला तत्र तस्मिन् दिव्यभवने भुवनाधिनाथं निद्रानिरुद्धनयनद्वयं निद्रया मुद्रितलोचनयुग्मं आलुलोके ददर्श । किंविशिष्टे दिव्यभवने ? रत्नप्रदीपरुचिसंयमितान्धकारे रत्नसत्कप्रदीपानां रुचिभिः कान्तिभिः संयमितं लक्षणया निराकृतं अन्धकारं यत्र तस्मिन् सुप्रकाशे इत्यर्थः । पुनः किंविशिष्टे ? मुक्तावचूलकमनीयवितानभाजि मुक्तावचूलैः मौक्तिकझुम्बनकैः कमनीयान् मनोज्ञान् वितानान् चन्द्रोद्योतान् भजतीति भाक् तस्मिन् ॥ ७५ ॥

पल्यङ्के विशदविकीर्णपुष्पतारे,
व्योम्नीव प्रथिमगुणैकधाम्नि लीनः ।
उत्फुल्लेक्षणकुमुदां मुदा जिनेन्दु-
श्चक्राणः सपदि कुमुद्वतीमिवैनाम् ॥ ७६ ॥

पल्यं० जिनेन्द्रः श्रीऋषभचन्द्रः एनां सुमङ्गलां मुदा हर्षेण कुमुद्वतीं कुमुदिनीमिव चक्राणः कृतवान् । किंविशिष्टो जिनेन्दुः ? पल्यङ्के व्योम्नीव आकाशवत् लीनः सुप्तः । किंलक्षणे पल्यंके ? व्योम्नीव विशदविकीर्णपुष्पतारे, विशदानि निर्मलानि विकीर्णानि विक्षिप्तानि चम्पकशतपत्रविचकिलादिपुष्पाणि तैस्तारे मनोज्ञे, पक्षे विशदविकीर्णपुष्पवत्तारा यत्र तत्र० । पुनः किंलक्षणे ? प्रथिमगुणैकधाम्नि प्रथिमगुणस्य विस्तारगुणस्यैकधाम्नि एकगृहे । किंलक्षणां सुमङ्गलाम् ? उत्फुल्लेक्षणकुमुदाम्, उत्फुल्ले विकस्वरे ईक्षणे लोचने एव कुमुदे यस्याः सा ताम् । कोऽर्थः ? यथा चन्द्रः कुमुदिनीं स्वदर्शनेन विकासयति तथा जिनेन्दुरपि सुमङ्गलां मोदयामासेति भावः ॥ ७६ ॥

तोयाद्रीया इव परिचयान्मुक्तशोषं स्वतन्वाः,
पौष्पं तल्पं प्रति परिमलेनोत्तमर्णीभवन्तम् ।
दृग्भ्यां व्रीडाव्यपगमऋजुस्फारिताभ्यां प्रसुप्तं,
दृष्ट्वा नाथं लवणिमसुधाम्भोनिधिं पिप्रिये सा ॥ ७७॥

तोया० सा देवी सुमङ्गला दृग्भ्यां लोचनाभ्यां नाथं स्वामिनं प्रसुप्तं दृष्ट्वा पिप्रिये प्रीतिं प्राप । किं कुर्वन्तं नाथम् ? पौष्पं तल्पं प्रति पुष्पशय्यां प्रति परिमलेन उत्तमर्णीभवन्तं परिमलदानं कुर्वन्तम् । किंविशिष्टं पौष्पं तल्पम् ? जलक्लिन्नं वस्त्रं तोयार्द्रं उच्यते । तोयाद्रीया इव तोयाद्रीसदृशायाः स्वतन्वा निजशरीरस्य परिचयात् मुक्तशोषं शोषरहितम् । किंलक्षणाभ्यां दृग्भ्याम् ? व्रीडाव्यपगमऋजुस्फारिताभ्यां व्रीडाया लज्जाया-

न्यपगमेन अभावेन ऋजु सरलं यथा भवति तथा स्फारिताभ्यां विस्तारिताभ्याम् । पुनः किंवि० नाथं! लवणिमसुधाम्भोनिधिं लावण्यसुधाया अम्भोनिधिं समुद्रम् ॥ ७७ ॥

इति श्रीअञ्चलगच्छे कविचक्रवर्तिश्रीजयशेखरसूरिविरचिते श्रीजैनकुमारसंभवस्य तच्छिष्यश्रीधर्मशेखरसूरिविरचितायां टीकायां श्रीमाणिक्यसुन्दरसूरिशोधितायां सप्तमसर्गव्याख्या समाप्ता ॥ ७ ॥

अथ अष्टमः सर्गः ।

अथ प्रसन्नप्रभुवक्रवीक्षा-
पीयूषपानोत्सवलीनचेताः ।
विश्रम्य मृद्वी क्षणमंह्रिचार-
जन्मक्लमच्छेदमसौ विवेद ॥ १ ॥

अथ० अथानन्तरं मृद्वी सुकोमला असौ सुमङ्गला क्षणं विश्रम्य अंह्रिचारजन्मक्लमच्छेदं अंह्रिचारजन्मनः चरणसंचरणसमुत्पन्नस्य क्लमस्य श्रमस्य च्छेदं विवेद प्राप । किंलक्षणा सुमङ्गला? प्रसन्नप्रभुवक्रवीक्षापीयूषपानोत्सवलीनचेताः प्रसन्नस्य प्रभोः वक्रस्य वीक्षा अवलोकनमेव पीयूषं अमृतं तस्य पानोत्सवलीनचेतश्चित्तं यस्याः सा प्रस० ॥ १ ॥

ये श्वासवाता वदनादमान्त
इवोद्भवन्ति स्म रवेण तस्याः ।
ते स्वास्थ्यमापत्सत वह्निदिश्य-
वायोर्विरामे जलधेरिवापः ॥ २ ॥

ये० तस्याः सुमङ्गलायाः वदनात् मुखात् ये श्वासवाताः श्वासवायवो रवेण वेगेन अमान्त इवोद्भवन्ति स्म, उद्भवन्तः ते श्वासवाताः स्वास्थ्यं आपत्सत आगताः, का इव ? जलधेः समुद्रस्य आप इव, यथा आपो जलानि वह्निदिश्यवायोराग्नेयकोणपवनस्य विरामे अभावे स्वास्थ्यं आपद्यन्ते ॥ २ ॥

या कृत्रिमा मौक्तिकमण्डनश्री-
रदीयत स्वेदलवैस्तदङ्गे ।
तत्र स्थितौ सा सहसा विलीना,
किं कृत्रिमं खेलति नेतुरग्रे ॥ ३ ॥

या० तदङ्गे तस्याः सुमङ्गलायाः शरीरे स्वेदलवैः प्रस्वेदबिन्दुभिः या कृत्रिमा मौक्तिकश्रीः मुक्तामयी अलंकारलक्ष्मीरदीयत दत्ता । तत्र स्थितौ श्रीयुगादीशदृष्टौ सा मौक्तिकमण्डनश्रीः सहसा विलीना विलयं गता । नेतुः स्वामिनोऽग्रे किं कृत्रिमं खेलति ? अपि तु नैव ॥ ३ ॥

श्लथं विहारेण यदन्तरीय-
दुकूलमासीत्पथि विप्रकीर्णम् ।
सांयात्रिकेणेव धनं नियम्य,
नीवीं तया तद् दृढयाम्बभूवे ॥ ४ ॥

श्लथं० यदन्तरीयदुकूलं यस्याः सुमङ्गलायाः परिधानपट्टकूलं पथि मार्गे श्लथं शिथिलं विप्रकीर्णं विसंस्थुलं आसीत्, तत् दुकूलं तया सुमङ्गलया नीवीं मेखलां नियम्य बद्ध्वा दृढयाम्बभूवे दृढीचक्रे । "ये श्वासवाता इत्यादिकं सुमङ्गलायाः स्तोकचलनेऽप्युक्तम्" । तत् अतिशयालंकारे कवीनां धर्मादुक्तम्,

यथा वाग्भट्टालंकारे 'त्वद्वारितारितरुणीश्वसितानिलेने'त्यादिकेनेव । सांयात्रिकेणेव प्रावहणिकेनेव । यथा सांयात्रिकेण नीर्वी मूलद्रव्यं नियम्य पथि विकीर्णं धनं दृढीक्रियते ॥ ४ ॥

भर्तुः प्रमीलासुखभङ्गभीति-
स्तामेकतो लम्भयति स्म धैर्यम् ।
स्वप्नार्थशुश्रूषणकौतुकं चा-
न्यतस्तरां स्त्रीषु कुतः स्थिरत्वम् ॥ ५ ॥

भर्तुः० भर्तुः श्रीऋषभदेवस्य प्रमीलासुखं निद्रासुखं तस्य भङ्गभीतिरेकतस्तां सुमङ्गलां धैर्यं लम्भयति स्म । च पुनः, स्वप्नार्थशुश्रूषणकौतुकं अन्यतस्तरामौत्सुक्यं प्रापयति स्म । स्त्रीषु स्थिरत्वं स्थैर्यं कुतः स्यात् ? ॥ ५ ॥

क्षोभो भवन्मा स्म सुषुप्तितृप्ते,
नाथेऽत्र तारस्वरया ममोक्त्या ।
मेधाविनी तज्जयजीवनन्दे-
त्युदीरयामास मृदुं गिरं सा ॥ ६ ॥

क्षोभो० तारस्वरया महाशब्दया ममोक्त्या अत्र अस्मिन्नाथे सुषुप्तिः सुखस्वापस्तद्विषये तृप्ते क्षोभो मास्म भवत् । तत् तस्मात् कारणात् सा सुमङ्गला जयजीवनन्देति मृदुं सुकोमलां गिरं उदीरयामास प्रोक्तवती ॥ ६ ॥

चित्रं वधूवक्त्रविधूत्थवल्गु-
वाक्कौमुदीभिः सरसी रराज ।
श्रीसद्मैकप्रतिभूप्रबोध-
लीलोल्लसल्लोचननीरजन्मा ॥ ७ ॥

चित्रं० स भगवान् सरसी रसाढ्यः पक्षे सरसी महासरः चित्रं आश्चर्यं रराज । काभिः ? वधूवक्त्रविधूत्थवल्गुवाक्कौमुदीभिः, वधूः सुमङ्गला तस्या वक्त्रविधूत्थाः मुखचन्द्रसमुत्पन्ना वल्गवः मनोज्ञाः वाचो वाण्यस्ताभिरेव कौमुदीभिः चन्द्रज्योत्स्नाभिः । किंविशिष्टो भगवान् ? श्रीसंगमैकप्रतिभूप्रबोधलीलोल्लसल्लोचननीरजन्मा श्रीर्लक्ष्मीः तस्याः संगमे एकप्रतिभू-समाने प्रबोधलीलया उल्लसन्ती लोचने एव नीरजन्मनी कमले यस्याः सा ॥ ७ ॥

निविष्टवानिष्टकृपः स पूर्व-
कायेन शय्यां सहसा विहाय ।
क्षणं धृतोष्मामिदमङ्गसङ्ग-
भङ्गानुतापादिव देवदेवः ॥ ८ ॥

निवि० इष्टकृपः अभीष्टकरुणः स देवदेवो भगवान् पूर्वकायेन अन्यशरीरेण शय्यां सहसा औत्सुक्येन विहाय मुक्त्वा निविष्टवान् उपविष्टः । किंलक्षणां शय्याम् ? इदमङ्गसङ्गभङ्गानुतापात् अस्य भगवतः अङ्गसङ्गस्य भङ्गस्तत्पश्चात्तापात् क्षणं धृतोष्मामिव धृतसन्तापामित्यर्थः ॥ ८ ॥

पुरःस्थितामप्युषितां हृदन्त-
र्निशि प्रबुद्धामपि पद्मिनीं ताम् ।
अप्यात्तमौनां स्फुरदोष्ठदृष्ट-
जिजल्पिषामैक्षत लोकनाथः ॥ ९ ॥

पुरः० लोकनाथः श्रीयुगादीशः तां सुमङ्गलां ऐक्षत दृष्टवान् । किंविशिष्टां ताम् ? पुरोऽग्रे स्थितामपि हृदयान्तरुषितां हृदय-

मध्ये कृतावासाम् । निशि रात्रौ प्रबुद्धां जागरितामपि पद्मिनीं कमलिनीं पक्षे पद्मिनीं स्त्रीम् । किंवि० ? आत्तमौनामपि गृहीतमौनामपि स्फुरदोष्ठदृष्टजिजल्पिषया स्फुरद्भ्यां ओष्ठाभ्यां दृष्टा जिजल्पिषा जल्पनेच्छा यस्याः सा तां स्फुरदोष्ठ० ॥ ९ ॥

सुमङ्गलां मङ्गलकोटिहेतु-
नेतुर्निदेशस्त्रिदशेशमान्यः ।
निवेशयामास निवेशयोग्ये,
भद्रासने भद्रमुखीमदूरे ॥ १० ॥

सुम० नेतुर्निदेशः श्रीऋषभदेवस्यादेशो भद्रमुखीं कल्याणकृन्मुखीं सुमङ्गलां अदूरे प्रत्यासन्ने निवेशयोग्ये उपवेशनार्हे भद्रासने निवेशयामास, उपवेशयति स्म । किंविशिष्टो निदेशः ? मङ्गलकोटिहेतुर्दधिदूर्वाक्षतचन्दनादिमाङ्गलिककोटेः कारणम्, पुनः किं० ? त्रिदशेशमान्यः सौधर्मेन्द्रादिचतुःषष्टि-देवेन्द्राणां मान्यः ॥ १० ॥

दिगङ्गनाङ्गेषु सिताङ्गराग-
भङ्गीं भजद्भिर्दशनांशुजालैः ।
ज्यौत्स्नीयशो जापयता जिनेन,
तया रजन्या जगदेऽथ जाया ॥ ११ ॥

दिग० अथानन्तरं जिनेन श्रीऋषभेण जाया सुमङ्गला जगदे । दशनांशुजालैः दन्तकिरणसमूहैः तया रजन्या ज्यौत्स्नी पूर्णिमा तस्या यशः कीर्तिः यशो जापयता जयाय प्रयुञ्जता । 'जिंज्रि अभिभवे' जिधातोः कारितान्तस्य प्रयोगः । किं कुर्वद्भिः दशनांशुजालैः ? दिगङ्गनानां दिक्स्त्रीणां अङ्गेषु शरीरेषु

सिताङ्गरागभङ्गीं श्वेतविलेपनविच्छित्तिं भजद्भिः सेवमानैः । कोऽर्थः ? भगवतो दन्तकिरणैः सा रात्रिरुज्ज्वला कृता, तया च पूर्णिमाया यशो निर्जितमिति भावः ॥ ११ ॥

अयानचर्यानुचितक्रमायाः,
कच्चित्तव स्वागतमस्ति देवि ! ।
तनूरबाधा तव तन्वि ! तापो-
त्तीर्णस्य हेम्नो हसितप्रकाशा ॥ १२ ॥

अया० हे देवि ! कच्चित् अभीष्टप्रश्ने तव स्वागतं सुष्ठु शोभनं आगमनं अस्ति विद्यते ? किंविशिष्टाया भव० ? अयानचर्यानुचितक्रमायाः यानरहितगमनायोग्यचरणायाः । हे तन्वि कृशाङ्गि ! तव तनूः शरीरं अबाधा निराबाधा वर्तते ? किंविशिष्टा तनूः ? तापोत्तीर्णस्य अग्नेरात्तमूर्षागतगलितोत्तीर्णस्य हेम्नः सुवर्णस्य हसितप्रकाशा-जितस्वर्णकान्तेरित्यर्थः ॥ १२ ॥

छायेव पार्श्वादपृथग् बभूवान्,
सुखी सदास्ते स सखीजनस्ते ।
प्राप्ताः सुवर्णे परभागमङ्गे,
माणिक्यभूषाः किमुतापदोषाः ॥ १३ ॥

छाये० हे देवि ! स ते तव सखीजनः सदा सुखी आस्ते ? किंलक्षणः सखीजनः ? छाया इव पार्श्वात् समीपात् अपृथग् बभूवान् न पृथग् भूतः । उत अथवाङ्गे शरीरे माणिक्यभूषा रत्नाभरणानि किं अपदोषा निर्दोषा वर्तन्ते ? किंरूपा माणिक्यभूषाः ? सुवर्णे परभागं गुणोत्कर्षं प्राप्ताः ॥ १३ ॥

महानिशायामपि मुक्तनिद्रे,
दिदृक्षया मां किमुपस्थितासि ।
क्षणार्धमुक्तेऽपि चिराय दृष्ट
इव प्रिये धावति येन चेतः ॥ १४ ॥

महा० महानिशायामपि अर्धरात्रेऽपि मुक्तनिद्रे त्वं मां दिदृक्षया विलोकनेच्छया किं उपस्थितासि आगतासि ? येन कारणेन क्षणार्धमुक्तेऽपि प्रिये अभीष्टे चिराय चिरकालदृष्ट इव चेतो धावति ॥ १४ ॥

स्वप्नोपलब्धे मयि मारदूना,
रिरंसया वा किमुपागतासि ।
प्रायोऽबलासु प्रबलत्वमेति,
कन्दर्पवीरो विपरीतवृत्तिः ॥ १५ ॥

स्वप्नो० वा अथवा हे देवि ! मयि स्वप्नोपलब्धे सति स्वप्नमध्ये दृष्टे सति त्वं मारदूना कामपीडिता सती रिरंसया रन्तुमिच्छया किं उपागतासि आयातासि ? विपरीतवृत्तिः कन्दर्पवीरः प्रायो बाहुल्येन अबलासु स्त्रीषु प्रबलत्वं एति गच्छति ॥ १५ ॥

प्रिये प्रयासं विचिकित्सितं वा,
मीमांसितुं किंचिदमुं व्यधास्त्वम् ।
सन्देहशल्यं हि हृदोऽनपोढ-
मामृत्यु मर्त्यस्य महार्तिदायि ॥ १६ ॥

प्रिये० वा अथवा हे प्रिये ! त्वं किंचित् विचिकित्सितं

सन्दिग्धं विचारं मीमांसितुं विचारयितुं अमुं प्रयासं व्यधाः
अकरोः ? हि निश्चितं हृदो हृदयात् सन्देहशल्यं अनपोढं
अनाकृष्टं, मर्त्यस्य मनुष्यस्य आमृत्यु मृत्युं यावत् महार्तेर्महा- ३
दुःखस्य दायि भवति ॥ १६ ॥

चेद्वस्तु संत्रस्तमृगाक्षि मृग्यं,
तवास्ति किंचिद्वद तद्विशङ्कम् । ६
आनाकमानागगृहं दुरापं,
प्रायो न मे नम्रसुरासुरस्य ॥ १७ ॥

चेद्व० संत्रस्तमृगस्य अक्षिणी इव अक्षिणी यस्यास्तस्याः ९
संबोधनं क्रियते हे संत्रस्तमृगाक्षि ! चेत् यदि मृग्यं मार्गणीयं
वस्तु किंचित्तवास्ति तद्विशङ्कं निःशङ्कं ब्रूहि, । प्रायो बाहुल्येन
नम्रसुरासुरस्य मे मम आनाकं स्वर्गं यावत्, आनागगृहं १२
पातालं यावत्, न दुरापं न दुःप्रापम् ॥ १७ ॥

विश्वप्रभोर्वाचममुं सखण्ड-
पीयूषपाङ्क्तेयरसां निपीय । १५
प्राप्ता प्रमोदं वचनाध्वपारं,
प्रारब्ध वक्तुं वनितेश्वरी सा ॥ १८ ॥

विश्व० सा वनितेश्वरी वनितानां स्त्रीणां ईश्वरी सुमङ्गला १८
वक्तुं जल्पितुं प्रारब्ध प्रारभतेस्म । किंविशिष्टा वनितेश्वरी ?
वचनाध्वपारं वाग्गोचरातीतं प्रमोदं प्राप्ता ? किं कृत्वा ?
विश्वप्रभोः श्रीऋषभदेवस्य अमुं वाचं निपीय पीत्वा ।
किंविशिष्टां वाचम् ? सखण्डपीयूषपाङ्क्तेयरसां खण्डसहितं २२

पीयूषं अभिनवं पयस्तस्य पाङ्क्तेयः पङ्क्तिगतो रसो यस्याः सा ताम् ॥ १८ ॥

पातुस्त्रिलोकं विदुषस्त्रिकालं,
त्रिज्ञानतेजो दधतः सहोत्थम् ।
स्वामिन्न तेऽवैमि किमप्यलक्ष्यं,
प्रश्नस्त्वयं स्नेहलतैकहेतुः ॥ १९ ॥

पातु० हे स्वामिन् ! अहं ते तव किमपि अलक्ष्यं अज्ञेयं न अवैमि न जाने । त्रीण्यपि विशेषणानि भगवतो ज्ञेयानि । किंविशिष्टस्य तव ? त्रिलोकं पातुस्त्रिभुवनं रक्षतः, त्रिकालं-विदुषः अतीतानागतवर्तमानकालान् ज्ञातवतः, सहोत्थं त्रिज्ञानतेजो मतिश्रुतावधिज्ञानसत्कं तेजो दधतः बिभ्रतः । तु पुनरयं प्रश्नः स्नेहलतैकहेतुः स्नेहलतायाः स्नेहवार्ताया एकहेतुर्वर्तते ॥ १९ ॥

निध्यायतस्ते जगदेकबुद्ध्या,
मय्यस्ति कोऽपि प्रणयप्रकर्षः ।
भृशायते चूतलताविलासे,
साधारणः सर्ववने वसन्तः ॥ २० ॥

निध्या० हे स्वामिन् ! ते तव जगत् विश्वं एकबुद्ध्या निध्यायतः पश्यतः सतो मयि विषये कोऽप्यपूर्वः प्रणयप्रकर्षः स्नेहसमूहोऽस्ति । वसन्तः सर्ववने साधारणः सदृशो वर्तते, परं चूतलता सहकारवल्ली तस्या विलासे भृशायते अधिकः स्यात् ॥ २० ॥

न नाकनाथा अपि यं नुवन्तो,
वहन्ति गर्वं विबुधेशतायाः ।

वक्तुं पुरस्तस्य तव क्षमेऽह-
महो महासुर्महिलासु मोहः ॥ २१ ॥

न० हे नाथ! नाकनाथा अपि इन्द्रा अपि यं त्वां नुवानाः स्तुवन्तः सन्तो विबुधेशता देवेशत्वं पक्षे विद्वदीशत्वं। तस्या गर्वं अभिमानं न वहन्ति, तस्य तव पुरोऽग्रे अहं वक्तुं जल्पितुं क्षमा शक्नोमि, अहो इत्याश्चर्ये महिलासु स्त्रीषु मोहो महासुर्महाप्राणो वर्तते ॥ २१ ॥

स्त्रीमात्रमेषास्मि तव प्रसादा-
देवादिदेवाधिगता गुरुत्वम्।
राज्ञो हृदि क्रीडति किं न मुक्ता-
कलापसंसर्गमुपेत्य तन्तुः ॥ २२ ॥

स्त्री० हे आदिदेव! एषा अहं स्त्रीमात्रं तव प्रसादादेव गुरुत्वं अधिगता प्राप्तास्मि, तन्तुर्मुक्ताकलापसंसर्गं उपेत्य प्राप्य राज्ञो हृदि किं न क्रीडति, अपि तु क्रीडत्येव ॥ २२ ॥

मां मानवीं दानववैरिवध्वो,
याचन्ति यत्प्राञ्जलयोऽङ्गदास्यम्।
सोऽयं प्रभावो भवतो न धेयं,
भस्मापि भाले किमु मन्त्रपूतम् ॥ २३ ॥

मां० दानववैरिवध्वो देवाङ्गनाः प्राञ्जलयो योजिताञ्जलयः सत्यो मां मानवीमपि यत् अङ्गदास्यं अङ्गस्य शरीरस्य दास्यं याचन्ति, सोऽयं भवतस्तव प्रभावो वर्तते। भस्मापि रक्षापि मन्त्रपूतं सत् भाले ललाटे किं न धेयं? अपि तु धार्यमेव ॥२३॥

त्वत्संगमात्संगमितेन दिव्य-
पुष्पैर्मदङ्गेन विदूरितानि ।
३ वैराग्यरङ्गादिव पार्थिवानि,
वनेषु पुष्पाण्युपयान्ति वासम् ॥ २४ ॥

त्वत्सं० हे नाथ ! पार्थिवानि पृथिव्यां जातानि पुष्पाणि
६ वैराग्यरङ्गादिव वनेषु वासं उपयान्ति । किंविशिष्टानि
पुष्पाणि ? त्वत्संगमात् दिव्यपुष्पैः संगमितेन मिलितेन मदङ्गेन
विदूरितानि दूरीकृतानि ॥ २४ ॥

९ अङ्गेषु मे देववधूपनीत-
दिव्याङ्गरागेषु निराश्रयेण ।
नाथानुतापादिव चन्दनेन,
१२ भुजङ्गभोग्या स्वतनुर्वितेने ॥ २५ ॥

अङ्गे० हे नाथ ! चन्दनेन स्वतनुरात्मीयशरीरं भुजङ्ग-
भोग्या सर्पवेष्टिता वितेने कृता । उत्प्रेक्ष्यते—अनुतापादिव पश्चा-
१५ त्तापादिव । किंविशिष्टेन चन्दनेन ? मे मम अङ्गेषु निराश्रयेण
आश्रयरहितेन । किंविशिष्टेषु अङ्गेषु ? देववधूपनीतदिव्याङ्ग-
रागेषु देवाङ्गनाढौकितदिव्यविलेपनेषु ॥ २५ ॥

१८ स्वर्भूषणैरेव मदङ्गशोभां,
संभावयन्तीष्वमराङ्गनासु ।
रोषादिवान्तर्दहनं प्रविश्य,
द्रवीभवत्येव भुवः सुवर्णम् ॥ २६ ॥

२२ स्वर्भू० हे नाथ ! भुवः पृथिव्याः सुवर्णं अन्तर्दहनं दहनस्य

मध्ये प्रविश्य रोषादिव द्रवीभवति, गलत्येव । कासु सतीषु ? अमराङ्गनासु देवाङ्गनासु स्वर्भूषणैरेव स्वर्गसत्काभरणैरेव मदङ्गशोभां संभावयन्तीषु कुर्वन्तीषु सतीषु ॥ २६ ॥

पयः प्रभो ! नित्यममर्त्यधेनोः,
श्रीकोशतो दिव्यदुकूलमाला ।
पुष्पं फलं चामरभूरुहेभ्यः,
सदैव देवैरुपनीयते मे ॥ २७ ॥

पयः० हे प्रभो हे स्वामिन् ! देवैर्नित्यं निरन्तरं अमर्त्यधेनोः पयो दुग्धम्, श्रीकोशतः श्रियो लक्ष्म्याः कोशः श्रीकोशः तस्माद्दिव्यदुकूलमाला, च अन्यत्, अमरभूरुहेभ्यः कल्पवृक्षेभ्यः पुष्पं फलं सदैव मे मम उपनीयते ढौक्यते ॥ २७ ॥

भोगेषु मानव्यपि मानवीनां,
स्वामिन्न बध्नामि कदाचिदास्थाम् ।
अहं त्वदीयेत्यनिशं सुरीभिः,
स्वर्भोगभङ्गीष्वभिकीकृताङ्गी ॥ २८ ॥

भोगे० हे स्वामिन् ! अहं मानवी मनुष्यमात्रापि मानवीनां भोगेषु कदाचिदास्थां न बध्नामि । अहं त्वदीया त्वत्सत्का इति कारणात्, सुरीभिर्देवाङ्गनाभिरनिशं निरन्तरं स्वर्भोगभङ्गीषु देवलोकसत्कभोगविच्छित्तिषु अभिकीकृताङ्गी कामुकीकृतशरीरा वर्त्ते ॥ २८ ॥

अन्यैरनीषल्लभमेति वस्तु,
यदा यदासेवनकं मनो मे ।

तदा तदाकृष्टमिवैत्यदूरा-
दपि प्रमोदं दिशति त्वयीशे ॥ २९ ॥

अन्यै० हे नाथ ! यदा यस्मिन्नवसरे मे मम मनः यत् आसेवनकं नयनानन्दकारि वस्तु एति गच्छति । किंलक्षणं वस्तु ? अन्यैरनीषल्लभं दुःप्रापम् । तद्वस्तु त्वयि ईशे समर्थे सति तदा तस्मिन्नवसरे दूरादपि आकृष्टमिव एत्य आगत्य मे मम मनः प्रमोदं दिशति ददाति ॥ २९ ॥

प्रमार्ष्टि गेहाग्रमृभुर्नभस्वान्,
पिपर्ति कुम्भान् सुरसिन्धुरद्भिः ।
भक्ष्यस्य चोपस्कुरुतेंऽशुमाली-
दास्योपि नेशे त्वयि दुर्विधा मे ॥ ३० ॥

प्रमा० हे नाथ ! त्वयि ईशे सति मे मम दास्योऽपि न दुर्विधा न दुःस्था न दुःकर्मकार्यो वर्तन्ते । नभस्वान् ऋभुर्वायुदेवता मे मम गेहाग्रं गृहाङ्गणं प्रमार्ष्टि तृणकाष्ठकचवरादि परत्र करोति । सुरसिन्धुः गङ्गा अद्भिः पानीयैः कुम्भान् पिपर्ति पूरयति । च पुनरंशुमाली सूर्यः भक्ष्यस्योपस्कुरुते शालिसूपपक्वान्नघृतादिभोज्यं संस्करोति । भक्ष्यस्योत्पन्ना षष्ठी-करोतेः प्रतियत्ने इति सूत्रेण ज्ञेया ॥ ३० ॥

त्रातस्त्वयि त्राणपरे त्रिधापि,
दुःखं न मश्नाति मुदं मदीयाम् ।
यं हेतुमायासिषमत्र माया-
मुक्तं ब्रुवे तच्छृणु सावधानः ॥ ३१ ॥

त्रात० हे त्रातः ! हे रक्षक ! त्वयि त्राणपरे रक्षणतत्परे सति त्रिधाऽपि आध्यात्मिकाधिभौताधिदैविकभेदं त्रिविधं वाग्मनोऽङ्गैश्च कृतं देवमानुषतिर्यक्कृतं वा दुःखं मदीयं मुदं हर्षं न मथ्नाति नास्फेटयति । यं हेतुं येन हेतुना अहमत्रायासिषं आयाम् तत् अहं मायामुक्तं कपटरहितं ब्रुवे, त्वं सावधानः शृणु ॥ ३१ ॥

क्रियां समग्रामवसाय सायं-
तनीमनीषद्धृतिरत्र रात्रौ ।
अशिश्रियं श्रीजितदिव्यशिल्पं,
तल्पं स्ववासौकसि विश्वनाथ ! ॥ ३२ ॥

क्रियां० हे विश्वनाथ ! अहं सायंतनीं संध्यासंबन्धिनीं समग्रां क्रियां अवसाय समाप्य अत्र रात्रौ स्ववासौकसि आत्मीयवासभवने, तल्पं शयनीयं अशिश्रियं आश्रितवती, किंविशिष्टं तल्पम् ? श्रीजितदिव्यशिल्पं श्रिया शोभया जितं दिव्यं शिल्पं विज्ञानं येन तत् श्रीजित० । किंलक्षणाऽहम् ? अनीषद्धृतिर्बहुसमाधियुक्ता ॥ ३२ ॥

त्वन्नाममन्त्राहितदेहरक्षा
निद्रां स्वकालप्रभवामवाप्य ।
स्वप्नानिभोक्षप्रमुखानदर्शं,
चतुर्दशादर्शमुख ! क्रमेण ॥ ३३ ॥

त्वन्ना० हे आदर्शमुख ! आदर्शो दर्पणः माङ्गल्यकरत्वात् तत्सदृशं मुखं यस्य स तस्य संबोधने । अहं त्वन्नाममन्त्राहित-

देहरक्षा त्वदीयनाममन्त्रेण कृतशरीररक्षा सती स्वकालप्रभवां आत्मीयकालोत्पन्नां निद्रां क्रमेण अवाप्य प्राप्य, इभो गज-उक्षा वृषभस्तत्प्रमुखान् चतुर्दश स्वप्नानदर्शं दृष्टवती ॥ ३३ ॥

ततोऽत्यभीष्टामपि सर्वसार-
स्वप्नौघसंदर्शनया कृतार्थाम् ।
विसृज्य निद्रां चतुराञ्चित ! त्वां
तत्त्वार्थमीमांसिषया गतास्मि ॥ ३४ ॥

ततो० हे चतुराञ्चित हे विद्वत्पूजित ! ततोऽनन्तरं अहं अभीष्टामपि निद्रां विसृज्य त्यक्त्वा तत्त्वार्थमीमांसिषया विचारणेच्छया त्वां त्वत्समीपमागताऽस्मि, किंलक्षणां निद्राम् ? सर्वसारस्वप्नौघसंदर्शनया सर्वप्रशस्यस्वप्नसमूहदर्शनेन कृतार्थाम् ॥ ३४ ॥

वस्त्वाकृषन्तीं भवतः प्रसाद-
संदंशकेनापि दविष्ठमिष्टम् ।
न कोऽपि दुःप्रापपदार्थलोभ-
जन्माऽभजन्मा भगवंस्तदाधिः ॥ ३५ ॥

वस्त्वा० हे भगवन् ! कोऽपि दुःप्रापपदार्थलोभजन्मा दुःप्रापस्य प्राप्तुमशक्यपदार्थस्य वस्तुनो लोभजन्मा वस्तुलोभोत्पन्नः आधिरसमाधिस्तदा तस्मिन्नवसरे मा मां न अभजत् । किं कुर्वन्तीं माम् ? भवतः प्रसादसंदंशकेन तव प्रसादरूपसंदंशकेन दविष्ठमपि, इष्टं अभीष्टं वस्तु आकृषन्तीं आकृष्यानयन्तीम् ॥ ३५ ॥

आकूतमक्षिभ्रुवचेष्टयैव,
हार्दं विबुद्ध्याखिलकर्मकारी।
न स्वैरचारीति परिच्छदोऽपि,
मनो दुनोति स तदा मदीयम् ॥ ३६ ॥

आकू० हे नाथ! तदा तस्मिन्नवसरे परिच्छदोऽपि परिवारोऽपि स्वैरचारी स्वच्छन्दचारी, इति कारणात् मदीयं मनो न दुनोति स, किंलक्षणः परिच्छदः? अक्षिभ्रुवचेष्टयैव दृष्टिभ्रुववालनयैव हार्दं हृदयसंबन्धि आकूतं अभिप्रायं विबुध्य ज्ञात्वा अखिलकर्मकारी समस्तकार्यकृत् ॥ ३६ ॥

अपि द्वितीयाद्वितये विभज्य,
चित्तं च वित्तं च समं समीचा।
त्वया न सापत्न्यभवोऽभिभूति-
लवोऽपि मेऽदत्त तदानुतापम् ॥ ३७ ॥

अपि० हे नाथ! तदा तस्मिन्नवसरे सापत्न्यभवः सपत्न्या उत्पन्नो अभिभूतिलवोऽपि पराभवलेशोऽपि मे मम अनुतापं विषादं न अदत्त। केन हेतुना? त्वया द्वितीयाद्वितयेऽपि कलत्रद्विकेऽपि चित्तं च पुनर्वित्तं समं समकालं विभज्य विभागीकृत्य समीचा सम्यग् अञ्चता "अञ्चौ गतौ च" समञ्चतीति क्विपि लोपे "सहसमः सध्रिसमी" सम्यक् वर्तमानेन ॥ ३७ ॥

आसीन्न मे वर्ष्मणि मारुतादि-
प्रकोपतः कोऽपि तदा विकारः।
त्वयि प्रसन्ने न हि लब्धबाधा,
मिथः पुमर्था इव धातवोऽपि ॥ ३८ ॥

आसी० हे नाथ ! तदा तस्मिन्नवसरे मे मम वर्ष्मणि शरीरे मारुतादिप्रकोपतः कोऽपि विकारो न आसीत् न अभूत् । त्वयि प्रसन्ने धातवोऽपि पुमर्था इव मिथः परस्परं न हि लब्धबाधा लब्धपीडा वर्तन्ते ॥ ३८ ॥

गदा वपुःकुम्भगदाभिघाता,
नासंस्तदा त्वन्निगदागदाख्या ।
अजातशत्रुं पतिमाश्रिताया-
स्त्वां मे कुतः संभव एव भीतेः ॥ ३९ ॥

गदा० हे नाथ ! गदा वातपित्तश्लेष्मरूपा रोगा मम तदा तस्मिन्नवसरे त्वन्निगदागदाख्या तव निगदो नाम स एव अगद औषधं तस्याख्या लाभेन न आसन् । किंविशिष्टा गदाः ? वपुःकुम्भगदाभिघाता शरीररूपकुम्भस्य गदासत्कप्रहारसदृशाः, अजातशत्रुं गतवैरिणं त्वां पतिं भर्तारं आश्रिताया मे मम भीतेर्भयस्य संभव उत्पत्तिरेव कुतः स्यात् ? अपि तु न कुतोऽपि ॥ ३९ ॥

एवं सुखास्वादरसैर्जितायां,
मनस्तनुक्लेशविवर्जितायाम् ।
स्वप्नैर्बभूवे मयि यैस्तदर्थ-
मीमांसया मांसलय प्रमोदम् ॥ ४० ॥

एवं० हे नाथ ! यैः स्वप्नैर्मयि बभूवे तदर्थमीमांसया तेषामर्थस्य विचारणया हर्षं मयि विषये मांसलय पोषय । किंविशिष्टायां मयि ? एवं सुखास्वादरसैर्जितायां एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सुसुखस्यास्वादरसेन बलिष्ठायां, पुनः किंविशिष्टायां ?

मनस्तनुक्लेशविवर्जितायां मानसिकशारीरिकक्लेशरहितायाम् ॥ ४० ॥

सूक्ष्मेषु भावेषु विचारणायां,
मेधा न मे धावति बालिशायाः ।
त्वमेव सर्वज्ञ ! ततः प्रमाणं,
रात्रौ गृहालोक इव प्रदीपः ॥ ४१ ॥

सूक्ष्म० हे नाथ ! बालिशाया मूर्खाया मे मम मेधा बुद्धिः सूक्ष्मेषु भावेषु विचारणायां न धावति, हे सर्वज्ञ ! ततू तस्मात् कारणात् त्वमेव प्रमाणम् । क इव ? प्रदीप इव । यथा प्रदीपो रात्रौ गृहालोके प्रमाणं स्यात् ॥ ४१ ॥

यद्दीपगौरद्युतिभास्कराणां,
प्रकाशभासामपि दुर्व्यपोहम् ।
हार्दं तमस्तत्क्षणतः क्षिणोति,
वाग्ब्रह्मतेजस्तव तन्वपीश ! ॥ ४२ ॥

यद्दी० यत् दीपगौरद्युतिभास्कराणां प्रदीपचन्द्रसूर्याणां प्रकाशभासामपि प्रकटतेजसामपि हार्दं हृदयसंबन्धि तमोऽन्धकारं दुर्व्यपोहं दुःखस्फेटनीयं वर्तते, हे ईश स्वामिन् ! तत् हार्दं तमः तव वाग्ब्रह्मतेजः वचनज्ञानसत्कं तेजस्तन्वपि सूक्ष्ममपि क्षणतः क्षणादेव क्षिणोति क्षयं नयति ॥ ४२ ॥

यत्र क्वचिद्वस्तुनि संशयानाः,
स्मरन्ति यस्य त्रिदशेशितारः ।
तत्रान्तिकस्थे त्वयि शास्त्रदृश्वा
मानार्ह ! नार्हत्यपरोऽनुयोक्तुम् ॥ ४३ ॥

यत्र० हे मानार्ह माननीय! यत्र क्वचिद् वस्तुनि यस्मिन् कस्मिंश्चिद् अर्थे संशयानाः सन्देहं कुर्वाणाः त्रिदशेशितारः सुरेन्द्रा अपि यस्य स्मरन्ति यं स्मरन्ति, 'स्मृत्यर्थदयेशः' (२-२-११ सि० हे०) इत्यनेन स्मृत्यर्थानां व्याप्यस्य वा कर्मत्वमिति पक्षे 'शेषे' (२-२-८१) इत्यनेन षष्ठी, तत्र त्वयि अन्तिकस्थे तस्मिन् त्वयि समीपस्थे सति अपरः शास्त्रदृश्वा अन्यः समयज्ञः अनुयोक्तुं प्रश्नयितुं न अर्हति । मम भवन्तं विनाऽन्यः प्रष्टुं न योग्य इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

दृक्कर्मघातीनि तमांसि हत्वा,
गोभिर्बभूवान् भुवि कर्मसाक्षी ।
इदं हृदंतर्मम दीप्रदेह !,
संदेहरक्षः स्फुरदेव रक्ष ॥ ४४ ॥

दृक्० हे दीप्रदेह देदीप्यमानशरीर! त्वं इदं संदेहरक्षो राक्षसं मम हृदन्तः हृदयमध्ये स्फुरत् प्रसरदेव रक्ष । किंविशिष्टस्त्वं । गोभिर्वाचोभिः किरणैर्वा दृक्कर्मघातीनि तमांसि दृष्टिः ज्ञानक्रिया दर्शनक्रिया वा तस्याः घातीनि विनाशकानि तमांसि पापानि अन्धकाराणि वा, हत्वा भुवि पृथिव्यां कर्मसाक्षी कर्मणां साक्षी, पक्षे कर्मसाक्षी सूर्यो बभूवान् जातः ॥ ४४ ॥

अतीन्द्रियज्ञाननिधेस्तवेश,
क्लेशाय नायं घटते विचारः ।
भक्तुं महाशैलतटीं घटीय-
द्वज्रं किमायस्य तृणं तृणेढि ॥ ४५ ॥

अती० हे ईश ! अयं विचारस्तव क्लेशाय न घटते, किंविशिष्टस्य तव? अतीन्द्रियज्ञाननिधेः, इन्द्रियातीतज्ञानानि-

घानस्य । महाशैलतटीं महापर्वततटं भङ्क्तुं भेत्तुं घटीयत् घटमिव आचरत् वज्रं किं आयस्योपक्रम्य तृणं तृणेढि च्छिनत्ति? अपि तु आयसं विनैव ॥ ४५ ॥

उद्भूतकौतूहलया रयेणा-
जागर्यथास्तन्मयि मास्म कुप्यः ।
कालातिपातं हि सहेत नेत-
र्न कौतुकावेशवशस्त्वरीव ॥ ४६ ॥

उद्भू० हे नाथ! रयेण वेगेन मया उद्भूतकौतूहलया उत्पन्नकौतुकया त्वं अजागर्यथाः जागरितः, तन्मयि विषये मास्म कुप्यः कोपं मा कार्षीः, हे नेतः स्वामिन्! कौतुकावेशवशः कौतुकाक्षिप्तः पुमान् त्वरीव उत्सुक इव कालातिपातं विलम्बं हि निश्चितं न सहेत ॥ ४६ ॥

श्रुत्वा प्रियालापमिति प्रियायाः,
प्रीतिं जगन्वान् जगदेकदेवः ।
वाचं मृदुस्वादुतया सुधाब्धि-
गर्भादिवाप्तप्रभवामुवाच ॥ ४७ ॥

श्रुत्वा० जगदेकदेवः श्रीयुगादीशो वाचं उवाच । किंविशिष्टां वाचं? मृदुस्वादुतया सुधाब्धिगर्भात् अमृतसमुद्रमध्यात् आप्तप्रभवां प्राप्तोत्पत्तिमिव; किंलक्षणो जगदेकदेवः? प्रियायाः सुमङ्गलायाः इति प्रियालापं अभीष्टवचनं श्रुत्वा प्रीतिं जगन्वान् प्राप्तवान्। गम्धातोः क्वसुप्रत्यये द्विर्वचने गस्य जत्वे 'मोनोर्धातोश्च' इति सूत्रेण मस्य नत्वे सिविभक्तौ जगन्वानिति सिद्धम् ॥४७॥

प्रिये! किमेतज्जगदे मदेका-
त्मया त्वया हन्त तटस्थयेव ।

त्वदुक्तिपानोत्सव एव निद्रा-
भङ्गस्य मे दास्यति वैमनस्यम् ॥ ४८ ॥

प्रिये० हे प्रिये! हन्त इति वितर्के, त्वया तटस्थया समीपस्थया इव किमेतत् जगदे प्रोक्तम्? किंविशिष्टया त्वया? मदेकात्मया मया सह एक आत्मा यस्याः सा मदे०, हे प्रिये! त्वदुक्तिपानोत्सवः त्वदीयवचनस्य पानस्योत्सव एव मे मम निद्राभङ्गस्य वैमनस्यं मनोव्यथां दास्यति स्फेटयिष्यति ॥४८॥

निद्रा तमोमय्यपि किं विगेया,
सुखप्रदानात् परमोपकर्त्री।
जाये! जगज्जीवनदातुरब्दा-
गमस्य को निन्दति पङ्किलत्वम् ॥ ४९ ॥

निद्रा० हे जाये हे प्रिये! तमोमय्यपि निद्रा किं विगेया निन्द्या स्यात्? अपि तु न, किंलक्षणा निद्रा? सुखप्रदानात् परमोपकर्त्री शोभनस्वप्नदानतः परोपकारकारिणी। जगज्जीवनदायकस्य अब्दागमस्य वर्षाकालस्य पङ्किलत्वं कर्दमयुक्तत्वं को निन्दति? अपि तु न कोऽपि ॥ ४९ ॥

भद्रङ्करी निर्भरसेवनेन,
निद्राह्वया काचन देवतेयम्।
दूरस्थितं वस्तु निरस्तनेत्रा-
नप्यङ्गिनो ग्राहयते यदीहा ॥ ५० ॥

भद्रं० हे प्रिये! इयं निद्राह्वया निद्रानाम्नी काचन देवता निर्भरसेवनेन भद्रङ्करी सुखकरी वर्तते। यदीहा यस्या निद्राया ईहा इच्छा यदीहा निरस्तनेत्रानपि निरस्तलोचनव्यापारानपि अङ्गिनः प्राणिनः दूरस्थितं वस्तु ग्राहयते।

अन्यापि देवता मनसोऽप्यगोचरं वस्तु यतस्ततोऽप्यानीय भक्तस्य दत्त इति ॥ ५० ॥

श्रोतांसि संगोप्य जडानि चेतः,
सचेतनं साक्षि रहो विधाय ।
संदर्शयन्ती नवसारभावा-
न्निद्रा धुरं छेकधियां दधाति ॥ ५१ ॥

श्रोतां० हे प्रिये ! निद्रा छेकधियां धुरं चतुरबुद्धीनां भारं दधाति धरति । किं कुर्वती निद्रा ? जडानि अज्ञानानि श्रोतांसि इन्द्रियाणि संगोप्य आज्ञापयित्वा रह एकान्ते चेतश्चित्तं सचेतनं साक्षि विधाय कृत्वा नवसारभावान् संदर्शयन्ती ॥ ५१ ॥

एकात्मनोर्नौ परिमुञ्चती मां,
सुस्वप्नसर्वस्वमदत्त तुभ्यम् ।
निद्रा ननु स्त्रीप्रकृतिः करोति,
को वा स्वजातौ न हि पक्षपातम् ॥ ५२ ॥

एका० निद्रा ननु निश्चितं स्त्रीप्रकृतिः तुभ्यं स्वप्नसर्वस्वं अदत्त । किं कुर्वती ? एकात्मनोर्नौ आवामपि मां परिमुञ्चती । वा प्रवाहि । निश्चितं—स्वजातौ पक्षपातं को न करोति ? अपि तु सर्वः करोति ॥ ५२ ॥

दुर्घोषलालाश्रुतिदन्तघर्षा-
दिकं विकर्माप्यत निद्रया यैः ।
स्वप्नव्रजे श्रोत्रपथातिथौ ते,
ते खेदतः स्वं खलु निन्दितारः ॥ ५३ ॥

दुर्घो० यैः पुरुषैः निद्रया दुर्घोषलालाश्रुतिदन्तघर्षादिकं विकर्म दुर्घोषो रौद्रस्वरेण पूत्करणं लालायाः श्रावः दन्तानां घर्षणं इत्यादि कुचिन्हानि आप्यत प्राप्यते स्म, ते पुरुषास्ते तव स्वप्नव्रजे स्वप्नसमूहे श्रोत्रपथातिथौ कर्णमार्गनिधौ एतावता श्रुते सति खलु निश्चितं स्वं आत्मानं निन्दितारो निन्दिष्यन्ति ॥ ५३ ॥

आदौ विरामे च फलानि कल्प-
वल्लेरिव स्वादुविपाकभाजः ।
नेमाननेमानपि नीरजाक्षि !
स्वप्नान् दृशः कर्म करोत्यपुण्या ॥ ५४ ॥

आदौ० हे नीरजाक्षि कमललोचने ! अपुण्या पुण्यरहिता स्त्री इमान् चतुर्दशस्वप्नान् अनेमानपि अर्धरहितानपि दृशः कर्म न करोति न पश्यतीत्यर्थः, किंविशिष्टान् इमान् ? आदौ प्रथमं चान्यत् विरामे प्रान्ते कल्पवल्लेः फलानीव स्वादुविपाकभाजः ॥ ५४ ॥

निशम्य सम्यक् फलदानशौण्डान्,
स्वप्नानिमांस्ते वदनादिदानीम् ।
दक्षे ! ममोल्लासमियर्ति वक्षः,
किं स्थानदानाय मुदां भराणाम् ॥ ५५ ॥

निश० हे दक्षे विचक्षणे ! मम वक्षो हृदयं इदानीमधुना ते तव वदनात् मुखात् सम्यक् फलदाने शौण्डान् समर्थान् इमान् चतुर्दशापि स्वप्नान् निशम्य श्रुत्वा मुदां भराणां हर्ष-

समूहानां स्थानदानाय स्थितिकारणाय किं उल्लासं विस्तारं इयर्ति याति ? ॥ ५५ ॥

आनन्दमाकन्दतरौ हृदाल-
वाले त्वदुक्तामृतसेकपुष्टे ।
रक्षावृतिं सूत्रयितुं किमङ्ग !,
ममाङ्गमुत्कण्टकतां दधाति ॥ ५६ ॥

आनं० अङ्ग इति कोमलामन्त्रणे, हे सुमङ्गले ! ममाङ्गं मदीयं शरीरं किं उत्कण्टकतां उद्गतरोमाञ्चत्वं ऊर्ध्वकण्टकत्वं वा दधाति ? किं कर्तुं ? मम हृदालवाले हृदयरूपस्थानके आनन्दमाकन्दतरौ हर्षसहकारवृक्षे त्वदुक्तामृतसेकपुष्टे त्वदीयवचनामृतसिञ्चनेन प्रौढे सति रक्षावृतिं सूत्रयितुं रक्षायै कण्टकसत्कवृतिं कर्तुम् ॥ ५६ ॥

श्रुत्योः सुधापारणकं त्वदुक्त्या,
मत्वा मनोहत्य समीपवासात् ।
पिण्डोललोले इव चक्षुषी मे,
प्रसृत्य तत्संनिधिमाश्रयेते ॥ ५७ ॥

श्रुत्यो० हे प्रिये ! त्वदुक्त्या त्वदीयवचनेन श्रुत्योः कर्णयोः मनोहत्य मनस्तृप्तिं यावत्, सुधापारणकं अमृताशनं मत्वा ज्ञात्वा मे मम चक्षुषी लोचने न तत्संनिधिं तयोः कर्णयोः समीपं न आश्रयेते, किंविशिष्टे चक्षुषी ? समीपवासात् प्रत्यासन्नवासतः पिण्डोललोले इव पिण्डोलं भुक्तशेषं तत्र लोले लोलुपे ॥ ५७ ॥

एकस्वरूपैरपि मत्प्रमोद-
तरोः प्ररोहाय नवाम्बुदत्वम् ।
स्वप्नैरमीभिः कुतुकं खलाशा-
वल्लीविनाशाय दवत्वमीये ॥ ५८ ॥

एक० एकस्वरूपैरपि अमीभिः स्वप्नैः कुतुकं आश्चर्यं मत्प्रमोदतरोः हर्षवृक्षस्य प्ररोहाय अङ्कुराय नवाम्बुदत्वं नवीनमेघसादृश्यं, खलाशा दुर्जनमनोरथरूपवल्ली तस्या विनाशाय दवत्वं दवानलत्वं ईये प्राप्तम् ॥ ५८ ॥

नैषां फलोक्तावविचार्य युक्त-
माचार्यकं कर्तुमहो ममापि ।
महामतीनामपि मोहनाय,
छद्मस्थतेयं प्रबलप्रमीला ॥ ५९ ॥

नैषां० अहो इति आश्चर्ये, एषां स्वप्नानां फलोक्तौ अविचार्य अविमृश्य ममापि आचार्यकं आचार्यकर्म कर्तुं न युक्तम् । इयं छद्मस्थता प्रबलप्रमीला सबलनिद्रा महामतीनामपि विचक्षणानामपि मोहनाय वर्त्तते ॥ ५९ ॥

यावद् घनाभं घनघातिकर्म-
चतुष्कमात्मार्यमणं स्तृणाति ।
तावत्तमश्छन्नतया विचारे,
स्फुरन्न चेतोऽश्नाति जाड्यिकत्वम् ॥ ६० ॥

यावद्० हे प्रिये ! घनाभं मेघसदृशं घनघातिकर्मचतुष्कं ज्ञानावरणीय १, दर्शनावरणीय २, मोहनीय ३, अन्तराय ४, एतत् घनघातिकर्मचतुष्कं आत्मार्यमणं जीवसूर्यं यावद्

स्तृणाति आच्छादयति ('स्तृगॄ्श् आच्छादने' अस्य धातोः प्रयोगः), तावच्चेतश्चित्तं तमश्छन्नतया विचारे स्फुरत् सत् जाङ्घिकत्वं जङ्घालत्वं त्वरमाणत्वं न अञ्चति न प्राप्नोति ॥६०॥

आकेवलार्चिःकलनं विशङ्कं,
वयं न सन्देहभिदां विदध्मः ।
को वा विना काञ्चनसिद्धिमुर्वी-
माधातुमुर्वीमनृणां यतेत ॥ ६१ ॥

आके० हे प्रिये ! वयं आकेवलार्चिःकलनं केवलज्ञानलाभं यावत् विशङ्कं निःशङ्कं संदेहभिदां न विदध्मः, संदेहभेदं न कुर्मः । वा अथवा कः पुमान् काञ्चनसिद्धिं सुवर्णसिद्धिं विना उर्वीं गुर्वीं उर्वीं पृथ्वीं अनृणां आधातुं कर्तुं यतेत उपक्रमेत ? ॥ ६१ ॥

तस्मान्मनागागमयस्व काल-
मतित्वरा विघ्नकरीष्टसिद्धेः ।
इत्युक्तवांस्त्यक्तमनस्तरङ्गः,
क्षणं समाधत्त स मेधिरेशः ॥ ६२ ॥

तस्मा० तस्मात् कारणात् हे प्रिये ! मनाक् स्तोकं कालं आगमयस्व प्रतीक्षस्व । अतित्वरा इष्टसिद्धेर्विघ्नकरी अत्यौत्सुक्यं अभीष्टसिद्धेर्विघ्नकृत् वर्तते, इत्युक्तवान् सन् एतावता इत्युक्त्वा स मेधिरेशः मेधिराः प्रज्ञालास्तेषां ईशो भगवान् त्यक्तमनस्तरङ्गः त्यक्तमनोव्यापारः सन् क्षणं समाधत्त समाधिं दधौ ॥ ६२ ॥

निमील्य नेत्रे विनियम्य वाचं,
निरुध्य नेताखिलकायचेष्टाः ।
३ निशि प्रसुप्ताब्जमनादिहंसं,
सरोऽन्वहार्षीदलसत्तरङ्गम् ॥ ६३ ॥

निमी० स नेता भगवान् निशि रात्रौ प्रसुप्ताब्जं संकुचित-
६ कमलं अनादिहंसं अशब्दायमानहंसं अलसत्तरङ्गं अनुल्लसत्क-
ल्लोलं, एवंविधं सरः सरोवरं अन्वहार्षीत् अनुचकार, किं
कृत्वा ? नेत्रे निमील्य, वाचं नियम्य संवृत्य, अखिलकायचेष्टाः
९ समस्तशरीरचेष्टाः निरुध्य ॥ ६३ ॥

स्वप्नानशेषानवधृत्य बुद्धि-
बाह्वा मनोवेत्रधरः पुरोगः ।
१२ महाधियामूहसभामभीष्टां,
निनाय लोकत्रयनायकस्य ॥ ६४ ॥

स्वप्ना० मनोवेत्रधरो मनःप्रतीहारः अशेषान् समस्तान्
१५ स्वप्नान् बुद्धिबाह्वा अवधृत्य लोकत्रयनायकस्य श्रीयुगादिदेव-
स्याभीष्टां ऊहसभां विचारसभां निनाय । किंविशिष्टो मनो-
वेत्रधरः ? महाधियां पुरोगः महाबुद्धीनामग्रेसरः ॥ ६४ ॥

१८ अस्ताघताधारविचारवार्द्धिं,
ज्ञानाञ्जनोद्भिन्नदृशावगाह्य ।
चित्तेन नेतुः स्फुटधीवरेण,
समर्पितास्तत्फलयुक्तिमुक्ताः ॥ ६५ ॥

२२ अस्ता० चित्तेन तत्फलयुक्तिमुक्तास्तेषां स्वप्नानां फलयुक्तय-

एव मुक्ताः मुक्ताफलानि नेतुः श्रीऋषभस्वामिनः समर्पिताः, किंविशिष्टेन चित्तेन ? स्फुटधीवरेण प्रकटबुद्धिप्रधानेन, पक्षे धीवरेण मात्स्यिकेन, पुनः किंवि० ज्ञानाञ्जनोद्भिन्नदृशा ज्ञानरूपाञ्जनेन उद्भिन्नदृशा विकस्वरलोचनेन, किं कृत्वा अस्ताघताधारविचारवार्धिं अस्तं अघं पापं येन स अस्ताघस्तस्य भावः अस्ताघता, पक्षे अस्ताघता गम्भीरत्वं तस्या आधारं विचारसमुद्रं अवगाह्य । यथा अञ्जनोद्भिन्नदृशा धीवरेण समुद्रं अवगाह्य मौक्तिकानि नेतुः स्वामिनः समर्प्यन्ते ॥ ६५ ॥

तद्भूर्हर्षामृतरसभरः किं शिरासारणीभिः
स्वान्तानूपाद्युगपदसृपत्क्षेत्रदेशेऽखिलेऽस्य ।
लोकत्रातुः कथमितरथा लोमबर्हिःप्ररोहैः
सद्यस्तत्रोल्लसितमसितच्छायसूक्ष्माग्रभागैः ॥६६॥

तद्भू० तद्भूस्तेभ्यः स्वप्नेभ्यः समुत्पन्नो हर्षामृतरसभरः अस्य लोकत्रातुस्त्रिभुवनपालकस्य भगवतः स्वान्तानूपात् स्वान्तं चित्तमेवानूपं सजलप्रदेशस्तस्मादनूपात् किं शिरासारणीभिः अखिले समस्ते क्षेत्रदेशे शरीरप्रदेशे युगपत् समकालं असृपत् प्रासरत् । इतरथा तत्र क्षेत्रे देशे सद्यस्तत्कालं कथं लोमबर्हिःप्ररोहैर्लोमबर्हिषां रोमरूपदर्भाणां प्ररोहैः अङ्कुरैः उल्लसितं ? किंलक्षणैर्लोमबर्हिःप्ररोहैः ? असितच्छायः कृष्णच्छायः सूक्ष्माग्रभागो येषान्तैः ॥ ६६ ॥

दृग्युग्ममुल्लसितमुच्छ्वसितां तनुं च,
चञ्चन्मतिद्रढिमधाम सुमङ्गला सा ।

दृष्ट्वाद्भुतं वरयितुर्वचनं विनापि,
स्वप्नान् महाफलतयान्वमिमीत सर्वान् ॥६७॥

दृग्० सा सुमङ्गला वरयितुः श्रीऋषभदेवस्य वचनं विनापि दृग्युग्मं उल्लसितं दृष्ट्वा, तनुं शरीरं च उच्छ्वसितां दृष्ट्वा, सर्वान् स्वप्नान् महाफलतया अन्वमिमीत अनुमानेन ज्ञातवती । किंविशिष्टा सुमङ्गला? चञ्चन्मतिद्रढिमधाम चञ्चन्मतेः प्रसरन्मतेर्द्रढिमा दृढता तस्या धाम स्थानम् ॥ ६७ ॥

ईहाञ्चक्रे सा स्वामिनो मौनमुद्रा-
भेदं तृष्णालुर्वाक्सुधायास्तथापि ।
धत्ते नोत्कण्ठां गर्जिते केकिनी किं,
मेघस्योन्नत्या ज्ञातवर्षागमापि ॥ ६८ ॥

ईहा० सा सुमङ्गला तथापि स्वामिनः श्रीऋषभदेवस्य मौनमुद्राभेदं ईहाञ्चक्रे वाञ्छितवती । किंलक्षणा सुमङ्गला? वाक्सुधायाः तृष्णालुः वचनामृतस्य तृषार्ता । मेघस्योन्नत्या ज्ञातवर्षागमापि केकिनी मयूरी गर्जिते उत्कण्ठां किं न धत्ते? अपि तु धत्ते ॥ ६८ ॥

इति श्रीमदञ्चलगच्छे कविचक्रवर्तिश्रीजयशेखरसूरिविरचिते
श्रीजैनकुमारसंभवस्य तच्छिष्यश्रीधर्मशेखरसूरिविरचित-
टीकायां श्रीमाणिक्यसुन्दरसूरिशोधितायां
अष्टमसर्गव्याख्या समाप्ता ॥ ८ ॥

अथ नवमः सर्गः ।

तदा तदास्येन्दुसमुल्लसद्वचः,
सुधारसास्वादनसादरश्रुतिः ।
गिरा गभीरस्फुटवर्णया जग-
त्त्रयस्य भर्त्रा जगदे सुमङ्गला ॥ १ ॥

तदा० तदा तस्मिन्नवसरे जगत्त्रयस्य भर्त्रा श्रीयुगादीश्वरेण सुमङ्गला गिरा वाण्या जगदे जल्पिता, किं लक्षणया गिरा गभीरस्फुटवर्णया गभीराश्च स्फुटाश्च प्रकटाश्च वर्णा अक्षराणि यस्याः सा तया प्रकटाक्षरया, किं विशिष्टा सुमंगला तदास्येन्दुसमुल्लसद्वचः सुधारसास्वादनसादरश्रुतिः, तस्य भगवतः आस्येन्दोर्मुखचन्द्रात् समुल्लसत् निर्गच्छत् वचो वचनमेवामृतरसास्वादस्तस्मिन् सादरे आदरपरे श्रुती कर्णौ यस्याः सा तदास्येन्दु० ॥ १ ॥

जडाज्जडिम्ना जडभक्ष्यभोजना-
दनावृतस्थानशयेन जन्तुना ।
विलोक्यते यो विकलप्रचारवद्-
विचारणं स्वप्नभरो न सोऽर्हति ॥ २ ॥

जडा० हे सुमङ्गले ! जडाज्जडिम्ना मिलज्जाड्येन जडभक्ष्यभोजनात् शीतलाहारभोजनात् अनावृतस्थानशयेन अनाच्छादितस्थानशायिना, एवंविधजंतुना मानवेन यः स्वप्नभरो विलोक्यते, दृश्यते स स्वप्नभरः स्वप्नसमूहो विकलप्रचारवत् ग्रथिलगमवत् विचारणं नार्हति विचारं कर्तुं न योग्यः स्यात् ॥ २ ॥

निभालयत्यालयगोऽपि यं प्रिये-
ऽनुभूतदृष्टश्रुतचिंतितार्थतः ।
नरो निशि स्वप्नमबद्धमानसो,
न सोऽपि पंक्तिं फलिनस्य पश्यति ॥ ३ ॥

निभा० हे प्रिये! अबद्धमानसः असंवृत्तचित्तो नरो मनुष्य आलयगोपि गृहस्थितोऽपि अनुभूतदृष्टश्रुतचिंतितार्थतः नरो निशि रात्रौ स्वप्नं निभालयति पश्यति, सोऽपि स्वप्नः फलिनः फलवतः पंक्तिं न पश्यति ॥ ३ ॥

नरस्य निद्रावधिवीक्षणोत्सवं,
तनोति यस्तस्य फलं किमुच्यते ।
विमुच्यते सोऽपि विचारतः पृथ-
ग्गतः प्रथां यो मलमूत्रबाधया ॥ ४ ॥

नर० यः स्वप्नः नरस्य मनुष्यस्य निद्रावधिवीक्षणोत्सवं निद्रां यावत् वीक्षणोत्सवं दर्शनोत्सवं तनोति करोति, तस्य स्वप्नस्य फलं किमुच्यते किं कथ्यते, न किमपि इति, यः स्वप्नो मलमूत्रस्य बाधया पीडया प्रथां विस्तारं गतः सोऽपि स्वप्नविचारतः पृथग् विमुच्यते विचारात्, अन्यत्र क्रियते ॥ ४ ॥

मनाक् समुत्पाद्य दृशोर्निमीलनं,
सुखं निषण्णे शयितेऽथवा नरे ।
प्रवक्ति यत्स्वप्नमिषेण देवता,
वितायते तस्य विचारणा बुधैः ॥ ५ ॥

मना० हे प्रिये! नरे मनुष्ये सुखं निषण्णे सुखेनोपविष्टे

सति अथवा शयिते सति दृशोः लोचनयोर्मनाक् स्तोकतरं निमीलनं समुत्पाद्य स्वप्नमिषेण देवता यत् प्रवक्ति बुधैः विद्भिस्तस्य विचारणा वितायते क्रियते ॥ ५ ॥

अधर्मधर्माधिकतानिबन्धनं,
यमीक्षते स्वप्नमपुष्कलं जनः ।
वदन्ति वैभातिकमेघगर्जिव-
न्न मोघतादोषपदं तमुत्तमाः ॥ ६ ॥

अध० हे प्रिये ! जनो लोक अपुष्कलं स्तोकं अधर्मधर्माधिकतानिबन्धनं अधर्मस्य वा धर्मस्य वा अधिकता आधिक्यं सैव निबन्धनं कारणं यस्य तं, एवंविधं यं स्वप्नं ईक्षते पश्यति, उत्तमास्तं स्वप्नं वैभातिकमेघगर्जितवत् प्रभातसत्कमेघस्य गर्जारववत्, मोघतादोषपदं निष्फलत्वदोषस्य स्थानं न वदन्ति, कोऽर्थः यथा प्रभातसत्कमेघगर्जितं निःफलं नैव स्यात्, तथा सोपि स्वप्नः सफल एव स्यात् ॥ ६ ॥

त्वमाहतद्विड् निबिरीसभाञ्जनं,
सभाजनं सिञ्चसि मे वचोऽमृतैः ।
सभाजनं यत्तव तन्वते सुरा
विभासि तत्पुण्यविलासभाजनम् ॥ ७ ॥

त्वमा० हे प्रिये ! त्वं वचोऽमृतैः मे मदीयं सभाजनं सभासत्कलोकं सिञ्चसि, किं लक्षणं सभाजनं आहतद्विड् निबिरीसभाञ्जनं आहतद्विषां निबिरीसाया भायाः प्रभायाः अञ्जनं क्षेपणं येन तं आहतद्विड्०, सुरा देवास्तव यत् सभाजनं

आपृच्छनं तन्वते कुर्वते, तत् तस्मात् कारणात् पुण्यविलासभाजनं विभासि पुण्यविलासस्य भाजनं पात्रं शोभसे ॥ ७ ॥

कुलं कलङ्केन न जातु पङ्किलं,
न दुःकृतस्याभिमुखी च शेमुषी ।
गिरः शरच्चन्द्रकरानुकारिका,
गतं सतन्द्रीकृतहंसवल्लभम् ॥ ८ ॥
निरर्गलं मङ्गलमङ्गसौष्ठवं,
वदावदीभूतविचक्षणा गुणाः ।
इदं समग्रं सुकृतैः पुराकृतै-
र्ध्रुवं कृतज्ञे तव ढौकनीकृतम् ॥ ९ ॥ युग्मम्

कुलं० हे कृतज्ञे ध्रुवं निश्चितं तव पुराकृतैः पूर्वभवकृतैः पुण्यैरिदं समग्रं ढौकनीकृतं उपदीक्रियते स्म, इदमिति किं ? (तत्र) तव कुलं कलङ्केन जातु कदाचिदपि पङ्किलं कलुषं न वर्त्तते च अन्यत् तव शेमुषी बुद्धिः दुष्कृतस्य पापस्य अभिमुखी न स्यात्, (वर्नते)र्तते तव गिरो वाण्यः शरच्चन्द्रकरानुकारिकाः शारदचन्द्रकिरणानुकारिण्यो वर्त्तन्ते, तव गतं गमनं सतन्द्रीकृतहंसवल्लभं सतन्द्रीकृता अलसीकृता हंसवल्लभा हंस्यो येन तत् सतन्द्री० वर्त्तते ॥ ८ ॥

तव अङ्गे सौष्ठवं शरीरपाटवं निरर्गलं अर्गलारहितं मङ्गलं वर्त्तते, तव गुणा माधुर्यौदार्यादयो वदावदीभूतविचक्षणाः वाचालीभूतकवीश्वरा वर्त्तन्ते ॥ ९ ॥ युग्मम् ।

न कोऽधिकोत्साहमना धनार्जने,
जनेषु को वा नहि भोगलोलुपः ।
कुतः पुनः प्राक्कृतपुण्यसम्पदं,
विना लता वृष्टिमिवेष्टसिद्धयः ॥ १० ॥

न० हे प्रिये कः पुमान् जनेषु लोकेषु धनार्जने धनोपार्जने अधिकोत्साहमना अधिकतरोद्यमचित्तो न स्यादपि तु स्यादेव, हि निश्चितं वा अथवा कः पुमान् भोगलोलुपः सुखलम्पटो न स्यादपि तु स्यादेव, प्राक्तनपुण्यसम्पदं विना पुनः कुतः इष्टसिद्धयः स्युः, का इव लता इव यथा लता वल्ल्यो वृष्टिं विना कुतः स्युः ॥ १० ॥

न जापलक्षैरपि यन्निरीक्षणं,
क्षणं समस्येत विचक्षणैरपि ।
सुराङ्गनाः सुन्दरि तास्तव क्रम-
द्वयस्य दास्यं स्पृहयन्ति पुण्यतः ॥ ११ ॥

न० विचक्षणैरपि यन्निरीक्षणं यासां सुराङ्गनानां दर्शनं जापलक्षैरपि क्षणं न समस्येत न प्राप्येत । अशौट् व्याप्तौ इति धातोः प्रयोगः, हे सुन्दरि ताः सुराङ्गनाः देवाङ्गनास्तव क्रमद्वयस्य तव पदद्वयस्य पुण्यतः पुण्यप्रभावाद्दास्यं स्पृहयन्ति ॥ ११ ॥

न कापथे कण्टककोटिसङ्कटे,
पदेषु कासाञ्चन पादुका अपि ।
मणिक्षमाचारभवः क्रमक्लमः,
शमं सुरीभिः सुकृतैस्तवाप्यते ॥ १२ ॥

न० हे प्रिये कासाञ्चन स्त्रीणां कण्टककोटिसङ्कटे कापथे कुमार्गे पदेषु पादुका अपि न स्युः, सुरीभिर्देवीभिस्तव मणिक्षमाचारभवः क्रमक्लमः मणिकुट्टिमचलनः समुत्पन्नः पदश्रमः सुकृतैः पुण्यैः शमं उपशान्तिं आप्यते प्राप्यते ॥ १२ ॥

बहुत्वतः काश्चन शायिनां वने,
कृशे कुशश्रस्तरकेऽपि शेरते ।
द्युतल्पतूलीष्वपि न प्रिये रतिः,
सुमच्छदप्रच्छदमन्तरेण ते ॥ १३ ॥

बहु० हे प्रिये काश्चन स्त्रियो वने वनमध्ये शायिनां बहुत्वतः कृशे दुर्बले कुशश्रस्तरकेऽपि दर्भसंस्तारकेऽपि शेरते स्वपन्ति, हे प्रिये द्युतल्पतूलीष्वपि स्वर्गशय्यातूलिकास्वपि सुमच्छदप्रच्छदं अन्तरेण पुष्पवस्त्रस्योत्तरपटं विना ते न रतिर्न सुखम् ॥ १३ ॥

कदन्नमप्यात्ममनोविकल्पनै-
र्महारसीकृत्य लिहन्ति काश्चन ।
चटुक्रियां कारयसि द्युसत्प्रियाः,
फलाशने त्वं सुरभूरुहामपि ॥ १४ ॥

कद० काश्चन स्त्रियः कदन्नमपि कुत्सितान्नमपि आत्ममनोविकल्पनैर्महारसीकृत्य लिहन्ति आस्वादयन्ति, त्वं द्युसत्प्रिया देवाङ्गनाः सुरभूरुहामपि कल्पवृक्षाणामपि फलाशने फलाहारे चटुक्रियां चाटुवचनानि कारयसि ॥ १४ ॥

विनाश्रयं सन्ततदुःखिता ध्रुवं,
स्तुवन्ति काश्चित् सुगृहाः पतत्रिणीः ।

विमानमानच्छिदि धाम्नि लीलया,
त्वमिद्धपुण्ये पुनरप्सरायसे ॥ १५ ॥

विना० हे प्रिये काश्चित् स्त्रियः आश्रयं गृहं विना संततदुःखिताः सत्यः ध्रुवं निश्चितं सुगृहाः पतत्रिणीः सुगृहाख्याः पक्षिणीः स्तुवन्ति, हे इद्धपुण्ये समृद्धपुण्ये त्वं विमानमानच्छिदि विमानमानच्छेदिनि धाम्नि गृहे लीलया अप्सरायसे देवाङ्गनावदाचरसि ॥ १५ ॥

अखण्डयन्त्या स्वसदःस्थितिं सदा,
गतागतं ते सदने वितन्वती ।
ऋतीयते किं सुकृताश्चिते शची,
तुलां त्वया स्थानमधर्मकं श्रिता ॥ १६ ॥

अख० हे सुकृताश्चिते पुण्ययुक्ते शची इन्द्राणी त्वया तुलां त्वत्सादृश्यं ऋतीयते गच्छति, अपि तु न गच्छत्येव, किं लक्षणा शची अधर्मकं स्थानं देवलोकं श्रिता आश्रिता, पुनः किं कुर्वती शची ते तव सदने गृहे सदा सर्वदा गतागतं गमनागमनं वितन्वती कुर्वती, किं विशिष्टया त्वया स्वसदःस्थितिं स्वस्थानकस्थानं अखण्डयन्त्या ॥ १६ ॥

प्ररूढदोषाकरनाम्नि निर्भरं,
कलङ्किनीन्दौ महिषीत्वमीयुषीम् ।
तमःसमुत्पन्नरुचिं कृती नरो,
न रोहिणीमप्युपमित्सति त्वया ॥ १७ ॥

प्ररू० हे प्रिये कृती नरो विचक्षणः पुमान् त्वया रोहिणी-

मपि न उपमित्सति, न उपमातुमिच्छति, किं विशिष्टां रोहिणीं तमःसमुत्पन्नरुचिं अन्धकारेषु पापेषु वा उत्पन्ना रुचिः कान्तिरभिलाषो वा यस्याः सा तां०, पुनः किं इन्दौ चन्द्रे महिषीत्वं ईयुषीं पट्टराज्ञीत्वं प्राप्तवतीं, किं लक्षणे इन्दौ प्ररूढदोषाकरनाम्नि दोषानामाकरः पक्षे दोषां रात्रिं करोतीति दोषाकरः, प्ररूढं प्ररूढिं प्राप्तं दोषाकर इति नाम यस्य तस्य तस्मिन्, पुनः किं० निर्भरं अत्यर्थं कलङ्किनि कलङ्कयुक्ते ॥१७

कुतः प्रकर्षं समतामपि त्वया,
न सङ्गता श्रीरपि रूपवैभवैः ।
स्वकं शकुन्त्याः सदृशं नभोगता-
गुणं तृणं जल्पति खेचराङ्गना ॥ १८ ॥

कुतः० हे प्रिये प्रकर्षं कुतः श्रीर्लक्ष्मीरपि रूपवैभवैः समाधिरूपद्रव्यैः त्वया सह समतामपि सादृश्यमपि न संगता न प्राप्ता, खेचराङ्गना विद्याधरस्त्री स्वकं आत्मीयं शकुन्त्याः पक्षिण्याः सदृशं नभोगतागुणं आकाशचारित्वं गुणं तृणं जल्पति ॥ १८ ॥

निजैर्द्विजिह्वप्रियतादिदूषणै-
र्ह्रियेव मुञ्चन्ति न जातु या बिलम् ।
अनाविलं ते चरितं विषानना,
न नागकन्या अनिशं स्पृशन्ति ताः ॥ १९ ॥

निजै० हे प्रिये नागकन्या निजैरात्मीयैर्द्विजिह्वप्रियतादिदूषणैर्द्विजिह्वाः सर्पाः खला वा तत्प्रियतादितदभीष्टत्वादि-

दूषणैर्दोषैः जातु कदाचिदपि बिलं पातालं न मुंचति, उत्प्रेक्ष्यते ह्रिया लज्जयेव हे प्रिये ता विषानना विषमुख्यो नागकन्या अनिशं निरंतरं अनाविलं निर्मलं ते तव चरितं न स्पृशन्ति ॥ १९ ॥

नवोदयं सङ्गतया रया त्वया,
ततोऽतिशिष्ये त्रिजगद्वधूजनः ।
तमोबलाल्लब्धभवः परः प्रभा-
भरः स्वधर्मैस्तरणेरिव त्विषा ॥ २० ॥

नवो० हे प्रिये तत् तस्मात् कारणात् त्रिजगद्वधूजनः स्वर्गमर्त्यपातालसंतकस्त्रीजनस्त्वया अतिशिष्ये अतिक्रान्तः, किं विशिष्टया त्वया स्वधर्मैरात्मपुण्यैर्नवोदयं संगतया नवीनोदयं प्राप्तवत्या कस्येव तरणेरिव यथा सूर्यस्य त्विषा कान्त्या तमोबलादन्धकारबलाल्लब्धभवः परः प्रभाभरः, स्वधर्मैः स्वकिरणैरतिशिष्ये अतिक्रम्यते ॥ २० ॥

त्वयेक्षितः स्वप्नगणो गुणोज्ज्वलो,
न जायते जात्यमणिर्यथा वृथा ।
पुनः प्रकल्प्या कथमल्पबुद्धिभि-
र्विचारणा तस्य विचक्षणोचिता ॥ २१ ॥

त्वये० हे प्रिये त्वया ईक्षितो दृष्टो गुणोज्ज्वलः स्वप्नगणः स्वप्नसमूहः वृथा निःफलो न जायते यथा जात्यमणिर्वृथा न जायते, यथा इवार्थः, पुनः परं अल्पबुद्धिभिः मन्दबुद्धिभिर्मन्दप्रज्ञैः विचक्षणोचिता विद्वज्जनयोग्या तस्य स्वप्नगणस्य विचारणा कथं प्रकल्प्या ॥ २१ ॥

मृगाक्षि वल्लीव घनाघनोदका-
द्भवत्यतः स्वप्नभरान्नवा रमा ।
प्रयाति गर्भानुगुणात्प्रथां पुनः,
पुरोदिता सा सरसीकृताश्रयात् ॥ २२ ॥

मृगा० हे मृगाक्षि मृगलोचने अतो अस्मात् स्वप्नभरात् स्वप्नसमूहात् नवा रमा लक्ष्मीर्भवति, पुनः पुरोदिता पूर्वं उदिता उत्पन्ना सा रमा प्रथां विस्तारं प्रयाति, किं विशिष्टात् स्वप्नभरात् घनाघनोदकात् घनं अघं पापं नुदतीति स्फेटयतीति घनाघनोदकस्तस्मात् घना० । पुनः किं विशिष्टात् स्वप्नात् गर्भानुगुणात् गर्भसदृशात् यदि उत्तमो गर्भः तदा स्वप्नापि उत्तमाः स्युरिति, पुनः किं० स्वप्न०, सरसीकृताश्रयात् सरसीकृत आश्रयो येन स सरसीकृताश्रयस्तस्मात् सरसीकृ० । केव वल्लीव यथा वल्ली घनाघनोदकात् मेघजलात् नवा भवति पुरोदिता सा प्रथां प्रयाति, किं विशिष्टात् घनाघनोदकात् गर्भानुगुणात् अभ्रविद्युत्हिमगर्भादयस्तत्सदृशात् यादृशो गर्भोऽस्ति तादृशी वृष्टिः स्यात् पुनः किं वि० घनाघनोदकात् सरस्यां सरोवरे कृतः आश्रयः स्थानं येन तत् सरसीकृताश्रयं तस्मात् ॥ २२ ॥

अनेन सर्वं स्वजनाकुले कुले
नवा न वासं विदधत्यहो गदाः ।
पुरातना अप्युपयान्ति ते शमं,
रसायनेनेव विदोषधीभुवा ॥ २३ ॥

अने० हे प्रिये अहो इत्याश्चर्ये अनेन स्वप्नभरेण सर्व-स्वजनाकुले सर्वस्वजनव्याप्ते कुले नवा गदा रोगा वासं न विदधंति न कुर्वन्ति, पुरातना अपि गदाः शमं यांति, किं विशिष्टेन रसायनेन विदोषधीभुवा वित् ज्ञानं ओषध्यश्च ताभ्यो भवतीति विदोषधीभूस्तेन विदो० ॥ २३ ॥

विनोदयेनेव हते सुसंहते-
ऽमुना घनारिष्टतमिस्रमण्डले ।
कुले विलासं कमलावदुत्पले
करोति पुण्यप्रभवा शिवावली ॥ २४ ॥

विनो० अमुना स्वप्नभरेण सुसंहते सुष्ठु अत्यर्थं संहते मिलिते सति घनारिष्टतमिस्रमण्डले घने निबिडे अरिष्टरूपे तमिस्रमण्डले घना मेघवत् अरिष्टरत्नवत् कृष्णे अन्धकार-पटले हते सति कमला लक्ष्मी उत्पले कमले वासं करोति ॥ २४ ॥

अबालभाविश्रुतसौख्यदायिनीं,
वृथा विभूतिर्विभुता च यां विना ।
अयं हि तां वर्धयितुं निशान्तरुग्,
धृतिं मतिं ब्राह्ममुहूर्तवत्प्रभुः ॥ २५ ॥

अबा० विभूतिर्लक्ष्मी विभुता च प्रभुत्वं यां धृतिं मतिं विना निःफला स्यात् किं लक्षणां धृतिं अबालभाविश्रुतसौख्य-दायिनीं, अबाला प्रौढा भा प्रभा तया विश्रुतं विख्यातं सौख्यं ददातीति, किं रूपां मतिं अबालभा अबालेषु विद्वत्सु भवन-

शीलस्य श्रुतस्य शास्त्रस्य सौख्यदात्रीं अयं स्वप्नभरः, हि निश्चितं त्वां धृतिं मतिं वर्धयितुं प्रभुः समर्थः स्यात्, किंवत् ब्राह्ममुहूर्तवत् यथा ब्राह्ममुहूर्त्तः धृतिं समाधिं मतिं बुद्धिं वर्धयितुं प्रभुः स्यात्, किं विशिष्टः स्वप्नभरः ब्राह्ममुहूर्तश्च निशान्तरुक् नितरां शान्ता रोगा यस्य तस्मात् स निशान्तरुक्, पक्षे निशाया रात्रेरन्ते अवसाने रोचने निशा ॥ २५ ॥

जनानुरागं जनयन्नयं नवं,
ध्रुवोदयप्राभवदानलग्नकः ।
यदन्यदप्यत्र मनोहरं तद-
प्यनेन जानीहि पुरः स्फुरत्प्रिये ॥ २६ ॥

जना० हे प्रिये ! अयं स्वप्नभरः ध्रुवोदयप्राभवदानलग्नको ध्रुवो निश्चित उदयो यस्य एवंविधस्य प्राभवस्य स्वामित्वस्य दानलग्नकः प्रतिभूर्वर्त्तते, किं कुर्वन्नयं नवं नवीनं जनानुरागं जनयन् उत्पादयन् यत् अन्यदपि त्रिगति विश्वमनोहरं वस्तु तदपि अनेन स्वप्नभरेण पुरोऽग्रे स्फुरत् देदीप्यमानं जानीहि ॥ २६ ॥

यदिष्यते हन्त शुभान्निमित्ततः,
पुरापि तद्वस्तु समस्तमस्ति मे ।
भवन्नशीतांशुमहो महोज्ज्वले,
दिने न दीपः परभागमृच्छति ॥ २७ ॥

असाधसामान्यगुणैकभूरिति,
त्वया विशालाक्षि वृथा न चिन्त्यताम् ।

फलं यदग्र्यं तदथ ब्रवीमि ते,
मितेः परां कोटिमियर्तु संमदः ॥ २८ ॥
युग्मम् ।

यदि० हे प्रिये ! हन्त इति वितर्के शुभान्निमित्ततः शुभनिमित्तहेतोः यदिष्यते वाञ्छयते तत् समस्तं वस्तु पुरोप्यऽपि मे ममास्ति, अशीतांशुमहो महोज्वले सूर्यस्य महसा तेजसा देदीप्यमानदिवसे दीपोत्सवः सन् परभागं गुणोत्कर्षं न ऋच्छति न याति ॥ २७ ॥

असा० हे विशालाक्षि विस्तीर्णलोचने असौ स्वप्नभरः असामान्यगुणैकभूर्निरुपमगुणानामेकस्थानं वर्त्तते, इति अस्मात् कारणात् वृथा निःफलो न चिन्त्यतां, यत् अग्र्यं प्रशस्यं फलं तत्, अथ ब्रवीमि ते तव संमदो हर्षः मितेर्गणनायाः परां कोटिं इयतु प्राप्नोतु ॥ २८ ॥ युग्मम् ।

चतुर्दशस्वप्ननिभालनद्रुम-
स्तनोत्यसौ मातुरुभे शुभे फले ।
इहैकमर्हज्जननं महत्फलं,
तनु द्वितीयं ननु चक्रिणो जनुः ॥ २९ ॥

चतु० असौ चतुर्दशस्वप्ननिभालनद्रुमः स्वप्नावलोकनरूपवृक्षः, मातुरुभे द्वे शुभे फले तनोति करोति, इह एकं अर्हज्जननं अर्हज्जन्ममहत्फलं वर्त्तते, द्वितीयन्तु स्तोकं ननु निश्चितं चक्रिणो जनुः जन्म स्यात् ॥ २९ ॥

प्रदुष्टभावारिभयच्छिदं स्फुटी-
कृता निशीथे सुकृतैः पुराकृतैः ।

तदर्धवीक्षा विशिनष्टि केशवो-
द्भवं भवोत्तारमरागवागिव ॥ ३० ॥

प्रदु० हे प्रिये तदर्धवीक्षा तेषां स्वप्नानां अर्धदर्शनं केशवोद्भवं वासुदेवोत्पत्तिं विशिनष्टि कथयति, किं विशिष्टं केशवोद्भवं प्रदुष्टभावारिभयच्छिदं प्रकर्षेण दुष्टभावानां अरीणां वैरिणां भयं च्छिनतीति, किं विशिष्टा तदर्धवीक्षा पुराकृतैः सुकृतैः स्फुटीकृता निशीथे अर्धरात्रे स्फुटीकृता प्रकटीकृता केव अरागवागिव यथा अरागवाग् वीतरागवाणी भवोत्तारं संसारपारं विशिनष्टि, किं विशिष्टा अरागवाक् प्रस्तावात् भव्यानां पुराकृतैः सुकृतैः स्फुटीकृता, निशीथस्योपलक्षणत्वात् अन्येपि सिद्धान्तग्रन्था ज्ञेयाः, किं विशिष्टं भवोत्तारं प्रदुष्टभावारिभयच्छिदं प्रदुष्टानां क्रोधमानमायालोभमोहादिभावारीणां भयं छिनत्तीति प्रदुष्टा० ॥ ३० ॥

बलं सुतं यच्छति तच्चतुष्टयी,
लतेव जातिः कुसुमं समुज्ज्वलम् ।
तदेकतां वीक्ष्य तदेकतानया,
स्त्रियाङ्गभूर्माण्डलिकः प्रकल्प्यताम् ॥ २१ ॥

बलं० तच्चतुष्टयी तेषां स्वप्नानां चतुष्कं बलं सुतं बलदेवं पुत्रं यच्छति दत्ते, केव जातिर्लतेव यथा जातिर्लता मालती समुज्ज्वलं कुसुमं यच्छति, यतो बलदेवोऽपि समुज्ज्वलः स्यादिति, तदेकतानया तेषु स्वप्नेषु एकतानया सावधानया स्त्रिया तदेकतां एकं स्वप्नं वीक्ष्य मांडलिकोऽङ्गभूः पुत्रः प्रकल्प्यतां चिन्त्यताम् ॥ २१ ॥

तदीदृशस्वप्नविलोकनात्त्वया-
ऽधिगंस्यते चक्रधरस्तनूरुहः ।
विशन्ति विद्याः किल यं चतुर्दश,
श्रयन्ति रत्नान्यपि संख्यया तया ॥ ३२ ॥

तदी० हे प्रिये तत् तस्मात् कारणात् ईदृशस्वप्नविलोकनात् त्वया चक्रधरस्तनूरुहः अधिगंस्यते प्राप्स्यते, किल० इति सत्ये चतुर्दशविद्या यं पुत्रं विशन्ति प्रविशन्ति, तया चतुर्दशरूपया संख्यया रत्नान्यपि संश्रयन्ते सेवन्ते ॥ ३२ ॥

त्वया यदादौ हरिहस्तिसोदरः,
पुरः स्थितस्तन्वि करी निरीक्षितः ।
मनुष्यलोकेऽपि ततः श्रियं पुरा,
दधाति शातक्रतवीं तवाङ्गजः ॥ ३३ ॥

त्वया० हे तन्वि त्वया यत् आदौ हरिहस्तिसोदरः ऐरावतस्य बांधवः करी हस्ती पुरः स्थितो निरीक्षितो दृष्टः, तत् तस्मात् कारणात् तवांगजः पुत्रः मनुष्यलोकेऽपि शातक्रतवीं शतक्रतोरियं शातक्रतवी इन्द्रसम्बधिनी श्रियं लक्ष्मीं पुरा दधाति, पुरा यावतो वर्तमाना इति सूत्रेण भविष्यति काले वर्तमानो ज्ञेया ॥ ३३ ॥

दिगन्तदेशांस्तरसा जिगीषया-
भिषेणयिष्यन्तमवेत्य तेऽङ्गजम् ।
प्रहीयते स प्रथमं दिशां गजैः,
प्रिये किमैरावत एष सन्धये ॥ ३४ ॥

दिग० हे प्रिये तव अङ्गजं तरसा वेगेन दिगन्तदेशान् जिगीषया जेतुमिच्छया अभिषेणयिष्यन्ते सेनया सन्मुखं गमिष्यन्तं अवेत्य ज्ञात्वा ऐरावतः १ पुण्डरीको २ वामनः ३ कुमुदो ४ अंजनः ५ पुष्पदन्तः ६ सार्वभौमः ७ सुप्रतीकश्च ८ दिग्गजाः पुंडरीकाद्यैर्दिशांगजैः हे प्रिये एष ऐरावतः प्रथमं संधीय संधीकरणाय किं प्रहीयते स्म ३४ ॥

यदक्षतश्रीर्वृषभो निरीक्षितः,
क्षितौ चतुर्भिश्चरणैः प्रतिष्ठितः ।
महारथाग्रेसरतां गतस्तत-
स्तवांगभूर्वीरधुरां धरिष्यति ॥ ३५ ॥

यद० यत् यस्मात् कारणात् अक्षतश्रीरक्षयलक्ष्मीर्वृषभो निरीक्षितो दृष्टः, किं लक्षणो वृषभः क्षितौ पृथिव्यां चतुर्भिश्चरणैः प्रतिष्ठितः, हे प्रिये तत् तस्मात् कारणात् तवाङ्गभूस्तव पुत्रः महारथाग्रेसरतां महारथाः सहस्रयोधिनस्तेषु अग्रेसरतां मुख्यतां, पक्षे महान् रथः तस्य अग्रेसरतां अग्रगामित्वं, प्राप्तः सन् वीरधुरां धरिष्यति, 'धनुर्वेदस्य तत्त्वज्ञः सर्वयोधगुणान्वितः ॥ सहस्रं योधयेत्येकः स महारथ उच्यते ॥ १ ॥३५॥

सुपर्वलोकाद्यदिना तवाङ्गजे,
प्रवेशमातन्वति भूतले नवम् ।
अहो महोक्षः किमसौ पुरोऽस्फुर-
न्मदभ्रदभ्रं शकुनप्रदित्सया ॥ ३६ ॥

सुप० यदि वा अथवा इति शब्दात् द्वितीयं कारणमाह

हे प्रिये अहो इति आश्चर्ये असौ महोक्षो महावृषभः, सपर्व-लोकाद्देवलोकात् तवाङ्गजे पुत्रे भूतले पृथ्वीतले नवं प्रवेशं आतन्वती कुर्वती सति, अदभ्रं अतुच्छं नदन् शब्दं कुर्वन् सन् शकुनप्रदित्सया शकुनप्रदानेच्छया किं पुरो अग्रे स्फुरत् ॥ २६ ॥

जिनेषु सर्वेषु मयैव लक्ष्मणा,
जनेन तातस्तव लक्षयिष्यते ।
अयं चटूक्त्येत्यथवा तवात्मजा-
त्प्रसादमासादयितुं किमापतत् ॥ २७ ॥

जिने० अथवा अयं वृषभ इति चटूक्त्या चाटुवचनेन हे प्रिये तव आत्मजात् पुत्रात् प्रसादं आसादयितुं प्रापयितुं किं आपतत् आगतः, इतीति किं जनेन लोकेन सर्वेषु जिनेषु मयैव लक्ष्मणा लाञ्छनेन तव तातः पिता लक्षयिष्यते उपलक्षयिष्यते ॥ २७ ॥

द्विपद्विषो वीक्षणतोऽवनीगतां-
गिनो मृगीकृत्य महाबलानपि ।
न नेतृतामाप्स्यति न त्वदङ्गजः,
प्रघोषतोऽन्तर्ध्वनयन्महीभृतः ॥ २८ ॥

द्विप० हे प्रिये! द्विपद्विषो वीक्षणतः सिंहस्य विलोकनात् त्वदङ्गजः त्वत्पुत्रः नेतृतां प्रभुतां न न आप्स्यति अपि तु प्राप्स्यत्येव, किं कृत्वा? अवनीगताङ्गिनः अवनी पृथ्वी, पक्षे महद्वनं वनी तत्र स्थितप्राणिनो महाबलानपि सबलानपि मृगी-

कृत्य, किं कुर्वन्? महीभृतो राज्ञः प्रघोषतः प्रसिद्धेरन्तर्ध्वनयन् चमत्कुर्वन् पक्षे प्रकृष्टात् घोषतः सिंहनादात् महीभृतः पर्वतान् अन्तर्ध्वनयन् प्रतिशब्दयन् ॥ ३८ ॥

नयाप्तसप्ताङ्गकराज्यरङ्गभूः,
क्क नायकस्त्वं प्रखरायुधो नृणाम् ।
प्रभुः पशूनां नयनैपुणं विना,
वसन्वनेऽहं नखरायुधः क्क च ॥ ३९ ॥

तथापि मा कोऽयमुपागमः कृतो-
पमः कृतीशैर्युधि विक्रमान्मया ।
सुतं तवेत्यर्थयितुं समागतः,
किमर्थिकल्पद्रुममेष केसरी ॥ ४० ॥ युग्मम् ।

नया० हे प्रिये ! एष केसरी सिंहः अर्थिकल्पद्रुमं याचककल्पवृक्षं तव सुतं इति प्रार्थयितुं किं समागतः, इतीति किं? त्वं नृणां नायकः क्क, किंविशिष्टस्त्वं? नयाप्तसप्तांगकराज्यरंगभूः, नयेन न्यायेन अवाप्तं यत् सप्तांगराज्यं तस्य रंगभूमिः, पुनः किं० प्रखरायुधः प्रखराणि कठोराणि आयुधानि यस्य, स च अन्यत् क्क अहं पशूनां प्रभुः, किंवि० अहं नखरायुधः नखरा एव आयुधानि यस्य सः, पक्षे न निषेधार्थे खरायुधस्तीक्ष्णशस्त्रेण, किंविशिष्टो अहं नयनैपुणं न्यायदक्षत्वं विना वने वसन् ॥ ३९ ॥ त्वं कृतीशैः कृतज्ञैर्युधि संग्रामे विक्रमात् पराक्रमात् मया सह कृतोपमो भविष्यसि, तथापि कोपं मा उपागमः ॥ ४० ॥ युग्मम् ।

यदिन्दिरा सुन्दरि वीक्षिता ततः,
स्त्रियो नदीनप्रभवा अवाप्स्यति ।
कलाभृदिष्टाः कमलङ्गताः परः-
शतास्तयैवोपमिताः सुतस्तव ॥ ४१ ॥

यदि० हे सुंदरि! यत् त्वया इन्दिरा लक्ष्मीर्वीक्षिता दृष्टा, ततस्तस्मात् कारणात् तव सुतः परःशताः शतसहस्राधिकाः तयैव इन्दिरया उपमिता उपमानं प्रापिताः स्त्रियः आप्स्यति प्राप्स्यति, किंविशिष्टाः स्त्रियः नदीनप्रभवाः नदीनो हीनः प्रभव उत्पत्तिर्यासां सा लक्ष्मीः, पक्षे नदीनां इनः स्वामी समुद्रस्तस्मात् प्रभवो यस्याः सा, अत्र अर्थवशात् विभक्तिपरिणामो लक्ष्म्या विशेषणो ज्ञेयः, पुनः किंविशिष्टाः स्त्रियः? कलाभृदिष्टाः कलाभृतः कलावन्तस्तेषां इष्टा अभीष्टाः लक्ष्मीः पक्षे कलाभृच्चन्द्रस्तस्येष्टा रात्रौ लक्ष्म्याश्चन्द्रमण्डलवासित्वात् कमलङ्गताः कं सुखं अलं अत्यर्थं गताः. पक्षे कमलं पद्मं गता स्थिता ॥ ४१ ॥

बलाधिकत्वाच्चलिते हरेर्हृदि,
प्रसह्य भग्ने युधि राजमण्डले ।
अनेन पद्मां कृशिते कुशेशये,
चमूरजोभिः स्थगिते पयोनिधौ ॥ ४२ ॥

सुतस्तवैवास्ति गतिर्ममाधुना,
तवेति वा जल्पितुमाययावसौ ।
स्वजातिधौरेयमनुप्रविश्य य-
त्प्रभुप्रसादाय यतेत धीरधीः ॥ ४३ ॥ युग्मम् ।

बला० असौ इन्दिरा हे प्रिये! वा अथवा तव इति जल्पितुं किं आययौ आयाता तव इति अत्र विवक्षातः, कारकाणीति षष्ठी ज्ञेया, अन्यथा शमिति स्यात्, इतीति किं? मम तावच्चत्वारि स्थानानि एकं हरिहृदयं, द्वितीयं चन्द्रमण्डलं, तृतीयं कमलं, चतुर्थं समुद्रः। अनेन तव पुत्रेण इति सर्वत्र योज्यते, बलाधिकत्वात् बलस्याधिक्यात् हरेर्वासुदेवस्य हृदि चलिते सति बलो बलभद्रः बलं सैन्यं वा हरेरेक एव बलः, अस्य तु बलाधिकत्वमिति भावः, प्रसह्य बलात्कारेण राजमण्डले राजसमूहे चन्द्रमण्डले वा युधि संग्रामे भग्ने सति पद्भ्यां चरणाभ्यां कुशेशये कमले कृशिते ग्लानिं प्रापिते सति चमूरजोभिः पयोनिधौ समुद्रे स्थगिते सति ॥ ४२ ॥ एवं चतुर्णां स्थानानां अभावे मम अधुना तवैव सुतो गतिराधारोऽस्ति, यत् यस्मात् कारणात् धीरधीः धीरबुद्धिः पुमान् स्त्री वा स्वजातिधौरेयं अनुप्रविश्य प्रभुप्रसादाय स्वामिनं प्रसन्नीकर्तुं यतते उपक्राम्यति ॥ ४३ ॥ युग्मम्।

स्वसौरभाकर्षितषट्पदाध्वगा,
स्रगालुलोके यदि कौसुमी त्वया।
ततः सुतस्ते निजकीर्तिसौरभा-
वलीढविश्वत्रितयो भविष्यति ॥ ४४ ॥

स्वसौ० हे प्रिये! यदि त्वया कौसुमी कुसुमसंबन्धिनी स्रग् माला आलुलोके दृष्टा, किंलक्षणा स्रक्? स्वसौरभाकर्षितषट्पदाध्वगा, आत्मीयपरिमलेनाकृष्टा भ्रमरा एव अध्वगाः पान्थ

-यया सा०, तया ततस्तस्मात् कारणात् ते तव सुतो निजकीर्त्तिसौरभावलीढविश्वत्रितय आत्मीयकीर्तिपरिमलेन व्याप्तत्रिभुवनो भविष्यति ॥ ४४ ॥

अयं विवादे ननु दानविद्यया,
विजेष्यते नश्चिरशिक्षितानपि ।
इयं भियेतीव सुरद्रुभिर्भव-
द्भुवो ददे दण्डपदेऽथवा किमु ॥ ४५ ॥

अयं० अथवा सुरद्रुभिः कल्पवृक्षैः इयं स्रग् भवद्भुवस्तव पुत्रस्य किमु दण्डपदे ददे दत्ता । उत्प्रेक्ष्यते—इति भिया ईदृग् भयेनेव, इतीति किं? अयं तव पुत्रो ननु निश्चितं चिरशिक्षितानपि नो अस्मान् दानविद्यया विजेष्यते 'पुरावेर्जे' इति सूत्रेणात्मनेपदम्' ॥ ४५ ॥

भवान् ममादेशवशो भवेद्गृही,
गृहीतदीक्षस्य च नास्मि ते प्रभुः ।
वदन्निदं वानुगभृङ्गनिःस्वनैः,
स्मरोऽस्य रोपं व्यसृजत् स्रजश्छलात् ॥ ४६ ॥

भवा० हे प्रिये ! वा अथवा स्मरः कन्दर्पः अस्य तव पुत्रस्य अनुगभृङ्गनिःस्वनैः पृष्ठस्थभ्रमरशब्दैरिदं वदन् स्रजो मालाया च्छलात् रोपं बाणं व्यसृजत् प्रहितवान्, इदमिति किं? भवान् गृही गृहस्थः सन् ममादेशवशो भवेत् वशेन भवितव्यमिति भावः, च अन्यत् गृहीतदीक्षस्य ते तव अहं प्रभुः समर्थो नास्मि ॥ ४६ ॥

यदिन्दुरापीयत पार्वणस्त्वया,
ततः सुवृत्तो रजनीघनच्छविः।
सदा ददानः कुमुदे श्रियं कला-
कलापवांस्ते तनयो भविष्यति ॥ ४७ ॥

यदि० हे प्रिये! त्वया यत् पार्वणः पूर्णिमासंबन्धी इन्दुश्चन्द्रः आपीयत पीयते स्म, किंलक्षण इन्दुः? सुवृत्तो वृत्ताकारः, रजनीघनच्छविः रजन्यां बहुकान्तिः, कुमुदे कैरवे सदा श्रियं ददानः कलाकलापवान् कलासमूहयुक्तः तत् तस्मात् कारणात् सुवृत्तः सुचरित्रः रजनीघनच्छविः, कुमुदे काः पृथिव्याः मुदे हर्षाय सदा श्रियं शोभां ददानः कलाकलापवान् गीतवाद्यनृत्यगणितपठितलिखितादिभिः द्वासप्ततिकलाभिर्युक्त एवंविधस्ते तव तनयो भविष्यति ॥ ४७ ॥

त्वदाननस्पर्धि सरोजमोजसा,
निमीलयिष्यामि तयाधिकश्रिये।
तव श्रयिष्यामि सितातपत्रता-
ममुक्तमुक्तामिषतारतारकः ॥ ४८ ॥
परं रुजन् राजकमाजिभाजिनं,
न राजशब्दं मम मार्ष्टुमर्हसि।
इतीव विज्ञापयितुं रहो रया-
दुपस्थितोऽयं तनयं तवाथवा ॥ ४९ ॥

त्व० अथवा अयं चन्द्रस्तव तनयं रह एकान्ते इति विज्ञापयितुमिव रयात् वेगात् उपस्थित आगतः, इतीति किं? हे

स्वामिन्! अहं त्वदाननस्पर्धि त्वदीयमुखस्पर्धाकारि सरोजं कमलं ओजसा बलेन तेजसा वा निमीलयिष्यामि, तया तव अधिकश्रिये अधिकशोभायै सितातपत्रतां श्वेतच्छत्रतां श्रयिष्यामि, किंविशिष्टो विधुः? अमुक्तमुक्तामिषतारतारकः न मुक्ता अमुक्ताः, अमुक्ता मुक्तामिषा मुक्ताफलरूपास्तारा मनोज्ञास्तारा तारका येन स० ॥ ४८ ॥ त्वं परं आजिभाजिनं संग्रामसेविनं राजकं राजसमूहं रुजन् भञ्जन् सन् समराजशब्दं अतः कारणात् मार्ष्टुं स्फेटयितुं न अर्हसि राजशब्देन चन्द्र उच्यते ॥ ४९ ॥ युग्मम् ।

दिशन्विकाशं गुणसद्मपद्मिनी-
मुखारविन्देषु सदा सुगन्धिषु ।
निरुद्धदोषोदयमात्मजस्तव,
प्रपत्स्यते धाम रवेरवेक्षणात् ॥ ५० ॥

दिश० हे प्रिये! रवेः सूर्यस्य अवेक्षणात् दर्शनात् तव आत्मजस्त्वत्सुतः धाम तेजः प्रपत्स्यते आश्रयिष्यति, किंविशिष्टं धाम? निरुद्धदोषोदयं निरुद्धदोषाया रात्रेः दोषाणां दूषणानां वा उदयो येन तत्, तव आत्मजः । किं कुर्वन् सदा सुगन्धिषु सुपरिमलेषु गुणानां विवेकादीनां सद्मसु स्थानेषु पद्मिनीनां स्त्रीणां मुखारविन्देषु मुखकमलेषु विकाशं दिशन्, रविपक्षे गुणास्तन्तवः पद्मिन्यः कमलिन्यः ॥ ५० ॥

उद्दिश्यतस्त्वत्तनयस्य तेजसा,
दिवाकरो दीप्तिदरिद्रतां गतः ।

मृगाक्षि मन्येऽबलयापि तत् त्वया,
सुदर्शनः स्वप्नपरंपरास्वयम् ॥ ५१ ॥

उदि० हे मृगाक्षि ! अहं एवं मन्ये उदिष्यतः उदयं प्राप्तुकामस्य त्वत्तनयस्य तव पुत्रस्य दिवाकरः सूर्यस्तेजसा दीप्तिदरिद्रतां कान्तिरहितत्वं गतः प्राप्तः, तत् तस्मात् कारणात् त्वया अबलयापि अयं सूर्यः स्वप्नपरंपरासु सुदर्शनः सुखेन दृश्यते, इति सुदर्शनो जातः ॥ ५१ ॥

मया नभःस्थालदशेन्धनेन ते,
विधातुरारात्रिककर्म भावि तत् ।
ममोर्ध्वगत्वं च महश्च मृश्यतां,
भवद्भुवं वक्तुमिदं स वाययौ ॥ ५२ ॥

मया० वा अथवा स रविः भवद्भुवं तव पुत्रं इदं वक्तुं आययौ आयातः । इदमिति किं? विधातुः ब्रह्मणो मया नभःस्थालदशेन्धनेन आकाशरूपस्थाले दीपसदृशेन ते तव आरात्रिककर्म भावि भविष्यति, तत् तस्मात्कारणात् मम ऊर्ध्वगतत्वं उच्चैर्गमनतां च अन्यत् महस्तेजो मृश्यतां सह्यतां मृषूच् क्षान्तौ एतस्य धातोः प्रयोगः ॥ ५२ ॥

ध्वजावलोकाद्दयिते तवाङ्गजो,
रजोभिरस्पृष्टवपुः कुसङ्गजैः ।
गमी गुणाढ्यः शिरसोऽवतंसतां,
कुले विशाले विपुलक्षणस्पृशि ॥ ५३ ॥

ध्वजा० हे दयिते ! ध्वजावलोकात् ध्वजदर्शनेन तवाङ्गजः

विशालो विस्तीर्णकुले वंशे गृहे वा शिरोऽवतंसतां मस्तकमुकुटत्वं गामी गमिष्यति, किंविशिष्टस्तव पुत्रो ध्वजश्च ? कुसङ्गजैः कुसंसर्गजातैः रजोभिः पापैः, पक्षे कुः पृथ्वी तस्याः सङ्गजैः रेणुभिरस्पृष्टवपुरस्पृष्टशरीरः, पुनः किं० गुणैर्विनयादिभिस्तन्तुभिर्वा आद्यः समृद्धः, किंविशिष्टे कुले ? विपुलक्षणस्पृशि विपुलो विस्तीर्णक्षण उत्सवो गृहविभागो वा तं स्पृशतीति विपुलक्षणस्पृक् तस्मिन् ॥ ५३ ॥

परिस्फुरन्तं दिवि केतुसंज्ञया,
निरीक्ष्य मां ते पृतनाग्रवर्तिनम् ।
विपक्षवर्गः स्वयमेव भङ्क्ष्यते,
युधेऽमुना तद्भव जातु नातुरः ॥ ५४ ॥
बिभर्तु गांभीर्यगुणं युवा भवा-
न्निधाय सर्वं मयि बालचापलम् ।
इति प्रजल्पन् कलकिंकिणीक्कणै-
रमुं किमागात्प्रियमित्रवत्स वा ॥५५॥ युग्मम् ।

परि० हे प्रिये ! वा अथवा स ध्वजः अमुं तव सुतं प्रियमित्रवत् किं आगात्, किं कुर्वन् ? ध्वजः कलकिंकिणीक्कणैः मनोज्ञक्षुद्रघंटिकाशब्दैरिति जल्पन्, इतीति किं ? ते तव पृतनाग्रवर्तिनं दिवि आकाशकेतुसंज्ञया केतुरिति नाम्ना मां परिस्फुरन्तं निरीक्ष्य दृष्ट्वा विपक्षवर्गः शत्रुसमूहः स्वयमेव भङ्क्ष्यते भग्नो भविष्यति, केतुशब्देन ध्वज उच्यते, धूमकेतुरपीति भावः, तत् तस्मात् कारणात् युधे संग्रामे अमुना विप-

क्षवर्गेण सह जातु कदाचिदपि आतुर उत्सुको न भव मा भूः ॥ ५४ ॥ भवान् युवा यौवनं प्राप्तः सन् सर्वं बालचापलं मयि निधाय मुक्त्वा गांभीर्यं गुणं बिभर्तु धरतु ॥ ५५ ॥ युग्मम् ।

न्यभालि कुम्भः करभोरु यत्त्वया,
ततः सुवृत्तः सुमनश्चयाञ्चितः ।
गतः सुतस्ते कमलैकपात्रता-
मभङ्गमाङ्गल्यदशां श्रयिष्यति ॥ ५६ ॥

न्यभा० हे करभोरु ! मणिबन्धात् कनिष्ठां यावत् करभ उच्यते, करभवत् ऊरू यस्याः सा करभोरु तस्याः संबो०, यत्त्वया कुंभो न्यभालि पूर्णकलशो दृष्टः तत् तस्मात् कारणात् ते तव सुतः कुम्भवत् अभङ्गमाङ्गल्यदशां श्रयिष्यति, किंविशिष्टः तव सुतः कुम्भश्च ? सुवृत्तः सच्चरित्रः सदाकारो वा सुमनश्चयाञ्चितः सुमनसां साधूनां पुष्पाणां वा चयेन समूहेन अञ्चितः पूजितः कमलैकपात्रतां कमलाया लक्ष्म्याः कमलस्य जलस्य वा एकपात्रतां स्थानकत्वं गतः प्राप्तः ॥ ५६ ॥

सुमङ्गलाङ्गी भवितुं तवर्द्धये,
विसोढवान् कारुपदाहतीरहम् ।
विवेश वह्नावनुभूयभूयसी-
श्चिराय दण्डान्वितचक्रचालनाः ॥ ५७ ॥

कृतज्ञ मद्दत्तजलैः प्रतीष्यतां,
ततस्त्वया चक्रिपदाभिषेचनम् ।

इतीहितं ज्ञापयितुं किमाययौ,
घटः स्फुटत्वं तनयस्य तेऽथवा ॥ ५८ ॥
युग्मम् ।

सुम० हे प्रिये ! अथवा घटः कुम्भः ते तव तनयस्य इति ईहितं ईप्सितं ज्ञापयितुं स्फुटत्वं प्रकटत्वं आययौ प्राप, इतीति किं? अहं तव ऋद्धये पुष्टये सुमङ्गलाङ्गी भवितुं कारुपदाहतीः कारुणां कुम्भकाराणां चरणाघातान् विसोढवान् सेहे, भूयसीः बह्वीश्चिराय चिरकालं दण्डान्वितचक्रचालनाः दण्डयुक्तचक्रोपरिचालनं अनुभूय वह्नौ अग्नौ विवेश प्रविष्टः ॥ ५७ ॥ तत् तस्मात् कारणात् हे कृतज्ञ चतुर! मद्दत्तजलैश्चक्रिपदाभिषेचनं चक्रवर्त्तिपदव्याः अभिषेकत्वं त्वया प्रतीष्यतां अङ्गीक्रियतां ॥ ५८ ॥ युग्मम् ।

सरः सरोजाक्षि यदैक्षि तेन ते,
सुतः सतोषैः सुवयोभिराश्रितः ।
प्रफुल्लपद्मोपगतो घनागमो-
रसं रसं धास्यति साधुपालियुक् ॥ ५९ ॥

सरः० हे सरोजाक्षि कमललोचने त्वया यत् सरः सरोवरं ऐक्षि दृष्टं तेन कारणेन ते तव सुतः सरोवरवत् रसं पानीयं शृङ्गारादिरसं वा धास्यति धरिष्यति, कथंभूतस्तव सुतः सरोवरं च? संतोषैः सहर्षैः सुवयोभिः प्रधानवयोभिर्मित्रैः प्रधानैर्वयोभिः पक्षिभिर्वा आश्रितः, प्रफुल्लपद्मोपगतः प्रफुल्लया विकस्वरया पद्मया लक्ष्म्या, पक्षे पद्मैः कमलैरुपगतः साधुपालि-

युक् साधूनां पालिः श्रेणिर्मनोज्ञा पालिर्वा तया युक्तः, किंविशिष्टं रसं? घनागमौरसं घनो बहुरागमः सिद्धान्तः, पक्षे घनागमा वर्षर्तुस्तस्मादौरसं उत्पन्नं ॥ ५९ ॥

मयैव जातानि मयैव वर्धिता-
न्यवाङ्मुखीभूय ममावतस्थिरे ।
इमानि पद्मानि रमानिवासता-
मवाप्य माद्यन्मधुपैश्च सङ्गतिम् ॥ ६० ॥
प्रशाधि विश्वाधिप किं करोम्यहं,
त्वमीशिषे मूढजनानुशासने ।
इदं वदंस्तत्त्वधियः कृते स्वयं,
जडस्तडागः किमुपास्त ते सुतम् ॥ ६१ ॥

युग्मम् ।

मयै० हे प्रिये! स्वयं जडो मूर्खः शीतलो वा तडाग इदं वदन् सन् तत्त्वधियः कृते परमार्थबुद्ध्यर्थं किं ते तव सुतं उपास्त सिषेवे, इदमिति किं? इमानि पद्मानि मयैव जातानि मयैव वर्धितानि रमानिवासतां लक्ष्म्याऽऽवासत्वं च अन्यत् माद्यन् मधुपैर्मदोन्मत्तभ्रमरैर्मद्यपैर्वा सङ्गतिं अवाप्य प्राप्य मम अवाङ्मुखीभूय अवतस्थिरे स्थितानि ॥ ६० ॥ हे विश्वाधिप! चक्रवर्त्तिन्! प्रशाधि शिक्षां देहि अहं किं करोमि त्वं मूढजनानुशासने मूर्खजनशिक्षणे ईशिषे समर्थो भवसि ॥६१॥ युग्मम् ।

निभालनान्नीरनिधेरधीश्वरः,
सरस्वतीनां रसपूर्तिसंस्पृशाम् ।

अलब्धमध्योऽर्थिभिराश्रितो घनैः,
सुतस्तवाऽत्येष्यति न स्वधारणाम् ॥ ६२ ॥

निभा० हे प्रिये ! त्वं नीरनिधेः समुद्रस्य निभालनात् दर्शनात् रसपूर्तिसंस्पृशां श्रृंगारादिरसस्पृशां, पक्षे रसस्य पानीयस्य पूरणस्पृशां सरस्वतीनां वाणीनां अधीश्वरः स्वामी अलब्धमध्यो गंभीरः घनैः बहुभिर्मेघैर्वा अर्थिभिराश्रितः एवंविधस्तव सुतः स्वधारणां निजमर्यादां न अत्येष्यति न अतिक्रमिष्यति ॥ ६२ ॥

प्रचेतसापि स्फुटपाशपाणिना,
कृपाणिना मध्यशयेन जिष्णुना ।
न राजनीतेः किल कूलमुद्रुजो,
न्यवारि मात्स्यः समयो भवन्मयि ॥ ६३ ॥
धरातलं धन्यमिदं त्वयि प्रभौ,
न यन्नयव्यत्ययदोषमाप्स्यति ।
इति स्ववीचिध्वनितैरिव स्तुवन्,
किमाविरासीत्पुरतोऽस्य वारिधिः ॥ ६४ ॥
युग्मम् ।

प्रचे० हे प्रिये ! वारिधिः समुद्रः अस्य तव पुत्रस्य पुरतोऽग्रे इति अमुना प्रकारेण स्ववीचिध्वनितैः स्वकल्लोलशब्दितैः स्तुवन्निव किं आविरासीत् प्रकटीबभूव, इतीति किं? स्फुटपाशपाणिना प्रकटपाशहस्तेन प्रचेतसापि वरुणेनापि कृपाणिना खड्गयुक्तेन मध्यशयेन मध्यवर्तिना जिष्णुना नारायणेन किल

इति सत्ये राजनीतेः कूलमुद्रुजः कूलंकषः मात्स्यः समयः मत्स्यगिलागिलिन्यायो मयि भवन् सन् न न्यवारि न वारितः ॥ ६३ ॥ इदं धरातलं पृथ्वीतलं धन्यं त्वयि प्रभौ स्वामिनि यत् नऽयतया दोषं न्यायविपरीतत्वदोषं न आप्स्यति न प्राप्स्यति ॥ ६४ ॥ युग्मम् ।

प्रिये विमानेन गतेन गोचरं,
समीयुषाऽऽभोगसमं समुच्छ्र्यम् ।
उदारवृन्दारकवल्लभश्रिया,
भवद्भुवा भाव्यमदभ्रवेदिना ॥ ६५ ॥

प्रिये० हे प्रिये! विमानेन गोचरं गतेन पृष्टेन सता भवद्भुवा तव पुत्रेण विमानसदृशेन भाव्यं, किंविशिष्टेन तव पुत्रेण? विमानेन भोगसमं भोगसदृशं, पक्षे आभोगसमं विस्तारसदृशं समुच्छ्र्यं वृद्धिं समीयुषा प्राप्तेन, पुनः किं० उदारवृन्दारकवल्लभाश्रिया उदारा दातारस्तन्मध्ये वृन्दारका देवसदृशास्तेषां वल्लभाः श्रीर्लक्ष्मीर्यस्य, पक्षे उदाराः प्रौढा वृन्दारका देवास्तेषां वल्लभाः श्रीः शोभा यस्य स तेन, पुनः किं० अदभ्रवेदिना अदभ्रं बहु वेत्ति जानातीति अदभ्रवेदी तेन, पक्षे अदभ्रा वेदिर्विलमी यस्य स तेन ॥ ६५ ॥

पुराश्रितं मां परिहृत्य यन्महीं,
पुनासि पंकेरुहतापदैः पदैः ।
करत्र हेतुर्मयि दोषसंभवो,
विरागता वा चिरसंस्तवोद्भवा ॥ ६६ ॥

नवीनपुण्यानुपलम्भतोऽथ चे-
द्विरक्तिरंचिष्यसि तत्कथं शिवम् ।
प्रसीद मामेह्यथवोपयुज्यते,
चटूक्तिरस्नेहरसे न सेतुवत् ॥ ६७ ॥
यदि त्वयाऽत्यज्यत हन्त ताविषो,
विषोपमः सोऽस्तु न तन्ममापि किम् ।
किमित्यमुष्यानुपदीनमागतं,
सुधाशिधामानुनयाय तन्वि वा ॥ ६८ ॥
त्रिभिर्विशेषकम् ।

पुरा० हे तन्वि वाथवा सुधाशिधाम अमरविमानं किं इति अमुना प्रकारेण अमुष्य तव पुत्रस्य अनुनयाय स्नेहकरणाय अनुपदीनं पृष्टलग्नं आगतं, इतीति किं ? हे स्वामिन् त्वं पुराश्रितं मां परिहृत्य त्यक्त्वा रुहतापदैः कमलानां तापं संतापं ददतीति पंकेरुहतापदास्तैः पंकेरुहतापदैः, पदैश्चरणैः महीं पृथ्वीं पुनासि पवित्रीकरोषि, अत्र मयि विषये दोषसंभवः को हेतुः, वा अथवा चिरसंस्तवोद्भवा चिरकालीनपरिचयोत्पन्ना विरागता वैराग्यं वर्त्तते ॥ ६६ ॥ अथ चेत् यदि नवीनपुण्यस्यानुपलम्भतः अवाप्तेर्विरक्तिर्वर्त्तते, तत् शिवं मोक्षं कथं अंचिष्यसि यास्यसि, प्रसीद प्रसादं कुरु मां एहि अथवा अस्नेहरसे निस्नेहे पुरुषे चटूक्तिश्चाटुवचनं सेतुवत् पालिवत् नोपयुज्यते नोपयोगे सति ॥ ६७ ॥ यदि त्वया हन्त इति वितर्के, विषः स्वर्गोऽत्यजत त्यक्तः सता विषस्तत् तस्मात्

कारणात् स स्वर्गो ममापि विषोपमो न अस्तु अपि तु अस्त्वेव वा ॥ ६८ ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ।

विलोकिते रत्नगणे स ते सुतः,
स्थितौ दधानः किल काञ्चनौचितीम् ।
उदंशुमत्रासमुपास्य विग्रहं,
महीमहेन्द्रैर्महितो भविष्यति ॥ ६९ ॥

विलो० हे प्रिये! किल इति सत्यं स ते तव सुतः रत्नगणे रत्नसमूहे विलोकिते दृष्टे सति रत्नगणवत् उदंशुं उद्गतकिरणं अत्रासं भयरहितं दवरकरहितं वा विग्रहं युद्धं शरीरं वा समुपास्य संसेव्य महामहेन्द्रैः पृथ्वीसत्कराजभिः महितः पूजितो भविष्यति, किं कुर्वाणः त्वत्सुतो रत्नगणश्च स्थितौ मर्यादायां काञ्चन अपूर्वां औचितीं दधानः, पक्षे स्थितौ अवस्थाने काञ्चने सुवर्णे औचितीं दधानः ॥ ६९ ॥

न रोहणे कर्कशतागुरौ गिरौ,
न सागरे वाऽनुपकारिवारिणि ।
अहं गतो निर्मलधामयोग्यतां,
शुचौ समीहे तव धाम्नि तु स्थितिम् ॥ ७० ॥

परार्थवैयर्थ्यमलीमसं जनुः,
पुनीहि मे संततदानवारिणा ।
तवेति वा प्रार्थयितुं स गर्भगः,
सुखं सिषेवे किमु रत्नराशिना ॥ ७१ ॥

युग्मम् ।

न० हे प्रिये ! वा अथवा तव स गर्भगः पुत्रः रत्नराशिना इति प्रार्थयितुं किमु इति किं सुखं सिषेवे सेवितः, इतीति किं अहं कर्कशतागुरौ काठिन्यगरीयसि रोहणगिरौ रोहणाचले वा अथवा अनुपकारिणि उपकाररहिते जले सागरे समुद्रमध्ये निर्मलधामयोग्यतां निर्मलस्य धाम्नः स्थानकस्य योग्यतां न गतः न प्राप्तः, तु पुनः शुचौ पवित्रे तव धाम्नि स्थितिं समीहे ॥ ७० ॥ हे स्वामिन् ! परार्थवैयर्थ्यमलीमसं परोपकारस्य निरर्थकत्वेन न मलिनं मे जनुर्मदीयं जन्म सन्ततदानवारिणा निरंतरदानरूपजलेन पुनीहि पवित्रं कुरु ॥ ७१ ॥ युग्मम् ॥

स्फुरन्महाः प्राज्यरसोपभोगतो,
गतो न जाड्यं द्युतिहेतुहेतिभृत् ।
तव ज्वलद्वह्निविलोकनात्सुतो,
द्विषः पतङ्गानिव धक्ष्यति क्षणात् ॥ ७२ ॥

स्फुर० हे प्रिये ! तव सुतः ज्वलद्वह्निविलोकनात् निर्धूमवैश्वानरदर्शनात् द्विषः शत्रून् पतङ्गानिव क्षणात् धक्ष्यति भस्मीकरिष्यति । किं विशिष्टस्तव सुतः । वह्निश्च ? प्राज्यरसोपभोगतः प्राज्या प्रभूता रसा पृथ्वी, पक्षे प्रकृष्टः आज्यरसः तस्याश्च तस्य उपभोगतः स्फुरन्महाः प्रसरत्तेजाः, पुनः किंलक्षणं जाड्यं ? जडत्वं मूर्खत्वं शीतत्वं वा न गतः, द्युतिहेतुहेतिंभृत् द्युतिहेतवो हेतयः प्रहरणानि ज्वाला वा ता धरतीति द्युति० ॥ ७२ ॥

प्रभो न मां कोऽप्युपलक्षयिष्यति,
क्षितौ चिराद्गोचरमागतोऽस्मि यत् ।

मनुष्व मूर्तिं मम तैजसीमिमां,
महानसि स्थापय तन्महानसे ॥ ७३ ॥
जने जिघत्सौ यदतीव जीवनं,
मयैव तद्भक्ष्यमुपस्करिष्यते ।
इति स्वरूपं किममुष्य भाषितुं,
भुवि प्रविश्यन्ननलोऽस्फुरत्पुरः ॥ ७४ ॥
युग्मम् ।

प्रभो० अनलो वैश्वानरः अमुष्य तव पुत्रस्य इति भाषितुं भुवि पृथिव्यां प्रविश्यन् प्रवेष्टुकामः सन् पुरोऽग्रे अस्फुरत्, इतीति किं? हे प्रभो! क्षितौ पृथिव्यां मां कोऽपि न उपलक्षयिष्यति यत् अहं चिरात् गोचरं दृष्टिमार्गं आगतोऽस्मि, मम इमां तैजसीं मूर्तिं मनुष्व जानीहि, त्वं महान् असि, तत् तस्मात् कारणात् मां महानसे पाकस्थाने स्थापय । जिघत्सौ बुभुक्षिते जने लोके यद्भक्ष्यं अतीव जीवनं वर्त्तते तद्भक्ष्यं मयैवोपस्करिष्यते ॥ ७३—७४ ॥ युग्मम् ॥

सुदुर्वचं शास्त्रविदामिदं मया,
फलं स्वसंवित्तिबलादलापि ते ।
दुरासदं यद् व्यवसायसोष्मणां,
सुखं तदाकर्णनमात्रिकोऽश्नुते ॥ ७५ ॥

सुदु० हे प्रिये! इदं स्वप्नफलं मया ते तव स्वसंवित्तिबलात् स्वीयज्ञानबलात्, अलापि प्रोक्तं, किंलक्षणं स्वप्नफलं? शास्त्रविदां सुदुर्वचं वक्तुमशक्यं व्यवसायसोष्मणां व्यवसाय-

सोष्मणां सगर्वाणां यद्वस्तु दुरासदं दुःप्रापं वर्त्तते तद्वस्तु आकर्षणमान्त्रिक आकृष्टिमन्त्रिज्ञाः सुखं अश्नुते प्राप्नोति ॥ ७५ ॥

व्यलीकता दूषणमुत्तमे न मे,
सुखप्रियत्वेन गिरोऽधिरोप्यताम् ।
सुवर्णनाम्ना हि समर्पिता रिरी
भवेत्स्वरूपाधिगमेऽधिकार्तये ॥ ७६ ॥

व्यली० हे उत्तमे ! त्वं मे मम गिरो वाण्या सुखप्रियत्वेन व्यलीकता अलीकत्वदूषणं न अधिरोप्यतां मा स्थाप्यतां, रिरी पित्तला हि निश्चितं सुवर्णनाम्ना समर्पिता समीपस्वरूपाधिगमे स्वरूपे ज्ञाते सति अधिकार्त्तये अधिकपीडायै भवेत् ॥ ७६ ॥

इदं वदन्तं भगवन्तमन्तरा-
लयं नभःस्था ऋभवो भवन्मुदः ।
सुमैरसिञ्चन् जय संशयक्षया-
मयागदंकारवरेति वादिनः ॥ ७७ ॥

इदं० नभःस्था आकाशस्था ऋभवो देवाः भवन्मुदो जायमानहर्षाः सन्तः अन्तरालयं आवासस्य अन्तर्मध्ये इदं वदन्तं भगवन्तं सुमैः कुसुमैरसिञ्चन्, किंलक्षणा ऋभवः ? हे संशयक्षयामयागदंकारवर ! संदेहरूपक्षयरोगस्य राजवैद्य त्वं जय इति वादिनः ॥ ७७ ॥

श्रुत्वेदं दयितवचः प्रमोदपूर्त्या,
दध्रे सा समुदितकंटकं वपुः स्वम् ।

पद्मिन्या निजमुखमित्रपद्ममातु-
र्न्यक्कर्तुं किमिह स कंटकत्वदोषम् ॥ ७८ ॥

श्रुत्वे० सा सुमङ्गला इदं दयितवचः स्वभर्तुः श्रीऋषभदेववचनं श्रुत्वा प्रमोदपूर्त्या हर्षपूरेण स्वं वपुरात्मीयं शरीरं समुदितकंटकं उद्गतरोमाञ्चं दध्रे धरति स्म, किं कर्तुं ? निजमुखमित्रपद्ममातुः आत्मीयमुखसत्कमित्रकमलस्य जनन्याः पद्मिन्या इह जगति किं सकण्टकत्वदोषं न्यक्कर्तुं निराकर्तुं ॥ ७८ ॥

तामेकतोऽमृतमयीमभितश्चकार,
स्वप्नार्थसम्यगुपलब्धिभवः प्रमोदः ।
चक्रेऽन्यतश्च दवदाहमयीं विषादः,
प्राणेशितुर्वचनपानविरामजन्मा ॥ ७९ ॥

तामे० स्वप्नार्थसम्यगुपलब्धिभवः स्वप्नानां अर्थस्य सम्यक् प्राप्तेरुत्पन्नप्रमोदतां सुमङ्गलां अभितः समंततः एकतोऽमृतमयीं चकार, अन्यतश्च प्राणेशितुः श्रीऋषभदेवस्य वचनपानविरामजन्मा वचनरूपामृतस्य पानं तस्य विरामे निवर्त्तनं, तस्माद् उत्पन्नो विषादो दवदाहमयीं चक्रे ॥ ७९ ॥

न हि यदिह करिष्यद्वक्षसोऽस्याः स्तनाख्यं
यदि तरुणिमशिल्पी मण्डपद्वन्द्वमुच्चैः ।
तदिह कथममास्यल्लास्यलीलां दधानं
प्रभुवचनसुधाप्तिस्फीतमानन्दयुग्मम् ॥ ८० ॥

इति ।

न० तरुणिमशिल्पी यौवनरूपविज्ञानी अस्याः सुमङ्गलायाः स्तनाख्यं मण्डपद्वन्द्वं उच्चैरत्यर्थं यदि वक्षसो हृदयात् बहिर्न हि अकरिष्यत्, तत्तदा इह वक्षसि आनन्दयुग्मं कथं अमास्यत्, किं कुर्वाणमानन्दयुग्मं? लास्यस्य ताण्डवस्य लीलां दधाने, पुनः किंवि० प्रभुवचनसुतासिस्फीतं श्रीऋषभदेव-वचनं सुतासिश्च ताभ्यां मोदं ॥ ८० ॥

इति श्रीमदचलगच्छे कविचक्रवर्तिश्रीजयशेखरसूरिविरचिते श्रीजैनकुमारसंभवस्य तच्छिष्यश्रीधर्मशेखरसूरिविरचित-टीकायां श्रीमाणिक्यसुन्दरसूरिशोधितायां नवमसर्गव्याख्या समाप्ता ॥ ९ ॥

अथ दशमः सर्गः ।

साथ नाथवदनारविन्दतो,
वाङ्मरन्दमुपजीव्य निर्भरम् ।
उज्जगार मृदुमंजुलां गिरं,
गौरवादिति सदालिवल्लभा ॥ १ ॥

साथ० अथानन्तरं सा सुमङ्गला गौरवात् मृदुमञ्जुलां सुकुमारां मनोज्ञां गिरं वाणीं उज्जगार उद्गिरति स्म, किंलक्षणा सुमङ्गला? सदालिवल्लभा सदा सर्वदा आलयः सख्यः तासां वल्लभा अभीष्टा अलिवल्लभा भ्रमरीसमाना, किं कृत्वा? नाथ-वदनारविन्दतो स्वामिनो मुखकमलात् वाङ्मरन्दं वचन-मकरन्दं निर्भरं उपजीव्य ॥ १ ॥

लब्धवर्णजनकर्णकर्णिका,
वाञ्छितार्थफलसिद्धिवर्णिका ।

दीधितिर्घृतजडिम्नि पावकी,
वाग्विभो जयति कापि तावकी ॥ २ ॥

लब्ध० हे विभो! स्वामिन् कापि तावकी त्वदीया वाक् जयति, किंलक्षणा वाक्? लब्धवर्णजनकर्णकर्णिका लब्धवर्णजना विद्वज्जनास्तेषां कर्णयोः कर्णिका कर्णाभरणं, पुनः किं० वाञ्छितार्थफलसिद्धिवर्णिका स्पष्टं, पुनः किं०? घृतजडिम्नि घृतजाड्ये पुरुषे पावकी पावकस्येयं पावकी वह्निसंबन्धिनी दीधितिः कान्तिः ॥ २ ॥

रूपमीश समकं दिदृक्षते,
तावकं यदि सहस्रलोचनः ।
ईहते युगपदञ्चनं च ते,
चेत्सहस्रकर एव नापरः ॥ ३ ॥

रूप० हे ईश! तावकं रूपं यदि दिदृक्षते विलोकयितुमीहते तर्हि सहस्रलोचन इन्द्र एव नापरः दिदृक्षते इत्यत्र "स्मृदृशः" इति व्याकरणसूत्रेण आत्मनेपदं, च अन्यत् चेत् यदि ते तव युगपदं वनं युगपत् समकालं अञ्चनं पूजनं ईहते वाञ्छति, तदा सहस्रकरसूर्य एव न अपरः ॥ ३ ॥

यो बिभर्ति रसनासहस्रकं,
व्याहतत्वमधिरोप्य सोऽप्यलम् ।
देव वक्तुमखिलान्न ते गुणा-
न्मादृशः किमबलाजनः पुनः ॥ ४ ॥

यो० हे देव! यो व्याहतत्वं द्विगुणत्वं अधिरोप्य रसना-

सहस्रकं जिह्वासहस्रं अधिरोप्य बिभर्त्ति, सोऽपि शेषनागः तव अखिलान् समस्तान् गुणान् वक्तुं न अलं न समर्थः, मादृशो मत्सदृशः अबलाजनः किं पुनः ॥ ४ ॥

धीधनोचितभवद्गुणस्तवा-
द्वारकेऽपि निजजाड्यचिन्तने ।
उच्यते किमपि नाथ यन्मया,
भक्तितन्मयतयाऽवधार्यताम् ॥ ५ ॥

धी० हे नाथ ! यन्मया निजजाड्यचिंतने आत्मीयमूर्खत्वचिन्तने धीधनोचितभवद्गुणस्तवात् विद्वज्जनयोग्यत्वदीयगुणस्तवात् वारकेऽपि सति किमपि उच्यते कथ्यते, तत् भक्तितन्मयतया अवधार्यतां ज्ञायतां ॥ ५ ॥

स्वादुतां मृदुलतामुदारतां,
सर्वभावपटुतामकूटताम् ।
शंसितुं तव गिरः समं विधिः,
किं व्यधान्न रसनागणं मम ॥ ६ ॥

स्वादु० हे नाथ ! विधिर्विधाता तव गिरो वाण्यः स्वादुतां सुस्वादुत्वं मृदुलतां सौकुमार्यत्वं, उदारतां औदार्यं सर्वभावपटुतां सर्वभावेषु पटिष्ठतां, अकूटतां सत्यतां, समं समकालं, शंसितुं स्तोतुं मम रसनागणं, जिह्वासमूहं किं न व्यधात् न अकरोत् ॥ ६ ॥

किन्तु ते हृदि गभीरतागुणं,
शिक्षितुं वसति दुग्धसागरः ।

ईदृगुक्तिपयसां यदूर्मयो,
विस्फुरन्ति बहिराननाध्वना ॥ ७ ॥

कि० यत् ईदृग् उक्तिपयसां ईदृशवचनदुग्धानां उर्म्मयः कल्लोला आननाध्वना मुखमार्गेण बहिर्विस्फुरन्ति प्रसरन्ति ॥७॥

स्वस्थमेव सुखयन्त्यहो जनं,
दुःखितेष्वपि सुखं ददानया ।
बिभ्यतीव भवतो जिता गिरा,
किं सुधा न वसुधामियर्ति सा ॥ ८ ॥

स्वस्थ० हे नाथ ! भवतो गिरा त्वदीयवाण्या जिता सती सा सुधा वसुधां पृथ्वीं किं न इयर्त्ति नागच्छति, उत्प्रेक्ष्यते—बिभ्यतीव भयभ्रान्तेव, किं कुर्वाणया तव गिरा ? अहो इत्याश्चर्ये दुःखितेष्वपि सुखं ददानया, किं कुर्वती सुधा ? स्वस्थमेव स्वर्गस्थं सुखिनमेव जनं सुखयन्ती ॥ ८ ॥

वैधवं ननु विधिर्न्यधात्सुधा-
सारमत्र सकलं भवद्गिरि ।
पूर्णिमोपचितदेहमन्यथा,
तं कथं व्यथयति क्षयामयः ॥ ९ ॥

वैध० हे नाथ ! विधिर्विधातो वैधवं विधोरिन्दोः वैधवं चन्द्रसत्कं सुधासारं, सकलं संपूर्णं, अत्र अस्यां भवद्गिरि त्वद्वाण्यां न्यधात् क्षिप्तवान्, अन्यथा क्षयामयः क्षयरोगः तं चन्द्रं पूर्णिमोपचितदेहं पूर्णिमायां पुष्टदेहं कथं व्यथयति पीडयति ॥ ९ ॥

बद्धधारममृतं भवद्वचो
निर्व्यपायमभिपीय साम्प्रतम् ।
प्रीतिभाजिनि जनेऽत्र नीरसा,
शर्करापि खलु कर्करायते ॥ १० ॥

बद्ध० हे नाथ ! शर्करा अपि अत्र मल्लक्षणे जने नीरसा सती, सांप्रतं अधुना खलु निश्चितं कर्करायते कर्करवदाचरति, किं-विशिष्टे जने ? बद्धधारममृतं भवद्वचः निर्व्यपायं निर्विघ्नं यथा भवति तथा अभिपीय पीत्वा प्रीतिभाजिनि ॥ १० ॥

प्राक्कषायकलुषं ततो घनं,
घोलनार्पितरसं विनाशि यत् ।
तद्रिपूकृतघनागमं समं,
नाम्रमीशवचसामनीदृशाम् ॥ ११ ॥

प्राक्० तत् आम्रं आम्रफलं ईशवचसां स्वामिनो वचनानां समं सदृशं न भवति, किंविशिष्टानां ईशवचसां अनीदृशां न अनेन आम्रफलेन सदृशानां, किंविशिष्टं आम्रं ? रिपूकृत-घनागमं रिपुः कृतो घनागमो वर्षर्तुः सिद्धान्तो वा येन तत्, भगवद्वचनमागमं मन्यते, अत एव अनीदृशत्वं, यत् आम्रफलं प्राक् पूर्वं कषायकलुषं भगवद्वचो नैवंविधं स्यात्, ततस्ततोऽनन्तरं यत् आम्रं घनं अत्यर्थं घोलनार्पितरसं विनाशि विनश्वरं वर्त्तते ॥ ११ ॥

द्राक्षया किल यदानुशिक्ष्यते,
स्वं फलं मधुरतां भवद्गिरः ।

तत्तदा द्रुतमितो वियोज्यते,
वेधसा ध्रुवममन्दमेधसा ॥ १२ ॥

द्राक्ष० हे नाथ! किल इति सत्ये, स्वं फलं आत्मीयफलं भवद्भिरः त्वदीयवाण्या मधुरतां अनुशिक्ष्यते तदा तस्मिन्नवसरे तत्फलं इतो द्राक्षावल्लीतः द्रुतं शीघ्रं अमन्दमेधसा बहुप्रज्ञावता मेधसा ब्रह्मणा ध्रुवं निश्चितं वियोज्यते पृथक्क्रियते ॥ १२ ॥

वारिवाहवदलं तव श्रवः-
पल्वलप्रमभिवर्षतः सतः ।
निश्यधीश शममाम मामकं,
संशयान्धतमसं तदद्भुतम् ॥ १३ ॥

वारि० हे अधीश! तव वारिवाहवत् मेघवत् अलं अत्यर्थं श्रवःपल्वलं अत्र णमप्रत्यये 'वृष्टिमाने ऊलुक् च वा' इति सूत्रेण पूर् इत्यस्य ऊलोपे एष प्रयोगः स्यात्, रसं कर्णसरःपूरं यथा भवति तथा अभिवर्षतः सतः, निशि रात्रौ मामकं मदीयं संशयान्धतमसं संदेहान्धकारं शमं आम जगाम, तत् अद्भुतं आश्चर्यं ॥ १३ ॥

निर्गतं यदि तवाननाद्वचः,
क्षीणमेव तदशेषसंशयैः ।
कोशतोऽसिरुदितो भटस्य चे-
न्नष्टमेव तदसत्वदस्युभिः ॥ १४ ॥

निर्ग० हे नाथ! यदि तवाननात् त्वद्वचो निर्गतं तत् अशेष-

संशयैः समस्तसन्देहैः क्षीणमेव, चेत् यदि कोशतः परीवारात् भटस्य असिः खड्गः उदितो निर्गतः स्यात्, तत् असत्त्वदस्युभिर्निःसत्त्वशत्रुभिः नष्टमेव ॥ १४ ॥

तावकेऽपि वचने श्रुतिं गते,
यस्य मानसमुदीर्ण संशयम् ।
मुष्टिधामनि मणौ सुधाभुजां,
तस्य हन्त न दरिद्रता गता ॥ १५ ॥

ताव० हे नाथ! तावकेऽपि वचने श्रुतिं कर्णं गते सति यस्य मानसं चित्तं उदीर्णसंशयं गतसंदेहं न वर्त्तते, तस्य पुंसो मुष्टिधामनि मुष्टिस्थिते सुधाभुजां मणौ चिंतामणौ हंत इति वितर्के दरिद्रता न गता ॥ १५ ॥

यत्त्वयौच्यत तथैव तन्महे,
तन्महेश निजहृद्यसंशयम् ।
कम्पते किल कदापि मन्दरो,
मन्दरोष न पुनर्वचस्तव ॥ १६ ॥

यत्त्व० हे महेश! यत् त्वया औच्यत प्रोक्तं तत् तथैव असंशयं निःसन्देहं वयं तन्महे विस्तारयामः, 'अविशेषणे द्वौ चास्मद' इति पदेन एकवचने बहुवचनं, किल इति सत्ये हे मन्दरोष! मन्दरो मेरुः कदापि कम्पते, पुनस्तव वचो न कम्पते ॥ १६ ॥

शैलसागरवनीभिरस्खल-
त्पक्ष्ममात्रमिलनान्नियंत्रितम् ।

ज्ञानमेकमनलीकसङ्गतं,
नेत्रयुग्ममतिशय्य वर्तते ॥ १७ ॥

शैल० हे नाथ ! एकं ज्ञानं नेत्रयुग्मं अतिशय्य जित्वा वर्त्तते, किंलक्षणं ज्ञानम् ? अनलीकसङ्गतं नेत्रयुग्मं तु अलीकेन ललाटेन संगतं मिलितं भवति, पुनः किं० शैलसागरवनीभिरस्खलत् पर्वतसमुद्रमहद्वनादिभिः स्खलनां न प्राप्नुवन्, किंलक्षणं नेत्रयुग्मं ? पक्ष्ममात्रमिलनान्नियंत्रितं स्पष्टं ॥ १७ ॥

पात्रतैलदशिकादिभिर्ज्वल-
न्निःसहायमधिकायितस्य ते ।
अश्नुते न खलु कज्जलध्वज-
श्चिन्मयस्य महसः शतांशताम् ॥ १८ ॥

पात्र० हे नाथ ! कज्जलध्वजो दीपः खलु निश्चितं ते तव चिन्मयस्य ज्ञानरूपस्य महसस्तेजसः शतांशतां न अश्नुते न प्राप्नोति, किंविशिष्टो दीपः ? पात्रतैलदशिकादिभिः पात्रतैलवर्त्तिप्रमुखैरुपकरणैर्ज्वलत् दीप्यमानः, किंविशिष्टस्य महसः ? निःसहायं साहायरहितं यथा भवति तथा अधिकायितस्य आधिक्यं प्राप्तस्य ॥ १८ ॥

सर्वतो विकिरतोऽपि कौमुदीं,
यस्य शाम्यति न कालिमा हृदः ।
स स्पृशत्यपि न ते तमस्विनी-
वल्लभः स्वपरभासि चिन्महः ॥ १९ ॥

सर्व० सर्वतः सर्वपार्श्वतः कौमुदीं ज्योत्स्नां विकिरतोऽपि

विस्तारयतोऽपि यस्य चन्द्रमसः हृदो हृदयसंबन्धिकालिमा न शाम्यति, स तमस्विनीवल्लभश्चन्द्रस्ते तव चिन्महो ज्ञानतेजः स्पृशत्यपि न, किं किंचिन्महः स्वपरं भासि स्वस्य आत्मनः परस्य अन्यस्य भासि प्रकाशकं ॥ १९ ॥

जाड्यहेतुनि हिमर्तुसंकटे,
याति याऽतिकृशतां रवेः प्रभा ।
तां गिरस्तव सदैव दिद्युतो,
लज्जते बत सपत्नयन्न कः ॥ २० ॥

जाड्य० हे नाथ ! या रवेः सूर्यस्य प्रभा जाड्यहेतुनि जडत्वकारणे हिमर्तुसंकटे सति अतिकृशतां याति, तां प्रभां सदैव दिद्युतो देदीप्यमानायास्तव गिरो वाण्याः, बत इति वितर्के, सपत्नयन् सदृशीकुर्वन् कः पुमान् न लज्जते अपि तु सर्वः कोऽपि लज्जते । दिद्युत् इति निपातो ज्ञेयः ॥ २० ॥

बिभ्रता मतिमतीन्द्रियां त्वया,
वस्तुतत्त्वमिह यन्निरौच्यते ।
नेतरेतदपरेण जन्तुना,
दुर्वचं प्रतनुबुद्धितन्तुना ॥ २१ ॥

बिभ्र० हे नेतः स्वामिन् यत् त्वया इह जगति अतीन्द्रियां इन्द्रियातीतां मतिं बुद्धिं बिभ्रता ध्रियमाणेन वस्तुतत्त्वं इह निरौच्यते प्रोचे, एतत् वस्तुतत्त्वं अपरेण जन्तुना प्रतनुबुद्धितन्तुना कृशबुद्धितन्तुकेन दुर्वचं वक्तुमशक्यं ॥ २१ ॥

अस्तु वास्तवफलस्य वाऽस्तु ते,
वाग्लता त्वरितमेवमूचुषी ।
वासवेश्म निजमाश्रयेति सा,
शासनं सपदि पत्युरासदत् ॥ २२ ॥

अ० सा सुमङ्गला निजं वासभवनं आश्रयं इति अमुना प्रकारेण पत्युः श्रीऋषभदेवस्य शासनं आदेशं आसदत् प्राप्त, किंविशिष्टासुमङ्गला हे स्वामिन् ते तव वाग्लता वाग्वल्ली वास्तवफलस्य सम्यक् फलस्य वास्तु स्थानं अस्तु भवतु, एवं ऊचुषी जल्पितवती ॥ २२ ॥

दत्तदक्षिणभुजा निजासने,
गर्भगे धरणिपाकशासने ।
सोदतिष्ठदतनुस्तनावनी-
भृत्तटीलुलितहारनिर्झरा ॥ २३ ॥

दत्त० सा सुमङ्गला धरणिपाकशासने चक्रवर्तिनि गर्भगे उदरस्थे सति निजासने दत्तदक्षिणभुजा सती उदतिष्ठत उत्थिता, किंविशिष्टा सुमङ्गला ? अतनुस्तनावनीभृत्तटीलुलितहारनिर्झरा स्थूलस्तनावेव अवनीभृतौ पर्वतौ तयोस्तटे लुलिताः सविलासा हारा एव निर्झरा यस्याः सा अतनुस्त० ॥ २३ ॥

फुल्लमल्लिकमिदं वनं किमु,
स्मेरकैरवगणं सरोऽथवा ।
एवमूहविवशा निशामयं-
त्यभ्रमक्रमविकीर्णतारकम् ॥ २४ ॥

बिभ्यति स्खलनतः शनैः शनैः,
प्रांजलेऽपि पथि मुंचती पदौ ।
अल्पकेऽपि भवनान्तरे गते,
स्तानवेन भवनान्तरीयिता ॥ २५ ॥
कौतुकाय दिविषत्पुरन्ध्रिभिः,
स्वं तिरोहितवतीभिरग्रतः ।
शोध्यमानसरणिः शिरस्तथा-
धीयमानधवलातपत्रिका ॥ २६ ॥
रत्नभित्तिरुचिराशिभासिते-
नाध्वना ध्वनितनूपुरक्रमा ।
वायुनावसरवेदिनेव सा,
दम्यमानगमनश्रमाऽचलत् ॥ २७ ॥
चतुर्भिः कलापकम् ॥

फुल्ल० अथानन्तरं सा सुमङ्गला रत्नभित्तिरुचिराशिभासितेन रत्नसत्कभित्तिकान्तिसमूहेन दीपितेन अध्वना मार्गेण अचलत्, किं कुर्वती अमुना प्रकारेण ऊहविवशा विचारेण परवशा सती अक्रमविकीर्णतारकं अभ्रं आकाशं निभालयन्ती निशामयन्ती, एवमिति किं? इदं फुल्लमल्लिकं विकसितविचकिलपुष्पं किमु वनं वर्त्तते, अथवा स्मरकैरवगणं विकस्वरकुमुदसमूहं सरो वर्त्तते ॥ २४ ॥ पुनः किं कुर्वती? स्खलनतो बिभ्यती सती प्रांजलेऽपि सरलेऽपि पथि शनैः शनैः पादौ मुञ्चती अल्पकेऽपि स्तोकेऽपि भवनान्तरे गते सति गतेस्तानवेन लाघवे न भवनान्तरीयिता भवनान्तरत्वमाचरितवती ॥ २५ ॥

पुनः किंवि० स्वं तिरोहितवतीभिः दिविषत्पुरन्ध्रीभिर्देवाङ्गनाभिः कौतुकाय अग्रतः शोध्यमानसरणिर्विलोक्यमानमार्गाः, पुनः किंल० शिरसि मस्तके आधीयमानधवलातपत्रिका धार्यमाणा श्वेतछत्रा ॥ २६ ॥ पुनः किं० ध्वनितनूपुरक्रमा स्पष्टं, पुनः किं० अवसरवेदिना इव अवसरज्ञसदृशेन वायुना दम्यमानगमनश्रमा निर्गम्यमानश्रमा ॥ २७ ॥ चतुर्भिः कलापकं ॥

कान्तमन्दिरमुपेत्य साचिरा-
शंसितार्थपरिपूरिताशया ।
सारसंमदमहाबलेरिता,
स्वं निकेतनमियाय नौरिव ॥ २८ ॥

कान्त० सा सुमङ्गला नौरिव कान्तमन्दिरं कान्तस्य भर्तुः मन्दिरं गृहं कान्तं प्रधानं मन्दिरं तटं वा तत उपेत्य प्राप्य स्वं आत्मीयं निकेतनं आवासं इयाय, आगता, कथंभूता सा अचिराशंसितार्थपरिपूरिताशया अचिरेण स्तोककालेन आशंसितः कथितोऽर्थः स्वप्नार्थलक्षणस्तेन परिपूरित आशयो अभिप्रायो यस्याः सा, नौ पक्षे अर्थो द्रव्यं तेन परिपूरित आशयो मध्यं यस्याः सा, सारसंमदमहाबलेरिता सारः प्रधानः संमदो हर्षस्तस्य महाबलेन महासामर्थ्येन ईरिता प्रेरिता पक्षे महाबलो वायुर्ज्ञेयः ॥ २८ ॥

तत्र चित्रमणिदीपदीधिति-
ध्वस्यमानतिमिरे ददर्श सा ।

पानशौण्डमिव लुप्तचेतनं,
सुप्तमन्तरखिलं सखीजनम् ॥ २९ ॥

तत्र० सा सुमङ्गला तत्र निकेतने पानशौंडमिव सुरापानमत्तमिव लुप्तचेतनं अंतर्मध्ये सुप्तं अखिलं समस्तं सखीजनं ददर्श, किंविशिष्टे निकेतने ? चित्रमणिदीपदीधितिध्वस्यमानतिमिरे, आश्चर्यमयमणिसत्कप्रदीपकिरणैर्निराक्रियमाणान्धकारे ॥ २९ ॥

सोऽध्वगत्वचपलाङ्गसङ्गतो-
न्मेषिघोषमणिमेखलादिभिः ।
निद्रया जागरितोऽपि जागरं,
द्रागनीयत तया विना गिरम् ॥ ३० ॥

सः० तया सुमंगलया स सखीजनः अध्वगत्वचपलांगसंगतोन्मेषिघोषमणिमेखलादिभिः मार्गगत्वेन चपले अङ्गे गता मिलिता, उन्मेषि घोषा विकस्वरनादा ये मणिमेखलादयस्तैर्गिरं वाणीं विना द्राक् शीघ्रं जागरं अनीयत गृहीतः, किंविशिष्टः सखीजनः ? निद्रया जागरितोऽपि अजगरवदाचरितः ॥ ३० ॥

तां ससंभ्रमसमुत्थितास्ततः,
सन्निपत्य परिवव्रुरालयः ।
उच्छ्वसज्जलरुहाननां प्रगे,
पद्मिनीमिव मधुव्रतालयः ॥ ३१ ॥

तां० ततस्ततोऽनन्तरं आलयः सख्यः ससंभ्रमसमुत्थिताः

सत्यः संनिपत्य समुदायं कृत्वा तां सुमङ्गलां परिवव्रुः परिवृण्वन्ति स्म, किंलक्षणां सुमङ्गलां? उच्छ्वसज्जलरुहाननां विकसत्कमलसदृशमुखीं, कामिव? पद्मिनीमिव, यथा मधुव्रतालयः भ्रमरश्रेणयः प्रगे प्रभाते विकसत्कमलमुखीं पद्मिनीं परिवृण्वन्ति ॥ ३१ ॥

ऊचिरे त्रिचतुराः पुरस्सरी-
भूय भक्तिचतुरा रयेण ताः ।
तां प्रणम्य वदनेन्दुमण्डला-
भ्यासकुड्मलितपाणिपङ्कजाः ॥ ३२ ॥

ऊचि० त्रिचतुरास्तिस्रश्चतस्रो भक्तिचतुरास्ता आलयः सख्यः पुरस्सरीभूय अग्रेभूत्वा तां सुमङ्गलां प्रणम्य रयेण वेगेन ऊचिरे ऊचुः, किंलक्षणाः सख्यः वदनेन्दुमंडलाभ्यासकुड्मलितपाणिपंकजाः वदनेन्दुमंडलस्य? मुखचन्द्रमंडलस्य अभ्यासे समीपे कुड्मलिते कोशीकृते पाणिपंकजे याभिस्ता वदनेन्दु० ॥ ३२ ॥

एवमाजनुरसंस्तुतो भवे-
द्यः स एव शयितो विमुच्यते ।
उच्यते किमथवा तव प्रभु-
र्नापरस्य परिभाषणोचितः ॥ ३३ ॥

एव० हे स्वामिनि! य आजनुरसंस्तुत आजन्म अपरिचितो जनो भवति स एव शयितः सुप्तो विमुच्यते, अथवा तव किमुच्यते? प्रभुः स्वामी अपरस्य परिभाषणोचितः जल्पनयोग्यो न वर्तते ॥ ३३ ॥

युक्तमेव यदि वा विनिर्मितं
सर्वविद्दयितया त्वया सखि ।
यत्तमोगुणजिता विमुच्य नो
रुच्यसद्म विकसन्मना गता ॥ ३४ ॥

युक्त० हे सखि ! यदि वा अथवा सर्वविद्दयितया सर्वज्ञपत्न्या त्वया युक्तमेव विनिर्मितं कृतं, यत्तमोगुणजिता तमोगुणेन निद्रया जिता नो अस्मान् विमुच्य त्वं विकसन्मनाः सती रुच्यसद्म भर्तुर्गृहं गता ॥ ३४ ॥

त्वामविद्म न वयं विनिर्यतीं,
जातसिद्धिमिव ही प्रमद्वराः ।
मन्तुमेतमनपेतचेतना,
दध्महे स्वहृदि शल्यवत्पुरा ॥ ३५ ॥

त्वाम० हे स्वामिनि ! ही इति खेदे वयं प्रमद्वराः प्रमादिन्यः त्वां जातसिद्धिमिव, दृष्ट्यावरणादिसिद्धिमिव विनिर्यतीं निर्गच्छन्तीं न विद्म न ज्ञातवत्यः, एवं मन्तुं अपराधं अनपेतचेतना गलितचेतनाः सत्यो वयं स्वहृदि शल्यवत् पुरा दध्महे धारयामः, 'पुरा यावतो वर्त्तमाना' ॥ ३५ ॥

विश्ववन्द्यवधु पारिपार्श्विको-
ऽस्त्येव ते सततमप्सरोजनः ।
वेधसा हि वयमेव वञ्चिता,
यत्कृता भवदुपासनाद्बहिः ॥ ३६ ॥

विश्व० हे विश्ववन्द्यवधु त्रिभुवनाधीशदयिते ! अप्सरोजनः

देवाङ्गनासमूहस्ते तव सततं निरंतरं पारिपार्श्विकः समीपस्थोऽस्त्येव हि निश्चितं वेधसा ब्रह्मणा वयमेव वञ्चिताः, यत् वयं भवदुपासनात् बहिष्कृताः ॥ ३६ ॥

कार्यमेतदजनिष्ट किं तवा-
कस्मिकं विमलशीलशालिनि ।
यत्पुरा व्रजसि चाटुकोटिभि-
र्भर्तृवेश्म तदगाः स्वयं यतः ॥ ३७ ॥

कार्य० हे विमलशीलशालिनि निर्मलशीलशोभिते ! एतत् कार्यं तव किं आकस्मिकं अजनिष्ट जातं, यत् पुरा पूर्वं चाटुकोटिभिर्भर्तृवेश्म व्रजसि तदगाः यतो यस्मात् कार्यात् तत् स्वयमागतवती ॥ ३७ ॥

तद्भविष्यति फलोदये स्फुटं
गूढचारिणि चिरादपि स्वयम् ।
किन्तु नः प्रकृतिचञ्चलं मनः
काललालनमियन्न सासहि ॥ ३८ ॥

तद्भ० हे गूढचारिणि प्रच्छन्नगमने ! तत् कार्यं चिरादपि बहुकालतोऽपि स्वयं आत्मना फलोदये सति स्फुटं प्रकटं भविष्यति, किन्तु नोऽस्माकं प्रकृतिचञ्चलं स्वभावेन चपलं मनः इयत् काललालनं कालविलम्बनं सासहि न सहते ॥ ३८ ॥

सिञ्च नस्त्वमखिलाः स्वकार्यवाक्-
शीकरैः समयभङ्गतापिताः ।
सर्वदैकहृदयं सखीगणं,
मा पृथग्गणनयाऽवजीगणः ॥ ३९ ॥

सिञ्च० त्वं समयभङ्गतापिताः मर्यादाभङ्गेन तापयुक्ता नोऽस्मान् अखिलाः समस्ताः सखीः स्वकार्यवाक्शीकरैरात्मीयकार्यवचनरूपजलकणैः सिञ्च, सर्वदैकहृदयं सखीगणं मा पृथग्गणनया अवजीगणः मा अवगणय ॥ ३९ ॥

सा सखीभिरिति भाषिता रमे-
वोरुपद्ममणुपद्मवेष्टितम् ।
अध्यशेत शयनं समन्ततः
सन्निविष्टवरविष्टरावलि ॥ ४० ॥

सा० सा सखीभिरिति अमुना प्रकारेण पूर्वोक्तप्रकारेण जल्पिता भाषिता सती शयनं पल्यङ्कं अध्यशेत आश्रिता, किंलक्षणं शयनं? समन्ततः सर्वतः सन्निविष्टवरविष्टरावलि सन्निविष्टा स्थिता प्रशस्यमञ्चिकागब्दिकामूटकसिंहपीठादि आसनानां श्रेणिर्यत्र तत्, सुमङ्गला केव? रमा लक्ष्मीरिव, यथा रमा अणुपद्मवेष्टितं लघुकमलपरिवृतं ऊरुपद्मं बृहत्कमलं आश्रयति ॥ ४० ॥

एकमूलकमलद्वयाभयो-
स्तत्पदोरुपरि पेतुरुत्सुकाः ।
हेमहंसललनागरुच्छ्रियो
लालनाय शतशः सखीकराः ॥ ४१ ॥

एक० शतशः सखीकराः शतसंख्याकाः सखीसत्कहस्ताः, उत्सुकाः सन्तः लालनाय प्रतिपालनाय तस्याः सुमङ्गलायाः पादयोरुपरि पेतुः पतिताः, किंविशिष्टयोस्तयोः? एकमूलकमल-

द्वयाभयोः एकमेव मूलं च यत्कमलद्वयं च तत्सदृशयोः, किं-लक्षणाः सखीकराः ? हेमहंसललनागरुच्छ्रियः हेमहंसललनाः सुवर्णहंस्यस्तासांगरुतः पक्षीः तद्वत् श्रीः शोभा येषान्ते हेम० ॥ ४१ ॥

पाणिपूरपरिमर्दमर्दना-
हेतुमप्यपगतश्रमत्वतः ।
सालिपालिमरुणत्र तन्मनो-
रङ्गभङ्गभयतोऽतिवत्सला ॥ ४२ ॥

पाणि० सा सुमङ्गला तन्मनोरंगभङ्गभयतः सालिपालि सखीगणं पाणिपूरपरिमर्दमर्द्दनं अरुणत् न रुणद्धि स्म, रुधिधातोर्द्विकर्मकत्वात्, इदं रूपं, किंविशिष्टं पाणिपूरपरिमर्द-अर्दनाहेतुं पीडाकरमपि ॥ ४२ ॥

स्वप्नवीक्षणमुखामुषाभरे,
भर्तृवेश्मगतिहेतुदां कथाम् ।
तासु सासनगतासु विस्तृत-
श्रोत्रपात्रपरमामृतं व्यधात् ॥ ४३ ॥

स्वप्न० सा सुमङ्गला आसनगतासु तासु सखीषु उषाभरे रात्रिमध्यभागे स्वप्नवीक्षणमुखां स्वप्नावलोकनप्रमुखां भर्तृवेश्मगतिहेतुदां प्रियगृहे गमनकारणदायिनीं कथां विस्तृतश्रोत्रपात्रे विस्तीर्णकर्णरूपपात्रेषु परमामृतसमानां व्यधात् कृतवती ॥४३॥

तोषविस्मयमयः सखीमुखा-
दुद्ययौ कलकलः स कश्चन ।

अन्तरालयकुलायशायिभि-
येन जागरितमण्डजैरपि ॥ ४४ ॥

तोष० तोषविस्मयभवः हर्षविस्मयादुत्पन्नः सखीमुखात् ३
स कश्चन कलकलः कोलाहल उदयौ उदयं प्राप, येन उदयेन
अन्तरालयकुलायशायिभिः गृहमध्ये नीडशयनशीलैरंडजैरपि
पक्षिभिर्जागरितं जागर्यते स्म ॥ ४४ ॥ ६

स्वप्नमेकमपि सालसेक्षणा,
किं विचारयितुमीश्वरीदृशम् ।
उल्लसत्तमसि यन्मनोगृहे, ९
सञ्चरन्त्यपि बिभेति भारती ॥ ४५ ॥

स्वप्न० सा अलसेक्षणा स्त्री ईदृशं स्वप्नं एकमपि विचारयितुं
किं ईश्वरी समर्था वर्तते ? अपि तु नैव, यन्मनोगृहे भारती १२
सरस्वती संचरन्त्यपि बिभेति, किंविशिष्टे यन्मनोगृहे ?
उल्लसत्तमसि अज्ञानरुपान्धकारे सान्धकारे वा ॥ ४५ ॥

वर्णयेम तव देवि कौशलं, १५
यत्प्रकृत्यकृतिनीरुपेक्ष्य नः ।
देवदेववदनादनाकुलं,
स्वप्नसूनृतफलं व्यबुध्यथाः ॥ ४६ ॥ १८

वर्ण० हे देवि ! वयं तव कौशलं वर्णयेम वर्णयामः यत्
त्वं प्रकृत्यकृतिनीः स्वभावेन मूर्खान् नः अस्मान् उपेक्ष्य देव-
देववदनात् श्रीऋषभमुखात् अनाकुलं यथा भवति तथा स्वप्न-
सूनृतफलं व्यबुध्यथाः ज्ञातवती ॥ ४६ ॥ २२

नाथवक्त्रविधुवाक्करोंभित-
स्त्वत्प्रमोदजलधिः सदैधताम् ।
एवमालपितमालिभिर्वचः,
शुश्रुवे श्रुतिमहोत्सवस्तया ॥ ४७ ॥

नाथ० हे स्वामिन् ! तत् त्वत्प्रमोदजलधिः त्वदीयहर्षसमुद्रः सदा एधतां वृद्धिं यातु, किंलक्षणः प्रमोदजलधिः ? नाथवक्त्रविधुवाक्करोंभितः स्वामिसत्कमुखचन्द्रस्य वचनकरैः उम्भितः पूरितः आलिभिः सखीभिरेवं आलपितं वचः, तया सुमङ्गलया शुश्रुवे श्रुतं, किंरूपं वचः ? श्रुतिमहोत्सवः कर्णयोः महोत्सवरूपं ॥ ४७ ॥

वाग्मिषादथ सुमङ्गला गला-
यातहृन्नदजसंमदामृता ।
आदिशद्दशनदीधितिस्फुटी-
भूतमुज्ज्वलमुखी सखीगणम् ॥ ४८ ॥

वाग्० अथानन्तरं सुमङ्गला सखीगणं आदिशत्, किंलक्षणा सुमङ्गला ? वाग्मिषात् गलायातहृन्नदजसंमदामृता गलागतहृदयरूपनदजातहर्षामृता, पुनः किं० उज्ज्वलमुखी, किंलक्षणं सखीगणं ? दशनदीधितिस्फुटीभूतं दन्तसत्ककिरणैः प्रकटीभूतं ॥ ४८ ॥

रामणीयकगुणैकवस्तुनो,
वस्तुनः सुकरमर्जनं जने ।
भाविविघ्नवनिवारणं पुन-
स्तस्य दुष्करमुशन्ति सूरयः ॥ ४९ ॥

राम० हे हलाः! रामणीयकगुणैकवस्तुनः रामणीयकत्वगुणानामेकस्थानस्य वस्तुनः, जने लोके अर्जनं उपार्जनं सुकरं सुलभं स्यात्, पुनस्तस्य वस्तुनो भाविविघ्ननिवारणं, सूरयो विद्वांसो दुष्करं उशन्ति, कथयन्ति ॥ ४९ ॥

अर्जिते न खलु नाशशङ्कया,
क्लिश्यमानमनसस्तथा सुखम् ।
जायते हृदि यथा व्यथाभरो,
नाशितेऽलसतया सुवस्तुनि ॥ ५० ॥

अर्जि० हे हलाः! सुवस्तुनि अर्जिते उपार्जिते सति, खलु निश्चितं पुरुषस्य तथा सुखं न जायते यथा अलसतया वस्तुनि नाशिते सति व्यथाभरो जायते, किंविशिष्टस्य पुरुषस्य? नाशशङ्कया क्लिश्यमानपीड्यमानमनसः ॥ ५० ॥

दृष्टनष्टविभवेन वर्ण्यते,
भाग्यवानिति सदैव दुर्विधः ।
जन्मतो विगतलोचनं जनं,
प्राप्तलुप्तनयनः पनायति ॥ ५१ ॥

दृष्ट० सदैव दुर्विधो दरिद्री भाग्यवान् इति वर्ण्यते, प्राप्तलुप्तनयनः प्राप्तः लुप्तलोचनः पुरुषजन्मतो जन्म यावत् विगतलोचनं अन्धजनं पनायति स्तवीति, इत्यत्र आत्मनेपदस्याभावात् पनायति भवति ॥ ५१ ॥

हारि मा तदिदमद्य निद्रया,
स्वप्नवस्तु मम संमदास्पदम् ।

तत्प्रमादमवधूय रक्षितुं,
यामिकीभवत यूयमालयः ॥ ५२ ॥

हा० हे हलास्तत् तस्मात् कारणात् संमदास्पदं हर्षस्थानं मम इदं स्वप्नवस्तु निद्रया अद्य मा हारि मा हार्यतां, हे आलयः हलास्तत् वस्तु प्रमादं अवधूय त्यक्त्वा रक्षितुं यूयं यामिकीभवत आरक्षीभवन्तु ॥ ५२ ॥

स्वप्नवस्तु दयतेऽप्यगोचरं,
दत्तमप्यहह हन्ति तामसी ।
संनिरुध्य नयनान्यचेतसां,
चेष्टते जगति सा यदृच्छया ॥ ५३ ॥

स्वप्न० सा तामसी तमोमयी रात्रिः अचेतसां पुरुषाणां नयनानि लोचनानि सन्निरुध्य जगति विश्वे चेष्टते, या रात्रिः अगोचरमपि स्वप्नवस्तु दयते दत्ते, अहह इति खेदे दत्तमपि हन्ति ॥ ५३ ॥

वासरे सरसिजस्य जाग्रतो,
गर्भमन्दिरमुपेयुषीं श्रियम् ।
शर्वरीसमयलब्धविक्रमा,
लुम्पतीयमनिमित्तवैरिणी ॥ ५४ ॥

वास० इयं निद्रा अनिमित्तवैरिणी निर्निमित्तवैरकारिणी वर्त्तते, या निद्रा शर्वरीसमयलब्धविक्रमा रात्रिसमये लब्धपराक्रमा सती वासरे दिवसे जाग्रतः सरसिजस्य विकसितस्य कमलस्य गर्भमन्दिरं उपेयुषीं गतवतीं श्रियं लक्ष्मीं लुम्पति ॥ ५४ ॥

यद्यसौ भुवनवञ्चनोत्सुका,
स्वप्नराशिमपहृत्य तादृशम् ।
दास्यते किमपि गर्हितं तदा,
पत्तने वसति लुण्टितास्मि हा ॥ ५५ ॥

यद्य० यदि असौ निद्रा भुवनवंचनोत्सुका सती स्वप्नराशिं स्वप्नसमूहं अपहृत्य तादृशं किमपि गर्हितं निंदितं स्वप्नं दास्यते, तदा हा इति खेदे वसति पत्तने लुण्टितास्मि ॥ ५५ ॥

सर्वसारबहुलोहनिर्मितै-
र्युष्मदाननिषङ्गनिर्गतैः ।
वाक्शरैः प्रसरमेत्य धर्मतो,
धर्षितेयमिहमासदत्पदम् ॥ ५६ ॥

सर्व० इयं निद्रा इह मयि विषये पदं स्थानं आसदत्, मा प्राप्नोतु, किंविशिष्टा निद्रा ? धर्मतः पुण्यात् धनुषो वा वाक्शरैः वचनबाणैः प्रसरं एत्य धर्षिता, किंलक्षणैर्वाक्शरैः ? सर्वसारबहुलोहनिर्मितैः सर्वसारः सर्वोत्कृष्टो बहुल ऊहो विचारस्तेन निर्मितैः, पक्षे सर्वसारमयं बहुलोहं तेन निर्मितैः निष्पादितैः, पुनः किं० युष्मदाननिषङ्गनिर्गतैः भवतां मुखरूपतूणकेभ्यो निःसृतैः ॥ ५६ ॥

तत्तदुत्तमकथातरङ्गिणी-
भङ्गिमज्जनकसज्जचेतसा ।
नैशिकोऽपि समयो मयोच्यतां,
वासरः स्वरसनष्टनिद्रया ॥ ५७ ॥

तत्त० तत् तस्मात् कारणात् स्वरसनष्टनिद्रया स्वभावगतनिद्रया मया नैशिकोऽपि रात्रिसंबंधी अपि समयः वासरो दिवसः कथ्यतां, किंविशिष्टया मया ? तत्तदुत्तमकथातरंगिणीभंगिमज्जनकसज्जचेतसा ताश्च ताश्च उत्तमकथा एव तरंगिण्यो नद्यस्तासां भङ्गयः कल्लोलास्तत्र मज्जनके स्थाने सज्जचेतसा ॥५७॥

स्वप्नभङ्गभयकम्प्रमानसां,
मां विबोध्य सरसोक्तियुक्तिभिः ।
जाग्रतोऽस्ति न हि भीरिति श्रुति-
र्नायिषीष्ट चरितार्थतां हलाः ॥ ५८ ॥

स्वप्न० हे हला इति श्रुतिश्चरितार्थतां सत्यार्थतां नायिषीष्ट प्रापयिष्ट, इतीति किं ? जाग्रतो भीर्नहि स्यात्, किं कृत्वा ? स्वप्नभङ्गभयकम्प्रमानसां स्वप्नभङ्गभयेन कंपनशीलचित्तां मां सरसोक्तियुक्तिभिर्विबोध्य जागरयित्वा ॥ ५८ ॥

एवमूचुषि विभोः परिग्रहे,
विग्रहे घनरुचिः सखीगणः ।
धर्मधामगुणगीर्णवाक्शरा-
सारमारभत मारभङ्गिवित् ॥ ५९ ॥

एव० सखीगणः धर्मधामगुणगीर्णवाक्शरासारं धर्मः पुण्यं धनुर्वा धाम स्थानं येषान्ते धर्मधामानः एवंविधा ये गुणा विनयादयः प्रत्यञ्चा वा तेभ्यो गीर्णाः निःसृताः वाक्शरा वचनबाणास्तेषां आसारं वेगवद्वृष्टिं आरभत प्रारेभे, क सति ? विभोः स्वामिनः परिग्रहे कलत्रे एवं पूर्वोक्तप्रकारेण ऊचुषि

उक्तवति सखी किंविशिष्टः सखीगणः? विग्रहे शरीरे घनरुचिः बहुकान्तिः, पक्षे विग्रहे युद्धे घनाभिलाषः, पुनः किंवि० मारभङ्गिवित् मारः कन्दर्पो विघ्नो वा तस्य भङ्गौ विच्छित्तौ निपुणः ॥ ५९ ॥

प्रागपि प्रचुरकेलिकौतुकी,
सोऽदसीयवचसाऽभृशायत ।
नीरनाडियुजि किं न वाक्पता-
वेति वृष्टिघनतां घनाघनः ॥ ६० ॥

प्राग० स सखीगणः अदसीयवचसाऽभृशायत अमुष्याः सुमङ्गलायाः वचनेन अभृशायत प्रगल्भो बभूव, किंलक्षणः सखीगणः? प्रागपि प्रचुरकेलिकौतुकी अग्रेऽपि बहुक्रीडाविषये कौतुकवान्, नीरनाडियुक्ते वाक्पतौ बृहस्पतौ घनाघनो मेघः वृष्टिघनतां किं न एति न याति? अपि तु यात्येव ॥ ६० ॥

सुश्रुताक्षरपथानुसारिणी,
ज्ञातसंमतकृताङ्गिकक्रिया ।
आत्मकर्मकलनापटुर्जगौ,
कापि नृत्यनिरता स्वमार्हतम् ॥ ६१ ॥

सुश्रु० कापि सखी नृत्यनिरता सती स्वं आत्मानं अर्हतं जिनं जगौ, किंविशिष्टा सखी? सुश्रुताक्षरपथानुसारिणी, सुष्ठु अत्यर्थं श्रुतः कर्णगोचरीकृतः अक्षरपथो वर्णमार्गः तं अनुसरतीत्येवंशीला यादृग् गीतं वाद्यं तादृग् नृत्यमपि स्यात्, पुनः किंवि० ज्ञातसंमतकृतांगिकक्रिया ज्ञाता संमता आंगिकी

अंगसंबंधिनी क्रिया यया सा पूर्वं गीतवाद्यस्वरूपं ज्ञातं पश्चात् सम्यगवबुद्धं तदनुमानेन अङ्गसम्बन्धिन्यपि क्रिया कृतेति भावः, पुनः किंवि० आत्मकर्मकलनापटुः आत्मीयनृत्यरूपकर्मणः कलनायां कर्त्तव्ये पटुः पटिष्ठा या आर्हती भवति सा तु एवंविधा सुष्ठु शोभनं श्रुतं सिद्धान्तस्तेन अक्षरपथं मोक्षमार्गं अनुसरतीत्येवंशीला ज्ञाता सम्यग्ज्ञानेन संमता सम्यग्दर्शनेन, कृता सम्यग् चारित्रेण आङ्गिकी द्वादशाङ्गसम्बन्धिनी क्रिया यया सा, आत्मजीवः कर्माणि च तत्कलनायां पटुः ॥ ६१ ॥ इति जैनं ॥

सद्गुणप्रकृतिराप चापलं,
कापि कापिलमताश्रयादिव ।
रङ्गयोग्यकरणौघलीलया,
साक्षितामुपगते तदात्मनि ॥ ६२ ॥

सद्गुण० कापि सखी तदात्मनि तस्यात्मनि साक्षितां सम्यक् परिज्ञानतया साक्षित्वं उपगते सति प्राप्ते सति रङ्गयोग्यकरणौघलीलया रङ्गो रंगभूमिस्तत्र योग्यानां करणानां उत्पतनपतनादिकानां ओघः समूहस्तस्य लीलया चापलं चपलत्वं आप प्राप, किंविशिष्टा सखी? सद्गुणप्रकृतिः सद्गुणाः प्रधानविनयादिगुणाः, प्रकृतिः स्वभावो यस्याः, उत्प्रेक्ष्यते—कापिलमताश्रयादिव, या कापिलमतं सांख्यमतं आश्रयते साप्येवं वक्ति सांख्यमते सत्त्वरजस्तमोलक्षणास्त्रयो गुणाः, तेषां च साम्यावस्था प्रकृतिः प्रधानापरपर्याया उच्यते, सैव सर्वं व्यापारं प्रपंच-

यति, आत्मा च साक्षिमात्रं, 'अकर्ता निर्गुणोऽभोक्ता आत्मा
कपिलदर्शने' इति वचनात् इति काव्यार्थः, सद्गुणा विद्यमान-
सत्वरजस्तमोलक्षणगुणाः प्रकृतिः प्रधानं रंगस्य हर्षस्य योग्यानां ३
करणानां इन्द्रियाणां ओघः समूहः, तस्य लीलया चापलं
चपलत्वं प्राप, यथा प्रकृतेर्महान् ततोऽहंकारस्ततः पंचेन्द्रि-
याणीत्यादि, क सति ? तदा तस्मिन्नवसरे आत्मनि साक्षितां ६
अकर्तृत्वात् साक्षिमात्रत्वं प्राप्ते सति, यथा नृपे सभानि-
विष्टे विलोकयति सति नर्तकी नृत्यं करोति तथाऽत्रापि ज्ञेयं
॥ ६२ ॥ इति सांख्यमतं ॥ ९

तां विधाय शुचिरागसम्भव-
न्मूर्च्छनाभिरुपनीतमूर्च्छनाम् ।
सौगतं ध्वनिगतं तदुद्भवा- १२
भावदूषणमलुप्त काचन ॥ ६३ ॥

तां० काचन स्त्री सौगतं सुगतप्रणीतं ध्वनिगतं शब्दगतं
तदुद्भवाभावदूषणं तस्मादुद्भवति, इति अस्य अभावः स १५
एव दूषणं तत् अलुप्त लुंपति स्म, किं कृत्वा ? शुचिरागसंभवन्
मूर्च्छनाभिः शुचिः पवित्रः यो रागः श्रीरागादिस्तस्मात् संभवंती-
भिरेकविंशतिमूर्च्छनाभिस्तां सुमङ्गलां उपनीतमूर्च्छनां प्राप्त- १८
मोहां विधाय कृत्वा, तथा च बौद्धमते सुगतो देवः क्षणक्षणिकं
च विश्वं क्षणक्षयत्वात् अमुकं अमुकादुत्पद्यते इति न वक्तव्यं,
यतः 'यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव सदैव सः । न देशकाल-
योर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते' । यदि रागात् संभवंतीभिर्मूर्च्छ- २२

नाभिस्तस्याः सुमङ्गलाया मूर्च्छना जाता तदा रागस्य क्षणक्षयत्वं नास्ति, यदि रागः क्षणक्षयी स्यात् तदा मूर्च्छना कथमुत्पद्यते ? अतः कारणात् ध्वनेः शब्दस्य तस्मादुद्भवस्य अभावः, यथा वन्ध्यायाः पुत्राभावदूषणं, तथा अत्रापि तदुद्भवाभावदूषणं लुप्तमिति भावः, रागो ध्वनिस्तदुद्भवाश्च मूर्च्छना ज्ञेयाः ॥६३॥ इति बौद्धमतम् ॥

तत्त्वषोडशकतोऽधिकं स्वकं,
गीततत्त्वमुपनीतनिर्वृति ।
व्यञ्जतीह विधिनाच्युतेन का-
प्यक्षपादमतमन्यथाकृत ॥ ६४ ॥

तत्व० कापि स्त्री अक्षपादमतं नैयायिकमतं अन्यथाकृत वैपरीत्यं करोति स्म, नैयायिकमते हि प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तवयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितंडाहेत्वाभासछलजातिनिग्रहस्थानानि षोडशतत्त्वानि, सृष्टिसंहारकर्ता मोक्षदो देवो महेशः, एवं च सति वैपरीत्यं कथ्यते, किं कुर्वती कापि स्त्री ? तत्त्वषोडशकतः अधिकं स्वकीयं गीतं व्यञ्जयन्ती प्रकटयन्ती, किंविशिष्टं गीतं ? अच्युतेन अस्खलितेन विधिना उपनीता निर्वृतिः समाधिर्येन तत्, वैपरीत्यपक्षे षोडशतत्त्वेभ्यो अधिकं सप्तदशतत्त्वं कथयति, अच्युतेन कृष्णेन विधिना ब्रह्मणा उपनीता ढौकिता निर्वृतिर्मोक्षो यत्र एवं वैपरीत्यं ज्ञेयं ॥ ६४ ॥ इति नैयायिकमतम् ॥

विश्रुतस्वरगुणश्रुतेः परं,
या प्रपञ्चमखिलं मृषादिशत् ।
मूर्च्छनासमयसङ्कुचद् दृशां,
सा न किं परमहंसतां गता ॥ ६५ ॥

विश्रु० सा स्त्री किं सतां साधूनां परमहं प्रकृष्टं महं उत्सवं न गता अपि तु गता अथवा परमहंसतां मीमांसक-भेदं न गता, अपि तु गतैव, यतः—चत्वारो भगवद्भेदाः कुटीचरबहूदकौ । हंसः परमहंसश्चाधिक्यामीषु परः परः ॥ १ ॥ एके मीमांसका भट्टाः, एके प्राभाकराः, भट्टानां षट्प्रमाणानि प्रभाकराणां पञ्च प्रमाणानि, भट्टा प्रभाकराः कर्म्म-मीमांसकाः वेदवादिनः, परे च वेदान्तवादिनो ब्रह्ममीमांसकाः इत्यादिमीमांसकस्वरूपं ज्ञेयम् ॥ अथ काव्यार्थः कथ्यते— १३
या सतां परमहंसगता, सा किंविशिष्टा वर्त्तते, या स्त्री मूर्च्छनासमये सङ्कुचन्त्यौ दृशौ येषां ते मूर्च्छनासमयसङ्कुच-द्दृशस्तेषां विश्रुतस्वरगुणश्रुतेः विश्रुता विख्याता स्वराः १५
सारिगमपधनिरूपाः मन्द्रमध्यतारास्तेषां गुणा माधुर्यादयः संगीतोक्तास्तेषां श्रुतेः श्रवणात् परं अन्यं अखिलं समस्तं प्रपञ्चं चक्षुरादीन्द्रियकृतं पदार्थविलोकनादिरूपं (देवतादि- १६
पौरुषेयशास्त्रादिविस्ताररूपं) अलीकं आदिशत्, गीतश्रोतारस्त-न्मयलीनत्वेन गीतमेव शुश्रुवुरिति भावः, परमहंसमतपक्षे या स्त्री विश्रुता विख्याता स्वरा उदात्त-अनुदात्त-स्वरितरूपा वेदोक्ता-स्वरविशेषा गुणा वेदोक्ताः कारीरीं निर्वपेत् वृष्टिकामः, यत्रि

होत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः इत्यादिका यस्याः सा एवंविधा श्रुतिः वेदस्तस्याः परं अन्यं अखिलं प्रपञ्चं देवतादिपौरुषेयशास्त्रादिविस्ताररूपं मृषा अलीकं आदिशत्, तेषां मते वेदानामेव तत्त्वरूपत्वात्, तन्मते देवतापि मन्त्रमया मन्यन्ते ॥ ६५ ॥ इति मीमांसकमतं ॥

आत्मनः परभवप्रसाधना-
भासुरा मिषनिषेधिनैपुणा ।
गीष्पतेर्मतमतीन्द्रियार्थवि-
त्तत्र काचिदुचितं व्यधाद्वृथा ॥ ६६ ॥

आत्म० काचित् स्त्री गीष्पतेश्चार्वाकस्य मतं तत्र सुमङ्गलाग्रे उचितं युक्तं वृथा निष्फलं व्यधात् कृतवती, चार्वाकमते इन्द्रियार्था एव बहु मन्यन्ते, 'मणुन्नं भोयणं भुच्चा' इत्यादि वचनात् "पिब खाद च चारुलोचने ! यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते । नहि भीरु ! गतं निवर्तते समुदयमात्रमिदं कलेवरं ॥ एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः । भद्रे वृकपदं पश्य यद्वदन्ति बहुश्रुताः ॥" इत्याद्यागमस्तन्मते चात्मनः परभवो न मन्यते, इत्यादियुतं चार्वाकमतं, सा एवंविधं तन्मतं निराकार्षीत्, सा कथंभूता ? आत्मनः परभवप्रसाधनाभासुरा आत्मनः स्वस्य परेभ्यो भवा स्नानशीर्षग्रथनादिसंभवा प्रसाधना अलंकरणा तया भासुरा देदीप्यमाना, पुनः किं० मिषनिषेधिनैपुणा मिषं दम्भस्तस्य निषेधि निषेधकारकं नैपुणं चातुर्यं यस्याः सा, पुनः किं० अतीन्द्रियार्थवित् इन्द्रियातीतान् अर्थान् स्वर्गनरकद्वीप-

समुद्रकर्मजीवादिपदार्थान् वेत्तीति अतीन्द्रियार्थवित् 'सब्बोलोगो लोगो सज्झायवियस्सपच्चक्खो' इत्यागमात् चार्वाकमतनिराकरणपक्षे तु सा कथंभूता ? आत्मनो जीवस्य परभवस्य स्वर्गनरकादिरूपस्य प्रसाधनं स्थापनं तेन अतिशोभिते इति परभवप्रसाधनभाः, पुनः कथंभूता सा ? सुरामिषनिषेधिनैपुणा, सुरा मदिरा आमिषं पलं तन्निषेधिनैपुण्यमस्याः सा, एतेन पिब खाद च इत्यादिवचनं निराकृतं । अतीन्द्रियार्थवित् अतिक्रान्तानि इन्द्रियाणि येन स एवंविधो धर्मार्थकाममोक्षेषु सारं इन्द्रियगृद्धिरसरहितो यो धर्मार्थसूत्रवन्निपुणा ॥ ६६ ॥ इति चार्वाकमतं ।

तां प्रवीणहृदयोपवीणय-
　न्त्येकतानमनसं पुरः परा ।
निर्ममे खररवं स्ववल्लकी-
　दण्डमेव मृदुभास्वरस्वरा ॥ ६७ ॥

तां० प्रवीणहृदया अपरा स्त्री स्ववल्लकीदण्डमेव आत्मीयं वीणासत्कमेव दण्डं खररवं कठोरशब्दं निर्ममे चकार, किं कुर्वती ? पुरोऽग्रे एकतानमनसं एकचित्तां सुमङ्गलां उपवीणयन्ती वीणया गायन्ती, किंलक्षणा अपरा ? मृदुभास्वरस्वरा, सुकुमारो देदीप्यमानश्च स्वरो यस्याः सा मृदु० ॥ ६७॥

अन्यया ऋषभदेवसद्गुण-
　ग्रामगानपरया रयागता ।
लभ्यते स लघु तामुपासितुं,
　किं न किंनरवधूः स्वशिष्यताम् ॥ ६८ ॥

अन्य० अन्यया स्त्रिया किन्नरवधूः स्वशिष्यतां आत्मीयच्छात्रत्वं किं न लम्भिता स न प्रापिता अपि तु प्रापितैव, किंविशिष्टा किन्नरवधूः? लघु शीघ्रं तां सुमङ्गलां उपासितुं सेवितुं स्वागता वेगेन, किंविशिष्टया अन्यया? ऋषभदेवसद्गुणग्रामगानपरया, ऋषभदेवस्य कुलीन १ शीलवन्त २ वयस्थ ३ शौचवन्त ४ संततव्यय ५ प्रातिवन्त ६ सुराग ७ सावयवन्त ८ प्रियंवद ९ कीर्तिवन्त १० त्यागी ११ विवेकी १२ शृङ्गारवन्त १३ अभिमानी १४ श्लाघ्यवन्त १५ समुज्ज्वलवेष १६ सकलकलाकुशल १७ सत्यवन्त १८ प्रिय १९ अवदान २० सुगन्धप्रिय २१ सुवृत्तमंत्र २२ कोशसह २३ प्रदग्धपथ्य २४ पण्डित २५ उत्तमसत्व २६ धर्मित्व २७ महोत्साही २८ गुणग्राही २९ सुपात्रग्राही ३० क्षमी ३१ परिभावुकश्चेति लौकिक ३२ द्वात्रिंशत् नायकगुणग्रामसमूहगानतत्परया ॥ ६८ ॥

आङ्गिकाभिनयविज्ञयान्यया,
न्यस्तहस्तकविहस्तहस्तया ।
एतदीयहृदि पूरितं मरु-
ल्लोलपल्लवलताकुतूहलम् ॥ ६९ ॥

आङ्गि० अन्यया स्त्रिया एतदीयहृदि तस्याः सुमङ्गलाहृदये मरुल्लोलपल्लवलताकुतूहलं पूरितवायुवशेन चंचलपल्लवलतायाः कौतुकं पूरितं, किंलक्षणया अन्यया? आङ्गिकाभिनयविज्ञया अङ्गसंबन्धि नाट्यविधिज्ञतया चतुरया, पुनः किं०

शस्तहस्तकविहस्तहस्तया, प्रशस्ताः पताकुत्रिपताकुकर्त्तरीमुख इत्यादि चतुःषष्टि हस्तकास्तेषु व्याकुलहस्तया ॥ ६९ ॥

अप्युरुस्तननितम्बभारिणी,
काचिदुल्लसदपूर्वलाघवा ।
लास्यकर्मणि विनिर्मितभ्रमि-
र्निर्ममे विधृतकौतुकं न कम् ॥ ७० ॥

अप्यु० काचित् स्त्री विधृतकौतुकं धृताश्चर्यकं न निर्ममे न कृतवती अपि तु सर्वं निर्ममे, किंलक्षणा स्त्री ? उरुस्तननितम्बभारिण्यपि हृदयस्थलस्तनकटीतटाभ्यां भारेण युक्तापि लास्यकर्मणि उल्लसत् अपूर्वलाघवा, पुनः किंवि०? विनिर्मितभ्रमिः कृतभ्रमणिका ॥ ७० ॥

शृण्वती धवलबन्धबन्धुरं,
स्वामिवृत्तमुपगीतमन्यया ।
साह कुण्डनवकाधिकं सुधा-
स्थानमास्यमिदमीयमेव सा ॥ ७१ ॥

शृण्व० सा सुमंगला इदमीयमेव आस्यं अस्याः सख्याः इदं इदमीयं मुखं कुंडनवकाधिकं सुधास्थानं आह स्म, प्रोक्तवती, किं कुर्वती ? सुमङ्गला धवलबन्धबन्धुरं मनोज्ञं धीरोद्धत-१ धीरोदात्त २ धीरललित ३ धीरोपशान्त ४ एतन्नायकगुणचतुष्करूपं स्वामिवृत्तं श्रीऋषभदेवचरित्रं शृण्वती ॥ ७१ ॥

साधितस्वरगुणा ऋजूभव-
देहदण्डततुम्बकस्तनी ।

कापि नाथगुणगानलालसा,
व्यर्थतां ननु निनाय वल्लकीम् ॥ ७२ ॥

साधि० कापि स्त्री च ननु निश्चितं वीणा विपंची नकुलोष्ठी, किंनरी, शततंत्री, जया हस्तिका, कुब्जिका, कच्छपी, घोषवती, सारंगी, उदुंबरी, तिसरी, ढिंबरी, परिवादिनी, आलविणिप्रभृतिरूपवल्लकीं व्यर्थतां निरर्थकतां निनाय, किं लक्षणा स्त्री? नाथगुणगानलालसा श्रीऋषभदेवसत्कवंश १ विद्या २ विनय ३ विजय ४ विवेक ५ विचार ६ सदाचार ७ विस्तार ८ प्रभृति षण्णवतिराजगुणगानतत्परा, पुनः किंलक्षणा स्त्री साधितस्वरगुणाः साधिताः स्वरस्य गुणा यया, पक्षे साधितस्वरो गुणस्तंत्री यस्याः सा, तद्यथा "सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्छनास्त्वेको । विंशतिः ताना एकोनपंचाशत् इत्येवं गीतलक्षणं ॥ १ ॥ उद्गानादौ नकारो न मध्ये घकार एव च ॥ अन्ते हकारो नाकार्यस्त्रयो गीतस्य वैरिणः ॥ २ ॥ नमाक्षरो यदुद्गाने भवेत्तत्र न संशयः । हकारो वा घकारो वा रेफो वापि कुलक्षयः ॥ ३ ॥ नकारे नष्टसर्वस्वं घकारे घातमेव च । हकारे निहता लक्ष्मीस्तस्माद्गीतं न धारयेत् ॥ ४ ॥ हे जघन् ऋषभवर्णनकवयः परिहृत्य कुरुत सुकवित्वं, इत्यादिदोषान् विचार्य सुस्वरा १, सुतालं २, सुपदं ३, शुद्धं ४, ललितं ५, सुबद्धं ६, सुप्रमेयं ७, सुरागं ८, सुरम्यं ९, समं १०, सदर्थं ११, सुग्रहं १२, हृष्टं १३, सुकाव्यं १४, सुयमकं १५, सुरक्तं १६, संपूर्णं १७, सालंकारं १८, सुभाषाभव्यं १९, सुसन्धिव्युत्पन्नं २०,

गम्भीरं २१, स्फुटं २२, सुप्रभं २३, अग्राम्यं २४, कुंचितकंपितं २५, समायातं २६, ओजसःसंगतं २७, प्रसन्नस्थिरं २८, सुखस्थानकं २९, द्रुतं ३०, मध्यं ३१, विलंबितं ३२, द्रुतविलंबितं ३३, गुरुत्वं ३४, प्रांजलत्वं ३५, उक्तप्रमाणं ३६, चेति षट्त्रिंशत् गीतगुणानाहत्य लघुसालिग सूड, धूनु, माठनु, पडमठजत, त्रिवडनु, पडतालनु, एकताली, झुंबडनु, कृपाणु पंचतालेश्वर रागकदंबकप्रभृतिगीतचतुरा, पुनः किंलक्षणा ? ऋजूभवद्देहदण्डतततुम्बकस्तनी, सरलीभवत् देह एव दण्डस्ततौ विस्तीर्णौ तुम्बकाकारौ स्तनौ यस्याः सा० ऋजू० ॥ ७२ ॥

एकया किल कुलाङ्गनागुण-
श्रेणिवर्णनकृता व्यधायि सा ।
कोशमाशु ममतात्त्विकं कदा-
ऽदत्त सेयमिति संशयास्पदम् ॥ ७३ ॥

एक० एकया स्त्रिया सा सुमङ्गला इति संशयास्पदं विधायि क्रियते स्म, इतीति किं ? सा इयं सखी ममतात्त्विकं परमार्थिकं कोशं भांडागारं आशु शीघ्रं कदा कस्यां वेलायां आदत्त गृहीतवती, किंविशिष्टया स्त्रिया ? कुलाङ्गनागुणश्रेणिवर्णनाकृतसुरूपा १, सुभगा २, सुवेषा ३, सुरतप्रवीणा ४, सुनेत्रा ५, सुखाश्रया ६, विभोगिनी ७, विचक्षणा ८, प्रियभाषिणी ९, प्रसन्नमुखी १०, पीनस्तनी ११, चारुलोचना १२, रसिका १३, लज्जान्विता १४, लक्षणयुक्ता १५, पठितज्ञा

१६, गीतज्ञा १७, वाद्यज्ञा १८, नृत्यज्ञा १९, सुप्रमाण-शरीरा २०, सुगन्धप्रिया २१, नीतिमानिनी २२, चतुरा २३, मधुरा २४, स्नेहवती २५, विमर्षवती २६, गूढमंत्रा २७, सत्यवती २८, कलावती २९, शीलवती ३०, प्रज्ञावती ३१, गुणान्विता ३२, चेति द्वात्रिंशन्नायकानां गुणश्रेणिवर्णनं करोतीति वर्णनकृत् तया वर्णनकृता, सर्वस्यापि तात्त्विकः कोशो गुणा एव ज्ञेया इति भावः ॥ ७३ ॥

स्वेशसौहृदमवेत्य तन्मुख-
स्यागतैः शरणमन्तरिक्षतः ।
भास्करोदयभयादिवोडुभिः,
काप्यरंस्त शुचिरत्नकन्दुकैः ॥ ७४ ॥

स्वेश० कापि स्त्री शुचिरत्नकन्दुकैः पवित्रपद्मरागस्फटिक-वैडूर्यचन्द्रकांतप्रभृतिरत्नसत्कंदुकैः अरंस्त रेमे । उत्प्रेक्ष्यते—भास्करोदयभयात् अन्तरिक्षतः आकाशात् शरणं आगतैरुडु-भिर्नक्षत्रैरिव, किं कृत्वा? तन्मुखस्य तस्याः सुमङ्गलाया मुखस्य स्वेशसौहृदं अवेत्य स्वस्य आत्मनः ईशेन चन्द्रेण सह सौहृदं मैत्र्यं ज्ञात्वा मुखस्य चन्द्रदर्पणपद्मप्रभृतीनामुपमानं दीयते, अतो मुखस्य चन्द्रेण मैत्र्यं तेन तत्पार्श्वं प्राप्त इति भावः ॥ ७४ ॥

को बली जगति कः शुचां पदं,
याचितो वदति किं मितंपचः ।
कीदृशं भटमनः सुरेषु को,
भैरवस्तव धवश्च कीदृशः ॥ ७५ ॥

प्रश्नसन्ततिमिमां वितन्वतीं,
काञ्चनग्लपितकाञ्चनच्छविः ।
नाभिभूत इति सैकमुत्तरं,
लीलयैव ददती व्यसिष्मयत् ॥ ७६ ॥ युग्मम् ॥

को० सा सुमङ्गलानाभिभूत इति एकं उत्तरं लीलयैव ददती सती काञ्चन सखीं विस्मयते विस्मयं प्रापयति स्म, किंलक्षणा ? सुमङ्गला ग्लपितकाञ्चनच्छविः उपलपितसुवर्णकान्तिः, किं कुर्वन्तीं कांचनसखीं इमां प्रश्नसंततिं प्रश्नश्रेणिं वितन्वतीं कुर्वन्तीं, इमां कां जगति विश्वे को बली बलवान् ना पुरुषः, कः शुचां पदं शोकानां स्थानं अभिभूतः पराभूतः मितंपचः कृपणो याचितः सन् किं वदति, नटमनः सुभटस्य स्वान्तं, कीदृशं ? अभिनिर्भयं, सुरेषु देवेषु को भैरवो भयंकरः, भूतः, च अन्यत् तव धवो भर्त्ता, कीदृशः ? नाभिभूतः नाभिजातः ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

उत्तरोत्तरकुतूहलैरिमा,
श्रान्तचेतसमुवाच काचन ।
दृश्यतां सहृदयेऽरुणोदयो,
जात एव दिशि जम्भवैरिणः ॥ ७७ ॥

उत्त० काचन सखी इमां सुमङ्गलां उवाच, किंलक्षणां सुमङ्गलां उत्तरोत्तरकुतूहलैः उपरिष्टात् २ वर्तमान २ कौतुकैश्रान्तचेतसं व्यासमानसां, हे सहृदये विचक्षणे जंभवैरिणो दिशि इन्द्रस्य दिशि पूर्वस्यां अरुणोदयः सूर्योदयो जातः एव दृश्यताम् ॥ ७७ ॥

शङ्खण तव सौखरात्रिको,
द्वारि संनदति दीयता श्रुतिः ।
आर्यकार्यफलवर्धनस्वनो-
पज्ञपुण्यपटलैरिवोज्ज्वलः ॥ ७८ ॥

शङ्ख० हे स्वामिनि ! एष शंखो द्वारि द्वारे संनदति शब्दं करोति श्रुतिः कर्णो दीयतां, किंलक्षणः शंखः ? तवसौखरात्रिकः सुखरात्रिं पृच्छतीति सौखः, पुनः किंलक्षणः उत्प्रेक्ष्यते—आर्यकार्यफलवर्धनस्वनोपज्ञपुण्यपटलैरुज्वल इव आर्यकार्यफलस्य उत्तमकार्यफलस्य वर्धनस्य वृद्धिकारिणः, स्वनशब्दस्यापज्ञैः संजातैः पुण्यपटलैरुज्ज्वला धवल इव ॥७८ ॥

जाग्रदेव तव शान्तदिग्मुखो,
वक्ति यन्मृदुरवः प्रियं द्विकः ।
किं ततः सुचरिताद् द्विजन्मना-
मग्रभोजनिकतामयं गमी ॥ ७९ ॥

जाग्र० हे स्वामिनि ! जाग्रदेव मृदुरवः सकोमलशब्दो द्विकः काको यत् तव प्रियं अभीष्टं वक्ति वदति, किंविशिष्टो द्विकः ? शान्तदिग्मुखः शान्ताया दिशि मुखं यस्य स शान्त०, ततस्तस्मात् सुचरितात् सदाचरणात् अयं द्विकः द्विजन्मनां ब्राह्मणानां अग्रभोजनिकतां अग्रेसरभोजनत्वं गमिष्यति ॥७९॥

मुदति नदति सोऽयं पक्षिणां चण्डदीधि-
त्युदय समयनश्यन्नेत्रमोहः समूहः ।
रजनिरजनिदूरेऽस्मादृशां स्वैरचार-
प्रमथनमथ नृत्यत्पक्षतीनामितीव ॥ ८० ॥

सुद० हे सुदति शोभना दंता यस्याः सा सुदती तस्याः संबोधनं क्रियते, सोऽयं पक्षिणां समूहो नदति शब्दायते, किंलक्षणः पक्षिणां समूहः ? चंडदीधित्युदयसमयनश्यन्नेत्रमोहः सूर्योदयसमये नष्टनिद्रामोहः, किंविशिष्टानां पक्षिणां नृत्यत् पक्षीणां उत्प्रेक्ष्यते—इतीव, इतीति किं ? अथानन्तरं असादृशां सैरवाचप्रथनं स्वेच्छागमनस्य स्फेटनं रजनि रात्रिर्दूरे अजनि जाता ॥ ८० ॥

दिनवदनविनिद्रीभूतराजीवराजी-
परमपरिमलश्रीतस्करोऽयं समीरः ।
सरिदपहृतशैत्यः किंचिदाधूय वल्ली-
र्भ्रमति भुवि किमेष्यच्छूरभीत्याऽव्यवस्थम् ॥८१॥

दिन० अयं समीरो वायुः भुवि पृथिव्यां किं एष्यत शूरभीत्या एष्यत आगमिष्यतः शूरस्य सूर्यस्य सुभटस्य वा भीत्या भयेन अव्यवस्थं व्यवस्थारहितं यथा भवति तथा भ्रमति, किं कृत्वा किंचिद्वल्लीराधूय धूनयित्वा, किंलक्षणः समीरः दिनवदनविनिद्रीभूतराजीवराजीपरमपरिमलश्रीतस्करः दिनवदने प्रभाते विनिद्रीभूता विकस्वरा या राजीवराजी कमलश्रेणिस्तस्याः या परमपरिमलस्य श्रीर्लक्ष्मीस्तस्यास्तस्करश्चौरः, पुनः किंल० सरिदुपहृतशैत्यः सरितो नद्या अपहृतं गृहीतं शैत्यं शीतलत्वं येन स सरिदुप०, अन्योपि यो अपराधी स शूराद्बिभेति, कमलपरिमलश्रीहरणे वायोरेको अपराधः, नद्याः शीतत्वहरणे द्वितीयः, वल्लीधूनने परदारल-

पटत्वलक्षणस्तृतीयोऽपराधः, वायुश्च शीतो मन्दः सुरभिश्चेति त्रिगुणो वर्ण्यते इति भावः ॥ ८१ ॥

लक्ष्मीं तथाम्बरमथात्मपरिच्छदं च,
मुंचन्तमागमितयोगमिवास्तकामम् ।
दृष्ट्वेशमल्परुचिमुज्झति कामिनीव,
तं यामिनी प्रसरमम्बुरुहाक्षि पश्य ॥ ८२ ॥

लक्ष्मीं० हे अम्बुरुहाक्षि कमललोचने ! पश्य विलोकय यामिनी रात्रिः कामिनीव तं प्रसरं उज्झति त्यजति, किं कृत्वा? ईशं चन्द्रं अल्परुचिं अल्पकान्तिं अल्पप्रकाशं अल्पेच्छं वा दृष्ट्वा विलोक्य, किं कुर्वन्तं? चन्द्रं लक्ष्मीं तथा अम्बरं आकाशवस्त्रं वा अथ आत्मपरिच्छेदं च आत्मपरिवारं मुंचन्तं, उत्प्रेक्ष्यते—अस्तकामं अस्ताभिलाषिणं निरस्तकंदर्पं वा, आगमितयोगमिव अभ्यस्तात्मानमिव ॥ ८२ ॥

अवशमनशद्भीतः शीतद्युतिः स निरम्बरः
खरतरकरे ध्वस्यद्ध्वान्ते रवावुदयोन्मुखे ।
विरलविरलास्तज्जायन्ते नभोऽध्वनि तारकाः
परिवृढदृढीकाराभावे बले हि कियद्बलम् ॥ ८३ ॥

अव० स शीतद्युतिः चन्द्रः सूर्यभयेन भीतस्त्रस्तनिरंबरो गतवस्त्रः सन् अवश्यं यथा भवति तथा अनशत् नष्टः, क्व सति खरतरकरे, तीक्ष्णकिरणे ध्वस्यद्ध्वान्ते छिद्यमानान्धकारे, एवंविधे रवौ सूर्ये उदयोन्मुखे सति तेन कारणेन नभोऽध्वनि आकाशमार्गे तारका विरला विरला जायन्ते, हि

निश्चितं परिवृढी हढीकाराभावे परिवृढस्य नायकस्य हढीकारस्तस्य अभावे सति बले सैन्ये सति बलं कियद्भवति अपि तु न किमपि, अन्योपि शीतद्युतिः शीतलस्वभावो यः स्यात्, सकठोरान्नश्यति, तस्मिन्नष्टे तत्परिच्छदो विनश्यतीति भावः ॥ ८३ ॥

गम्भीराम्भःस्थितमथ जपन्मुद्रितास्यं निशाया-
मन्तर्गुंजन्मधुकरमिषान्नूनमाकृष्टिमंत्रम् ।
प्रातर्जातस्फुरणमरुणस्योदये चन्द्रबिम्बा-
दाकृष्याब्जं सपदि कमलां स्वांकतल्पीचकार ॥८४॥

गंभी० अब्जं कमलं कमलां लक्ष्मीं चन्द्रबिम्बात् आकृष्य सपदि झटिति स्वाङ्कतल्पीचकार, स्वोत्संगे निवेशयति स्मेत्यर्थः, किंलक्षणं अब्जं? गंभीरान्तःस्थितं गंभीरजले स्थितं, किं कुर्वन्? नूनं निश्चितं निशायां रात्रौ अन्तर्मध्ये गुंजन् मधुकरमिषात् गुंजारवकारि भ्रमरछलात् मुद्रितास्यं मुद्रितमुखं सत् आकृष्टिमंत्रं जपन्, आकर्षणमंत्रस्य जापं कुर्वाणं, पुनः किं वि० अब्जं प्रातः प्रभाते जातस्फुरणं संजातमंत्रसिद्धिः, अन्योपि साधको जले स्थित्वा मौनेन रात्रौ मंत्रं जपतीति भावः ॥८४॥

इति श्रीमदञ्चलगच्छे कविचक्रवर्तिश्रीजयशेखरसूरिविरचिते
श्रीजैनकुमारसंभवस्य तच्छिष्यश्रीधर्मशेखरसूरिविरचित-
टीकायां श्रीमाणिक्यसुन्दरसूरिशोधितायां
दशमसर्गव्याख्या समाप्ता ॥ १० ॥

अथ एकादशः सर्गः ।

निराकरिष्णुस्तिमिरारिपक्षं,
महीभृतां मौलिषु दत्तपादः ।
अथ ग्रहाणामधिभूरुदीये,
प्रसादयन् दिग्ललनाननानि ॥ १ ॥

निरा० अथानन्तरं ग्रहाणां अधिभूः यः ग्रहस्वामी श्रीसूर्ये उदीये उदयं प्राप्तः, किं कुर्वन् सूर्यः दिग्ललनाननानि प्रसादयन् दिगंगनानां मुखानि प्रसन्नीकुर्वन्, पुनः किंविशिष्टः सूर्यः ? तिमिरारिपक्षं अन्धकारे शत्रुपक्षं निराकरिष्णुः निराकरणशीलः, पुनः किंवि० महीभृतां पर्वतानां राज्ञां वा मौलिषु शिखरेषु मस्तकेषु वा दत्तपादः दत्तकिरणः दत्तचरणो वा ॥ १ ॥

तमिस्रबाधाम्बुजबोधधिष्ण्य-
मोषाम्बुशोषाध्वविशोधनाद्याः ।
अर्थक्रिया भूरितरा अवेक्ष्य,
वेधा व्यधादस्य करान् सहस्रम् ॥ २ ॥

तमि० वेधा ब्रह्मा अस्य रवेः सूर्यस्य करान् सहस्रं व्यधात् चकार, यथा विंशतिः पुरुषा अत्रैकवचनं तथा अत्रापि, किं कृत्वा ? तमिस्रबाधांबुजबोधिधिष्ण्यमोषांबुशोषाध्वविशोधनाद्याः, तमिस्रबाधा अन्धकारपीडा, अंबुजबोधः कमलविकासश्च धिष्ण्यमोषो नक्षत्रमोषश्च अंबुशोषो जलशोषश्च,

अध्वविरोधनं मार्गशोधनं च, इत्याद्या भूरितराः, प्रचुरा अर्थक्रियाः कार्याणि अवेक्ष्य ज्ञात्वा ॥ २ ॥

प्रातः प्रयाणाभिमुखं तमिस्रं,
कोकास्यमालिन्यसरोजमोहौ ।
आलंब्य सार्थं न हि मार्गमेको,
गच्छेदिति च्छेदितवान्न नीतिम् ॥ ३ ॥

प्रातः० अन्धकार इति नीतिं न्यायं न छेदितवानत् न छिनत्ति स्म, इतीति किं न हि एको मार्गं गच्छेत्, किं रूपं तमिस्रं ? प्रातः प्रयाणाभिमुखं, किं कृत्वा ? कोकास्यमालिन्यसरोजमोहौ सार्थं आलंब्य कोकानां चक्रवाकानां आस्यमालिन्यं मुखमालिन्यं सरोजानां कमलानां मोहः संकोचः, एतौ द्वौ सार्थं आलम्ब्य आश्रित्य ॥ ३ ॥

तमो ममोन्मादमवेक्ष्य नश्य-
द्देतैरमित्रं स्वगुहास्वधारि ।
इति क्रुधेव द्युपतिर्गिरीणां,
मूर्ध्नो जघानायतकेतुदण्डैः ॥ ४ ॥

तमो० द्युपतिः सूर्यः गिरीणां पर्वतानां मूर्ध्नो मस्तकानि आयतकेतुदण्डैर्विस्तीर्णकिरणदण्डैर्जघान, उत्प्रेक्ष्यते इति क्रुधेव रोषेण वा, इतीति किं ? एतैः पर्वतैः मम अमित्रः शत्रुरूपं तमोऽन्धकारं स्वगुहासु आत्मीयगुहासु अधारि धृतिं, किं कुर्वन् ? अन्धकारं मम उन्मादं अवेक्ष्य नश्यत् ॥ ४ ॥

क्षारांबुपानादनिवृत्ततृष्णः,
पूर्वोदधेरेष किमौर्ववह्निः ।
नदीसरःस्वादुजलानि पातु-
मुदेति कैश्चिज्जगदे तदेति ॥ ५ ॥

क्षारां० तदा तस्मिन्नवसरे कैश्चित् पुरुषैरिति जगदे जल्पितं, इतीति किं? एष पूर्वोदधेः पूर्वसमुद्रात् किं कुर्वन्वह्निः? वडवानलः क्षारांबुपानादनिवृत्ततृष्णः, क्षारजलपानतो अभग्नतृष्णः सन् नदीसरःस्वादुजलानि पातुं उदेति उदयं प्राप्नोति ॥ ५ ॥

इन्दोः सुधास्राविकरोत्सवज्ञा
विज्ञातभाव्यर्ककरोपतापा ।
व्याजान्निशाजागरगौरवस्य,
शिश्ये सुखं कैरविणी सरस्सु ॥ ६ ॥

इ० कैरविणी कुमुदिनी या इन्दोः किरणैर्विकासति सा कैरविणी कुमुदिनीत्युच्यते, निशाजागरगौरवस्य व्याजात् सरस्सु सरोवरेषु सुखं यथा भवति तथा शिश्ये सुप्ता, संकोचमाप्तेत्यर्थः, किं लक्षणा कैरविणी? इन्दोः सुधास्राविकरोत्सवज्ञा इन्दोश्चन्द्रस्य अमृतस्राविणां किरणानां उत्सवं जानातीति इन्दोः सुधा०, पुनः किं० विज्ञातभाव्यर्ककरोपतापा ज्ञातो भविष्यत् सूर्यकिरणानां तापो यया सा विज्ञात० ॥ ६ ॥

बद्धांजलिः कोषमिषाद्रतेना,
जातश्रियं पङ्कजिनीं दिनाप्त्या ।

जहास यत्तद्व्यसने निशायां
कुमुद्वती तत् क्षमयांबभूव ॥ ७ ॥

बद्धां० कुमुद्वती कुमुदिनी निशायां रात्रौ यत् तद्व्यसनेन तस्याः पंकजिन्याः कमलिन्या व्यसने कष्टे सति जहास हसितवती विकसिता वा, तत् क्षमयांबभूव, किं कृत्वा? दिवसप्राप्त्या पंकजिनीं कमलिनीं जातश्रियं वीक्ष्य, किंलक्षणा कुमुद्वती? कोशमिषात् मुकुलमिषात् बद्धांजलिर्योजितहस्ता, पुनः किं० गतेनाऽस्तमित इनः स्वामी चन्द्रो भर्त्ता यस्याः सा गतेना ॥ ७ ॥

देहे न सेहे नलिनं यदिन्दु-
पादोपघातं निशि तं ववाम ।
पराभवं सूरकराभिषङ्गे,
प्रगे हृदो निर्यदलिच्छलेन ॥ ८ ॥

देहे० नलिनं कर्तृपदं कमलं निशि रात्रौ यत् इन्दुपादोपघातं इन्दोश्चन्द्रस्य पादाः किरणाश्चरणा वा तेषां उपघातं देहे न सेहे, प्रगे प्रभाते सूरकराभिषंगे सूर्यकिरणसंसर्गे हृदो निर्यदलिच्छलेन हृदयान्निर्गच्छत् भ्रमरमिषेण तं पराभवं च वामयति स्म ॥ ८ ॥

भित्त्वा तमः शैवलजालमंशु-
मालिद्विपे स्फारकरे प्रविष्टे ।
आलीनपूर्वोऽपससार सद्यो,
वियत्तडागादुडुनीडजौघः ॥ ९ ॥

भित्त्वा० उडुनीडजौघः नक्षत्ररूपः पक्षिसमूहः आलीनपूर्वैः पूर्वनिविष्टः सन् सद्यस्तत्कालं वियत्तडागात् आकाशसरोवरात्, अपससार अपसृतः, क्व सति? तमःशैवलजालं अन्धकाररूपशैवालसमूहं भित्त्वा स्फारकरे प्रौढकिरणे महाशुंडादंडे वा अंशुमालिद्विपे सूर्यरूपगजे प्रविष्टे सति ॥ ९ ॥

किंचित्समासाद्य महः पतङ्ग-
पक्षः क्षपायां यदलोपि दीपैः ।
तां वैरशुद्धिं व्यधिताभिभूय,
दीपान् प्रगे कोऽप्युदितः पतङ्गः ॥ १० ॥

किंचि० दीपैः क्षपायां रात्रौ किंचिन्महस्तेजः समासाद्य प्राप्य पतंगपक्षः शलभपक्षः पक्षे सूर्यपक्षे यत् अलोपि लुप्तः प्रगे प्रभाते कोऽपि पतंगः उदितः सन् दीपन् अभिभूय पराभूय वैरशुद्धिं व्यधित कृतवान्, अत्रापि पतङ्गः सूर्यः शलभो वा ज्ञेयः ॥ १० ॥

गते रवौ संववृधेऽन्धकारो,
गतेऽन्धकारे च रविर्दिदीपे ।
तथापि भानुः प्रथितस्तमोभि-
दहो यशो भाग्यवशोपलभ्यम् ॥ ११ ॥

गते० रवौ सूर्ये गते सति अन्धकारो ववृधे वृद्धिं प्राप्तः अन्धकारशब्दः पुंनपुंसकः अन्धकारे गते रविः सूर्यो दिदीपे दीप्तः, तथापि भानुः सूर्यः तमोभित् अन्धकारभित् प्रथितो विख्यातः, अहो इत्याश्चर्ये यशो भाग्यवशेन उपलभ्यं प्राप्यं वर्तते ॥ ११ ॥

घूकैः कृतो रटद्भिः कटु लोककर्णो-
च्चाटो निशाटैस्तमसो बलाद्यैः ।
सूरे तमो निघ्नति मौनिनस्ते,
निलीय तस्थुर्दरिणो दरीषु ॥ १२ ॥

कृ० यैर्निशाटैर्घूकैः तमसो बलात् अन्धकारस्य बलात् कटु रटद्भिः कर्णस्य कटुशब्दं कुर्वद्भिः सद्भिः लोककर्णोच्चाटः कृतः, ते घूका दरिणो भययुक्ता मौनिनो मौनयुक्ताश्च सन्तः दरीषु गुहासु निलीय तस्थुः स्थिताः, क सति ? सूरे सूर्ये तमोऽन्धकारं निघ्नति विनाशयति सति ॥ १२ ॥

कोकप्रमोदं कमलप्रबोधं,
स्वेनैव तन्वंस्तरणिः करेण ।
नीतिं व्यलंघिष्ट न पोष्यवर्गे-
ष्वनन्यहस्ताधिकृतिस्वरूपाम् ॥ १३ ॥

कोक० तरणिः सूर्यः कोकप्रमोदं कोकानां चक्रवाकानां हर्षं कमलप्रबोधं स्वेनैव करेणात्मीयेनैव किरणेन हस्तेन वा तन्वन् सन् पोष्यवर्गेषु अनन्यहस्ताधिकृतिस्वरूपां स्वस्य हस्ताधिकारे स्वरूपां नीतिं न व्यलंघिष्ट न लंघयति स्म ॥ १३ ॥

इलातले बालरवेर्मयूखै-
रुन्मेषिकाश्मीरवनायमाने ।
सुमङ्गला कौङ्कुममङ्गरागं,
निर्वेष्टुकामेव मुमोच तल्पम् ॥ १४ ॥

इला० इलातले पृथ्वीतले बालरवेर्बालार्कस्य मयूखैः

किरणैरुन्मेषिकाश्मीरवनायमाने सति विकस्वरकाश्मीरवनवदाचरति सति सुमंगला कौङ्कुमं अङ्गरागं निर्वेष्टुकामेव उपभोक्तुकामेव तल्पं शयनीयं मुमोच ॥ १४ ॥

जलेन विष्वग्विततैस्तदंशु-
जालैरभेदं भजता प्रपूर्णम् ।
करे मृगाङ्कोपलवारिधानीं,
कृत्वा सखी काप्यभवत्पुरोऽस्याः ॥ १५ ॥

जले० कापि सखी करे हस्ते जलेन पूर्णं मृगांकोपलवारिधानीं चन्द्रकान्तकरकं कृत्वा अस्याः सुमंगलायाः पुरोऽग्रेऽभवत्, किंविशिष्टेन जलेन ? विष्वग् विततैः समंततः प्रसृतैस्तदंशुजालैस्तस्या मृगांकोपलवारिधान्या अंशुजालैः किरणसमूहैरभेदं भजता ऐक्यं प्राप्नुवता ॥ १५ ॥

सुमङ्गलाया मृदुपाणिदेशे,
सा मुञ्चती निर्मलनीरधाराः ।
उल्लासयन्ती गुरुभक्तिवल्लीं,
कादम्बिनी आलिजनेन मेने ॥ १६ ॥

सुम० आलिजनेन सखीवर्गेण सा स्त्री कादंबिनी मेघमालेव मेने मन्यते स्म, किं कुर्वती ? मृदुपाणिदेशे कोमलहस्ते निर्मलनीरधाराः मुंचती, पुनः किंविशि० ? गुरुभक्तिवल्लीं उल्लासयन्ती वर्धयन्ती ॥ १६ ॥

यदम्भसा दम्भसमुज्झितायाः,
राज्ञा मुखेन्दोर्विहितोऽनुषङ्गः ।

कृतामृताख्यं कृतकर्मभिस्त-
जगत्सु तज्जीवनतां जगाम ॥ १७ ॥

यद० अम्भसा पानीयेन दंभसमुज्झिताया मायामुक्ताया राज्याः, सुमंगलायाः मुखेंदोः मुखचन्द्रस्य यत् अनुषङ्गः सम्पर्को विहितः, तस्मात् कारणात् तत् अम्भः कृतकर्म्मभिर्विद्वद्भिर्जगत्सु विश्वेषु कृतामृताख्यं सज्जीवनतां जगाम, अमृतं जीवनं पानीयमेवोच्यते ॥ १७ ॥

मुखं परिक्षालनलग्नवारि-
लवं चलच्चंचलनेत्रभृङ्गम् ।
प्रातः प्रबुद्धं परितः प्रसक्ता-
वश्यायमस्या जलजं जिगाय ॥ १८ ॥

मुखं० अस्याः सुमंगलायाः मुखं कर्तृपदं जलजं कमलं जिगाय जयति स्म, किं लक्षणं मुखं? परिक्षालनलग्नवारि प्रक्षालनेन लग्ना जलबिन्दवो यत्र तत् परिक्षालन०, पुनः किंवि०? चलच्चंचलनेत्रभृंगं चलन्तौ चंचलौ नेत्रे एव भृंगौ भ्रमरौ यत्र तत् चल०, पुनः किं० प्रातः प्रबुद्धं प्रभाते विकसितं, पुनः किं०? परितः प्रसक्तावश्यायं समंततो लग्नतुहिनम् ॥ १८ ॥

निशावशाद्भूषणजालमस्या,
विसंस्थुलं सुष्ठु निवेशयन्ती ।
काप्युज्झितं लक्षणवीक्षणस्य,
क्षणे करं दक्षिणमन्वनैषीत् ॥ १९ ॥

निशा० कापि सखी सुमंगलाया दक्षिणं करं अन्वनैषीत्

रुष्टं प्रीतिमंतं चकार, किंवि० दक्षिणं करं ? लक्षणवीक्षणस्य क्षणे लक्षणावलोकनसमये उज्झितं त्यक्तं, पुरुषस्य दक्षिणहस्ते लक्षणानि वीक्ष्यन्ते, नार्या वामहस्ते तु तदा दक्षिणो हस्तो रुष्ट इति भावः, किं कुर्वती सखी ? निशावशात् अस्याः सुमंगलायाः विसंस्थुलं भूषणजालं आभरणसमूहं सुष्ठु शोभनं निवेशयन्ती कुर्वती, तदा दक्षिणहस्तस्यापि भूषणानि सुष्ठु निवेशितानि इति प्रीतिमाँश्चक्रे ॥ १९ ॥

यं दर्पणो भस्मभरोपरागं,
प्रगेऽन्वभूत् कष्टधिया प्रदिष्ठः ।
तदा तदास्यप्रतिमामुपास्य,
सखीकरस्थः प्रशशंस तं सः ॥ २० ॥

यं० दर्पणः आदर्शः प्रगे प्रभाते कष्टधिया कष्टबुद्ध्या यं भस्मभरोपरागं भस्मनामार्जनोपप्लवं यत् प्रदिष्ठः सुकुमालतरः सन् अन्वभूत् अनुभवति स्म तदा तस्मिन्नवसरे दर्प्पणः सखीकरस्थः सख्या हस्तस्थितः सन् तदास्यप्रतिमां उपास्य तस्याः सुमंगलायाः आस्यं मुखं तस्य प्रतिमां प्रतिबिंबं सेवित्वा तं भस्मभरोपरागं प्रशशंस प्रशंसितवान् ॥ २० ॥

समाहिता संनिहितालिपालि-
प्रणीतगीतध्वनिदत्तकर्णा ।
उपस्थितं सा सहसा पुरस्ता-
द्दक्षा ऋभुक्षाणमथालुलोके ॥ २१ ॥

समा० सा दक्षा सुमंगला सहसा ऋभुक्षाणां इन्द्रं उपस्थितं आगतं पुरस्तात् अग्रे आलुलोके अपश्यत्, किंलक्षणा

सुमंगला ? समाहिता समाधियुक्ता संनिहितालिपालिप्रणीतगीतध्वनिदत्तकर्णा समीपस्थसखीश्रेणिसत्कक्रृते गीतध्वनौ दत्तकर्णा ॥ २१ ॥

युगादिभर्तुर्दयितेति तीर्थं,
तां मन्यमानः शतमन्युरूचे ।
नत्वांजलेर्योजनया द्विनाल-
नालीककोशभ्रममादधानः ॥ २२ ॥

युगा० शतमन्युरिन्द्रः सुमंगलां युगादिभर्त्तुर्दयिता पत्नी, इति तीर्थं मन्यमानः सन् नत्वा ऊचे, किंविशिष्ट इन्द्रः ? अंजलेर्योजनया द्विनालनालीककोशभ्रमं नालद्वययुक् कमलस्य भ्रान्तिं आदधानः ॥ २२ ॥

परिच्छदाप्यायकसौम्यदृष्टे,
मृगेक्षणालक्षणकोशसृष्टे ।
जयैकपत्नीश्वरि विश्वनाथ-
श्रीमंजुहृत्पंजरसारिके त्वम् ॥ २३ ॥

परि० हे परिच्छदाप्यायकसौम्यदृष्टे ! परिच्छदस्य आप्यायिका सौम्यदृष्टिर्यस्याः तस्याः संबोधनं क्रियते हे परि०, हे मृगेक्षणालक्षणकोशसृष्टे ! त्रिषु श्यामां त्रिषु श्वेतां त्रिषु ताम्रां त्रिषून्नतां । त्रिगंभीरां त्रिविस्तीर्णां न्यायतां त्रिकृशीयसीं ॥ १ ॥ एतद्व्याख्या—नेत्र १ दृष्टिमध्य २ स्तनान्तरेषु ३ त्रिषु श्यामां, नेत्रमध्य १ दन्त २, शयःसु त्रिषु श्वेतां, हस्त १ ओष्ठ २ तालु ३ त्रिषु ताम्रां आरक्तां, योनि १ नख २ स्तनेषु ३

त्रिषून्नतां, नाभिः १ सत्व २ स्वरेषु ३ त्रिगंभीरां, मुख १ जघन २ हृदयेषु ३ त्रिविस्तीर्णां, नासा १ अंगुलि २ नेत्रेषु ३ त्र्यायतां त्रिप्रलंबां, मध्य १ अणि २ रोमावलिषु ३ त्रिकृशीयसीं० ईदृशस्त्रीलक्षणानां कोशस्य भांडागारस्य सृष्टे! हे एकपत्नीश्वरि! हे विश्वनाथश्रीमंजुहृत्पंजरसारिके! श्री आदिदेवस्य श्रिया शोभया मंजु मनोज्ञं यत् हृदयमेव पंजरं तत्र सारिकासदृशे त्वं जय ॥ २३ ॥

जाता महीध्रादिति या शिला सा,
त्वां स्पर्धमानास्तु जडा मृडानी ।
अंभोधिलब्धप्रभवेति मत्सी,
न श्रीरपि श्रीलवमश्नुते ते ॥ २४ ॥

जा० सा मृडानी पार्वती त्वां स्पर्धमाना जडा अज्ञाना अस्तु, या पार्वती महीध्रात् पर्वतात् जाता इति शिला वर्त्तते, श्रीरपि लक्ष्मीरपि ते तव श्रीलवं शोभायाः अंशं न अश्नुते न प्राप्नोति, किंविशिष्टा लक्ष्मीः? अंभोधिलब्धप्रभवा समुद्रात् जाता इति कारणात् मत्सी ॥ २४ ॥

केनापि नोढा स्थविराङ्गजेति,
या निम्नगाख्यामपि कर्मणाप्ता ।
पपात पत्यौ पयसां पिपर्ति,
कथं सरस्वत्यपि सा तुलां ते ॥ २५ ॥

केना० या सरस्वती स्थविरांगजा स्थविरो ब्रह्मा वृद्धश्च तस्य अंगजा पुत्री इति कारणात् केनापि नोढा न परिणीता,

या सरस्वती कर्मणा निम्नगाख्यां निम्नं नीचैर्याति इति निम्नगा नदी नीचगामिनी स्त्री वा तस्या आख्यां नाम आप्ता प्राप्ता सती पयसां पत्यौ समुद्रे पपात, सा सरस्वत्यपि, ते तव तुलां साहश्यं कथं पिपर्ति प्राप्नोति ? ॥ २५ ॥

या स्वर्वधूः काचन कांचनांगी,
तुलां त्वयारोढुमियेष मूढा ।
असारतां किं विबुधैर्विचार्य,
रंभेति तस्या अभिधा व्यधायि ॥ २६ ॥

या० या कांचनांगी सुवर्णशरीरा काचन स्वर्वधूर्देवांगना मूढा सती त्वया तुलां आरोढुं इयेष वांछति स्म, विबुधैर्विद्वद्भिर्देवैर्वा असारतां विचार्य तस्याः स्वर्वध्वाः किं रंभा इति नाम व्यधायि कृतं ? रंभाशब्देन कदली, सा मध्ये असारा भवति ॥ २६ ॥

कलाकुलाचारसुरूपताद्यं,
यं तावकं गौरि गुणं गृणीमः ।
मंजामहाब्धाविव तत्र मग्ना,
वाग्न स्वमुद्धर्तुमधीश्वरी नः ॥ २७ ॥

कला० हे गौरि ! वयं तावकं त्वदीयं कलाकुलाचारसुरूपताद्यं यं गुणं गृणीमः ब्रूमः, तत्र तस्मिन् गुणे मग्ना नोऽस्माकं वाक् स्वं उद्धर्तुं न अधीश्वरी न समर्था, का इव मंजेव छागीव महाब्धौ महासमुद्रे मग्ना सती स्वं उद्धर्तुं न समर्था स्यात् ॥ २७ ॥

सीमासि सीमन्तिनि भाग्यवत्सु,
यल्लोकभर्तुर्हृदयंगमासि ।
यच्चेदृशं स्वप्नसमूहमूह-
क्षमं श्रुताधैर्यधियामपश्यः ॥ २८ ॥

सीमा० हे सीमंतिनि ! त्वं भाग्यवत्सु लोकेषु सीमा, असि, यत् लोकभर्तुः श्रीयुगादीश्वरस्य हृदयंगमा हृदयवल्लभा असि, च अन्यत् यत् श्रुताधैर्यधियां बहुश्रुतानां ऊहक्षमं विचारक्षमं ईदृशं स्वप्नसमूहं अपश्यः ॥ २८ ॥

अतः परं किं तव भाग्यमीडे,
यद्विश्वनेत्रा निशि लम्भितासि ।
स्वप्नार्थनिश्चायिकया स्ववाचा,
रहः सुधापानसुखानि देवि ॥ २९ ॥

अतः० हे देवि ! तव अतः परं किं भाग्यं ईडे स्तवीमि, विश्वनेत्रा जगन्नाथेन निशि रात्रौ स्वप्नार्थनिश्चयकारिण्या स्ववाचा एकांते सुधापानसुखानि लंभितासि प्रापितासि ॥२९॥

न पाययन् गोरसमर्थिनीं त्वां,
धत्ते स्म चित्ते रजनीमपीशः ।
क्षुधातुरं भोजयतां न दोषाः,
दोषापि यस्मादियमर्हदाज्ञा ॥ ३० ॥

न० ईशः स्वामी अर्थिनीं त्वां गोरसं वाणीरसं दुग्धं वा पाययन् सन् रजनीमपि रात्रिमपि चित्ते न धत्ते स्म, यस्मात् कारणात् अर्हदाज्ञा श्री सर्वज्ञाज्ञा इयं वर्त्तते, इयमिति किं ?

दोषापि रात्रिरपि अत्र दोषाशब्दो अव्ययो ज्ञेयः तेन विभक्तिलोपः, क्षुधातुरं बुभुक्षितं भोजयतां न दोषः स्यात् ॥ ३० ॥

कदाचिदुद्गच्छति पश्चिमायां,
सुरः सुमेरुः परिवर्तते वा ।
सीमानमत्येति कदापि वार्द्धिः,
शैत्यं समास्कन्दति वाश्रयाशः ॥ ३१ ॥
सर्वंसहत्वं वसुधाऽवधूय,
श्वभ्रातिथित्वं भजते कदाचित् ।
रंभोरु दम्भोरगगारुडं ते,
वचो विपर्यस्यति न प्रियस्य ॥ ३२ ॥ युग्मम् ।

कदा० हे कल्याणि ! कदाचित् सूरः सूर्यः पश्चिमायां उद्गच्छति, वा अथवा कदापि सुमेरुः परिवर्तते मेरुपर्वतः स्थानाच्चलति, कदापि वार्द्धिः समुद्रः सीमानं अत्येति अतिक्रामति, कदापि आश्रयाशोऽग्निः शैत्यं समास्कन्दति समागच्छति ॥ ३१ ॥ कदाचित् वसुधा पृथ्वी सर्वंसहत्वं अवधूय विमुच्य श्वभ्रातिथित्वं पातालस्य अतिथित्वं भजते सेवते, हे रंभोरु ! रंभा कदलीवत् ऊरू यस्यास्तस्याः संबोधने, ते तव प्रियस्य श्रीयुगादीशस्य दंभोरगगारुडं मायारूपसर्पस्य गारुडमंत्रसमानं वचो न विपर्यस्यति न परावर्तते ॥ ३२ ॥ युग्मम् ॥

यथा तथाम्भस्य मनुष्य वाचं,
वाचंयमानामपि माननीयाम् ।
पूर्णेऽवधौ प्राप्स्यसि देवि सूनुं,
स्वं विद्धि नूनं सुकृतैरनूनम् ॥ ३३ ॥

यथा० हे देवि! त्वं अस्य भगवतो यथा तथा सत्यं वाचं वाणीं मनुष्य जानीहि, किंविशिष्टां वाचं? वाचंयमानामपि यतीनामपि माननीयां मान्यां, हे देवि! त्वं अवधौ पूर्णे सति सूनुं पुत्रं प्राप्स्यसि, त्वं नूनं निश्चितं आत्मानं सुकृतैरनूनं पुण्यैः संपूर्णं विद्धि जानीहि ॥ ३३ ॥

दाता कुलीनः सुवचा रुचाढ्यो,
रत्नं पुमानेव न चाश्मभेदः ।
तद्रत्नगर्भा भवतीं निरीक्ष्य,
तयाख्ययापत्रपतेतरां भूः ॥ ३४ ॥

दाता० हे देवि! पुमानेव रत्नं वर्तते, न च अश्मभेदः, पाषाणविशेषो रत्नं, किंलक्षणः पुमान्? दाता विश्वे सर्वेषामर्थिजनानामाशापूरकत्वात्, उपकारकत्वाच्च, कुलीनः सुकुलोत्पन्नः, मातृकी जातिः, पैतृकं कुलमिति । सुवचा सत्यवाणी मधुरवचनभाषणपरगुणग्रहणादित्वात्, रुचाढ्यो रुचा कान्त्या आढ्यः समृद्धः, तत् तस्मात् कारणात् भवतीं त्वां रत्नगर्भां निरीक्ष्य दृष्ट्वा भूः पृथ्वी तयाख्यया रत्नगर्भा इति नाम्ना अपत्रपतेतरां लज्जतेतरां ॥ ३४ ॥

सुवर्णगोत्रं वरमाश्रितासि,
गर्भं सुपर्वागममुद्वहन्ती ।
श्रियं गता सौमनसीमसीमां,
न हीयसे नन्दनभूमिकायाः ॥ ३५ ॥

सुव० हे देवि! त्वं नंदनभूमिकायाः नंदनवनसंबन्धिभूमिकातो न हीयसे न हीना भवसि, किं विशिष्टा त्वं? सुवर्ण-

गोत्रं सुष्ठु शोभनवर्णा अक्षराणि यत्र तत् सुवर्णं एवंविधं गोत्रं नाम यस्य स तं वरं पतिं आश्रितासि, नन्दनवनभूमिपक्षे वरं श्रेष्ठं सुवर्णगोत्रं मेरुं, त्वं किं कुर्वती ? सुपर्वागमं सुपर्वाणो देवास्तेभ्यः आगमं आगमने यस्य सुपर्वागमस्तं एवंविधं गर्भं उद्वहन्ती, पक्षे सुपर्वणां देवानां आगमा यत्र तं एवंविधं गर्भं मध्यं, पुनः किं० त्वं सीमारहितां सुमनसः सन्तस्तत्संबंधिनीं श्रियं शोभां श्रिता, पक्षे सुमनसः पुष्पाणि तत्संबन्धिनीं एतावता नन्दनभूमेः सुमंगलायाः सादृश्यं जातं ॥ ३५ ॥

रिपुद्विपक्षेपिबलं गभीरा,
न भूरिमायैः परिशीलनीया ।
गर्भं महानादममुं दधाना,
परैरधृष्यासि गिरेर्गुहेव ॥ ३६ ॥

रिपु० हे देवि ! त्वं अमुं गर्भं दधाना सती गिरेर्गुहेव परैरन्यैरधृष्या अनाकलनीयासि, किंविशिष्टं अमुं ? महानादं महानादः कीर्तिरूपो यस्य स तं, पक्षे महानादं सिंहं, पुनः किंविशिष्टं अमुं ? रिपुद्विपक्षेपिबलं, रिपवः शत्रव एव द्विपा गजास्तेषां क्षेपि तिरस्कारि बलं यस्य स तं, किंलक्षणा त्वं ? गुहेव गभीरा गंभीराः, पुनः किंवि० भूरिमायैर्मायाबहुलैः शृगालैर्वा न परिशीलनीया, अनाश्रयणीया ॥ ३६ ॥

जित्वा गृहव्योममणिः स्वभासा,
ध्रुवं तव प्रोल्लसिता सुतेन ।
तत्तेन मध्ये वसताभ्रगेह-
द्युतीव धत्से नवमेव तेजः ॥ ३७ ॥

जित्वा० हे देवि ! तव सुतेन स्वभासा आत्मीयकान्त्या गृहव्योममणिः गृहमणिः प्रदीपः व्योममणिः सूर्यः तौ जित्वा ध्रुवं निश्चितं प्रोल्लसिता उल्लसिष्यते, तत् तस्मात् कारणात् तेन सुतेन मध्ये उदरे वसता त्वं अभ्रगेहद्वयीव, अभ्रगेहं अभ्रकगृहं आकाशं वा नवतेजो धत्से दधासि ॥ ३७ ॥

सूते त्वया पूर्वदिशात्र भास्व-
त्युल्लासिनेत्राम्बुजराजि यत्र ।
दृष्टामृताघ्राणसुखं वपुर्मे,
सरस्यते तद्दिनमर्थयेऽहम् ॥ ३८ ॥

सूते० अहं तत् दिनं अर्थये प्रार्थयामि, यत्र यस्मिन् दिने पूर्वदिक् सदृशया त्वया अत्र अस्मिन् सुते सूते सति मम वपुः शरीरं सरस्यते सर इवाचरति, किंविशिष्टे? अत्र भास्वति देदीप्यमाने सूर्यसदृशे वा, किंविशिष्टं वपुः ? उल्लासितनेत्रांबुजराजि उल्लासिनी नेत्रांबुजानां सहस्रलोचनत्वात् राजिः श्रेणिर्यत्र तत् उ०, किंविशिष्टः वपुः ? दृष्टामृताघ्राणसुखं दृष्टं अमृतेन आघ्राणस्य तृप्तेः सुखं येन तत् ॥ ३८ ॥

प्राप्ता भुवं खेलयितुं तनूजं,
तवोपगुह्यासमुदस्त्रिदश्यः ।
तथा रतिं न स्वरिता रतार्त-
प्रियोपगूढा अपि बोधितारः ॥ ३९ ॥

प्राप्ता० त्रिदश्यो देवांगनाः स्वरिताः स्वः स्वर्गं इता गताः सत्यः रतार्तप्रियोपगूढा अपि संभोगावसरपीडितदयितालिंगिता अपि तथा रतिसुखं न बोधितारो न ज्ञास्यन्ति, यथा तव तनूजं

उपगुह्य आलिंग्य प्राप्तमुदः प्राप्तहर्षाः सत्यः भुवं खेलयितुं प्राप्ता यथा सुखं बोधितारो ज्ञास्यन्ति ॥ ३९ ॥

अस्मिन्मयैकासनसन्निविष्टे,
मत्तो महत्त्वादिगुणैरनूने ।
चिह्नैरिलास्पर्शनिमेषमुख्यै-
रस्यैव मां लक्षयितामरौघः ॥ ४० ॥

अस्मि० हे देवि ! अस्मिन् तव सुते मयैकासनसंनिविष्टे मया सह एकस्मिन्नेवासने उपविष्टे सति अमरौघः देवसमूहः अस्यैव तव पुत्रस्य इलास्पर्शनिमेषमुख्यैः पृथ्वीतलस्पर्शनादि-चिन्हैः मां लक्षयिता उपलक्षयिष्यति, किंविशिष्टे ? अस्मिन् मत्तो मत्सकाशात् महत्त्वादिगुणैरनूने संपूर्णे ॥ ४० ॥

अस्मिन्नसिव्यग्रकरे करीन्द्रा-
रूढे रणाय प्रयतेऽरिभूपाः ।
पलायमाना वपुषो विगास्य-
न्त्युच्चत्वमेके गुरुतां तथान्ये ॥ ४१ ॥

अस्मि० अस्मिन् तव पुत्रे असिव्यग्रकरे खड्गव्यग्रहस्ते करीन्द्रारूढे रणाय प्रयते संग्रामाय आदरपरे सति एके अरिभूपा राजानः वपुषः शरीरस्य उच्चत्वं तथा अन्ये वपुषो गुरुतां गुरुत्वं विगास्यन्ति, निन्दिष्यन्ति, किंविशिष्टा अरिभूपाः ? पलायमानाः ॥ ४१ ॥

अस्येषुपुंखाक्षरवीक्षणेन,
क्षरन्मदाः संख्यमतन्वतोऽपि ।

यास्यन्ति दास्यं समुपास्य लास्यं,
दूरे मनुष्या दनुजारयोऽपि ॥ ४२ ॥

अस्ये० हे देवि! ते सर्वप्रसिद्धाः सदानवा दानवसहिता दनुजारयोऽपि मागधवरदामप्रभाससिन्धुखंडप्रपातगुफातमिश्रगुफासत्कप्रभृतिदेवा अपि अस्य तव पुत्रस्य लास्यं नाट्यं समुपास्य कृत्वा अस्य तव पुत्रस्य दास्यं यास्यन्ति, किंविशिष्टा दनुजारयः इषुपुंखाया अक्षरदर्शनेन क्षरन्मदाः नश्यद्गर्वाः, किं कुर्वतोऽस्य? संख्यं संग्रामं अतन्वतोऽपि अकुर्वतोऽपि ॥ ४२ ॥

अस्मिन् दधाने भरताभिधान-
मुपेष्यतो भूमिरियं च गीश्च ।
विद्वद्भुवि स्वात्मनि भारतीति,
ख्यातौ मुदं सत्प्रभुलाभजन्माम् ॥ ४३ ॥

अस्मि० अस्मिन् तव पुत्रे भरताभिधानं दधाने सति इयं भूमिः पृथ्वी च अन्यत् गीः सरस्वतीव विद्वद्भुवि विद्वज्जनस्थाने स्वात्मनि आत्मविषये भारतीति ख्यातौ सत्यां सत्प्रभुलाभजन्मां, सुस्वामिप्राप्तिसमुत्पन्नां, मुदं हर्षं उपेष्यतः, प्राप्स्यतः, विद्वांस इति विदन्ति, भरतस्येयं भारती, भरतक्षेत्रभूमिः सरस्वती वा ॥ ४३ ॥

उदच्यमाना अपि यान्ति निष्ठां,
सूत्रेषु जैनेष्विव येषु नार्थाः ।

तेषां नवानां निपुणे निधीनां,
स्वाधीनता वर्त्स्यति ते तनूजे ॥ ४४ ॥

उद० येषु निधिषु उदच्यमाना अपि निःकाम्यमानापि अर्था द्रव्याणि निष्ठां क्षयं न यान्ति, केष्विव ? सूत्रेष्विव यथा जैनेषु आगमेषु अर्था निष्ठां न यान्ति, तद्यथा—"सव्वनईणं हुज्जवालु, या सव्व उदहिजं नीरं । इत्तो वि अणंतगुणो अणंतसो अत्थ सुत्तस्स ॥ १ ॥ इति न्यायात् आगमार्थनिष्ठां न यान्तीतिभावः, हे निपुणे ? तेषां नवानां निधीनां स्वाधीनता स्ववशता ते तव तनूजे पुत्रे वर्त्स्यति भविष्यति, अमूनि नव निधानानि—"नेसप्पे १ दुपए २ पिंगलए ३ सव्वरयण ४ महपउमे ५ कोलये ६ महाकाले ७ माणवगमहानिहि ८ संखे ९ ॥ १ ॥ एतेषु एते पदार्थाः स्युः, पुर १ रुणू २ भूसण ३ रयण ४ वच्छ ५ सिप्पा ६ गराण ७ सच्छाण ८ नाडय ९ उप्पत्तिकमासनाम सुरठिय निहीणं ॥ २ ॥ चक्कठपइठाणा अट्ठुस्सेहाय नवयविक्खंभा बारसजोयणमंजूस-संठिया जन्हवीयमूहे ॥ ३ ॥" ॥ ४४ ॥

न मानवीष्वेव समाप्तकामः,
प्रभामयीं मूर्तिमुपेतयासौ ।
समाः सहस्रं सुरशैवलिन्या,
समं समेष्यत्युपभोगभङ्गीः ॥ ४५ ॥

न० हे देवि ! असौ तव पुत्रः मानवीष्वेव न समाप्तकामः असंपूर्णाभिलाषः सन् प्रभामयीं मूर्तिमुपेतया प्राप्तया सुरशैवलिन्याः गङ्गायाः समं सहस्रं समाः सहस्रवर्षाणि उपभोगभङ्गी विलासादिसुखविच्छित्तीः समेष्यति प्राप्स्यति ॥ ४५ ॥

सद्धर्मिकान् भोजयतोऽस्य भक्त्या
भक्तैर्विचित्रैः शरदां समुद्रान् ।
भक्तेश्च भुक्तेश्च रसातिरेकं,
वक्तुं भविष्यत्यबुधा बुधाली ॥ ४६ ॥

सद्ध० हे देवि ! अस्य तव सुतस्य सम्यक्त्वधारिणः १ सचित्तपरिहारिणः २ एकाहारिणः ३ ब्रह्मचारिणः ४ सत्यव्यवहारिणः ५ द्वादशव्रतधारिणः ६ ईदृग् षडरीयुक्तान् साधर्मिकान् सुश्रावकान् भक्त्या विचित्रैः शालिदालिपक्वान्नघृतघोलाद्यैर्भक्तैः रवैः शरदां वर्षाणां समुद्रात् कोटाकोटीभोजयतः सतः भक्तेश्च अन्यत् भुक्तेश्च रसातिरेकं रसाधिक्यं वक्तुं जल्पितुं बुधाली विद्वत् श्रेणिरबुधा मूर्खा भविष्यति ॥४६॥

निवेशिते मूर्ध्न्यमुना विहार-
निभे मणिस्वर्णमये किरीटे ।
न सुभ्रु भर्ता किमुदारशोभां,
भूभृद्वरोऽष्टापदनामधेयः ॥ ४७ ॥

निवे० हे सुभ्रु ! अष्टापदनामधेयो भूभृद्वरः पर्वतः मुख्यः राजा वा उदारशोभां किं न भर्ता धरिष्यति अपि तु धरिष्यत्येव, क सति ? अमुना तव पुत्रेण विहारनिभेन प्रासादछलेन मणिस्वर्णमये किरीटे मुकुटे मूर्ध्नि मस्तके निवेशिते सति यत् उच्यते—"उत्सेधांगुलदीर्घयोजनमितं क्रोशत्रये चोच्छ्रितं विस्तारे भरताधिराजविहितं गव्यूतमात्रोद्धरम् । एकाहर्निशवासनित्यविशदं कैलासभूषामणि नाम्ना सिंहनिषेधमुत्तममहं चैत्यं स्तुवे सादरं ॥ १ ॥" राजापि शिरसि मुकुटे निविशिते शोभां प्राप्नोति अष्टापदोऽपि प्रासादेन शोभां प्राप्नोति भावः ॥ ४७ ॥

तथैष योगानुभवेन पूर्व-
भवे स्वहस्तेऽकृत मोक्षतत्त्वम् ।
स्वरूपवीक्षामदकर्मबन्धा-
त्रातुं यथाऽऽसत्स्यति तद्रयेण ॥ ४८ ॥

तथै० एष तव सुतः पूर्वभवे योगानुभावेन स्वहस्ते मोक्षतत्त्वं तथा अकृत यथा तत् मोक्षत्वं रयेण वेगेन स्वरूपवीक्षामदकर्मबन्धात् त्रातुं रक्षितुं आसेत्स्यति आसन्नं भविष्यति ॥४८॥

एवं पुमर्थप्रथने समर्थः,
प्रभानिधिर्नैःस्वनिरासनिष्ठः ।
पाल्यो महोर्व्यास्तव पद्मराग,
इव प्रयत्नान्न न गर्भगोऽयम् ॥ ४९ ॥

एवं० हे देवि ! एवं अमुना पूर्वोक्तप्रकारेण पुमर्थप्रथने पुरुषार्थविस्तारे समर्थः प्रभानिधिः नैःस्वनिरासनिष्ठः दारिद्र्यनिराकरणतत्परः, एवंविधोऽयं गर्भगस्तव पुत्रः महोर्व्याः महापृथिव्याः पद्मराग इव प्रयत्नात् महोद्यमात् न न पाल्य- अपि तु पालनीय एव ॥ ४९ ॥

गीर्वाणलोकेऽस्मि यथा गरीया-
स्तथा नृलोके भविता सुतस्ते ।
वयस्य एवात्र सदृग्वयस्य-,
सम्पर्कसौख्यानि समी ममात्मा ॥ ५० ॥

गीर्वा० अहं गीर्वाणलोके देवलोके यथा गरीयानस्मि तथा नृलोके मनुष्यलोके तव सुतो गरीयान् भविता भवि-

ष्यति, वयस्थ एव यौवनं प्राप्त एव सुते मम आत्मा सदृग्वयस्यः संपर्कसौख्यानि सदृक्षमित्रसंगमसुखानि गमिष्यति ॥ ५० ॥

इत्युक्तिभिर्वृष्टिसिताम्बुमेघ-
श्लाघाममोघां मघवा विधाय ।
तिरोदधे व्योमनि विद्युदर्चिः-
स्तोमं स्वभासा परितो वितत्य ॥ ५१ ॥

इत्यु० मघवा इन्द्र इत्युक्तिभिः पूर्वोक्तवचनैर्वृष्टिसिताम्बुमेघश्लाघां शर्करोदकमेघप्रशंसां अमोघां सफलां विधाय कृत्वा तिरोदधे अदृश्यो बभूव, किं कृत्वा ? व्योमनि आकाशे स्वभासा आत्मीयकान्त्या परितः समंततो विद्युदर्चिःस्तोमं विद्युत्तेजःसमूहं वितत्य विस्तार्य ॥ ५१ ॥

तस्मिन्नथालोकपथाद्विभिन्ने,
हृन्नेत्रराजीवविकासहेतौ ।
सा पद्मिनीवानघचक्रबन्धौ,
क्षणात्तमःश्याममुखी बभूव ॥ ५२ ॥

तस्मि० अथानन्तरं तस्मिन् इन्द्रे आलोकपथाद्विभिन्ने दर्शनमार्गाद्विभिन्ने पृथग्भूते सति सा पद्मिनीव क्षणात्तमःश्याममुखी बभूव, तमसा विषादेन श्यामवदना जाता, किंविशिष्टे इन्द्रे ? हृन्नेत्रराजीवविकासहेतौ हृदयकमलनयनकमलयोर्विकाशकारणे, पुनः किंवि० इन्द्रे ? अनघचक्रबन्धौ अनघानां निष्पापानां चक्रे समूहे बन्धुसदृशे पक्षे अनघे निर्दूषणे चक्रबन्धौ सूर्ये आलोकपथाद्विभिन्ने सति कमलिनी तमःश्याममुखी स्यात् तथा सा जाता ॥ ५२ ॥

अवोचदालीरुपजानुपाली-
भूय स्थिता गद्गदया गिरा सा ।
अतृप्त एवात्र जने रसस्य,
हला बलारिर्व्यरमत्किमुक्तेः ॥ ५३ ॥

अवो० सा सुमंगला गद्गदया गिरा स्खलिताक्षरया वाण्या उपजानु समीपे पालीभूय श्रेणीभूय स्थिता, एवंविधा आलीः सखीरवोचत्, हे हलाः सख्यः! बलारिः इन्द्रः अत्र मल्लक्षणे जने रसस्य अतृप्त एव उक्तः किं व्यरमत् व्यरराम ॥ ५३ ॥

दौःस्थ्यं किमस्यापि कथाप्रथासु,
न्यासोचिता वा किमु नास्मि तासाम् ।
वाणीरसे मामसमाप्तकामां,
विहाय यत्सैष ययौ विहायः ॥ ५४ ॥

दौ० अस्यापि इन्द्रस्य कथाप्रथासु किं दौःस्थ्यं दारिद्र्यं वर्तते, वा अथवा तासां कथाप्रथानां किमु अहं न्यासोचिता संवासयोग्या नास्मि, यत् यस्मात् कारणात् स एष इन्द्रः वाणीरसे असमाप्तकामां असंपूर्णाभिलाषां माम् विहाय मुक्त्वा विहायः आकाशं ययौ ॥ ५४ ॥

यस्यामृतेनाशनकर्म तस्य,
वचः सुधासारति युक्तमेतत् ।
पातुः पुनस्तत्र निपीयमाने,
चित्रं पिपासा महिमानमेति ॥ ५५ ॥

यस्या० यस्य इन्द्रस्य अमृतेन अशनकर्म आहारो वर्तते, तस्य इन्द्रस्य वचःसुधासारति अमृतस्य आसार इवाचरति,

अमृतवृष्टिरिव भवति एतद्युक्तं, पुनः चित्रं आश्चर्यं तत्र वचसि निपीयमाने सति पातुः पिबतीति पाता तस्य पिबतः पुरुषस्य पिपासा तृष्णा महिमानं एति ॥ ५५ ॥

न मार्जितावत्कवलेन लेह्या,
न क्षीरवच्चांजलिना निपेया ।
अहो सतां वाग् जगतोऽपि भुक्त-
पीतातिरिक्तां विदधाति तुष्टिम् ॥ ५६ ॥

न० अहो इति आश्चर्ये, सतां वाक् मार्जितावत् कवलेन लेह्या न आस्वाद्या वर्तते, च अन्यत् सतां वाक् क्षीरवत् पानीयवत् अञ्जलिना पेया न वर्तते, सतां वाग् जगतोऽपि विश्वस्य भुक्तपीतातिरिक्तां, भोजनात् क्षीरपानात् विशेषकारिणीं तुष्टिं विदधाति ॥ ५६ ॥

न चन्दनं चन्द्रमरीचयो वा,
न चाप्यपाचीपवनो वनी वा ।
सितानुविद्धं न पयः सुधा वा,
यथा प्रमोदाय सतां वचांसि ॥ ५७ ॥

न० न चन्दनं वा अथवा चन्द्रमरीचयश्चन्द्रकिरणाः अपाचीपवनो दक्षिणानिलो न चापि वा अथवा वनी महद्वनं सितानुविद्धं शर्करासंयुक्तं पयो वा अथवा सुधा अमृतं तथा प्रमोदाय न स्युर्यथा सतां वचांसि प्रमोदाय स्युः ॥ ५७ ॥

अंगुष्ठयंत्रार्दनया ददानौ,
रसं रसज्ञा सुधियां रसज्ञे ।
सुधां प्रकृत्या किरती परेषु-
स्तनेक्षुयष्टी न न धिक्करोति ॥ ५८ ॥

अंगु० सुधियां रसज्ञा परेष्टुः बहुप्रसूता गौस्तस्याः स्तनः इक्षुयष्टीश्च द्वौ न न धिक्करोति अपि तु धिक्करोतीति तिरस्करोत्येव, किंविशिष्टौ ? परेष्टुस्तनेक्षुयष्टी अंगुष्ठयंत्रार्दनया अंगुष्ठस्य यंत्रस्य च अर्दनया पीडनया रसौ ददानौ, किंवि० ? रसज्ञा रसज्ञे पुरुषे प्रकृत्या स्वभावेन सुधां अमृतं किरती विस्तारयन्ती ॥५८॥

अवेदि नेदीयसि देवराजे,
श्रोत्रोत्सवं तन्वति वाग्विलासैः ।
दिनो न गच्छन्नपि हन्त सख्यः,
कालः किमेवं कुतुकैः प्रयाति ॥ ५९ ॥

अवे० हे सख्यः ! हन्त इति वितर्के । मया दिनो गच्छन्नपि न अवेदि न ज्ञातः, क्व सति ? नेदीयसि प्रत्यासन्ने देवराजे इन्द्रे वाग्विलासैः श्रोत्रोत्सवं कर्णोत्सवं तन्वति कुर्वति सति कालः किं एवं अमुना प्रकारेण कुतुकैराश्चर्यैः प्रयाति ॥ ५९ ॥

विज्ञापयांचक्रुरथालयस्तां,
विमुग्धचित्ते गतचिन्तयालम् ।
स्नातुं च भोक्तुं च यतस्व पश्य,
खमध्यमास्कन्दति चण्डरोचिः ॥ ६० ॥

विज्ञा० अथानन्तरं आलयः सख्यस्तां सुमङ्गलां विज्ञापयां चक्रुः, हे विमुग्धचित्ते ! गतचिंतया अलं पूर्यतां पश्य विलोकय चण्डरोचिः सूर्यः खमध्यं आस्कन्दति आकाशमध्यं क्रामति, त्वं स्नातुं स्नानं कर्तुं च अन्यत् भोक्तुं यतस्व उपक्रमं कुरु ॥६०॥

अहो अहः प्राप्य कृतप्रयत्नः,
शनैः शनैरभ्यपदोमलब्धौ ।

करे खरीभूय नयस्य तत्त्वं,
व्यनक्ति सूरेष्वपरेषु सूरः ॥ ६१ ॥

अहो० अहो इत्याश्चर्ये, सूरः सूर्यः अहर्दिनं प्राप्य शनैः शनैरुच्चपदोपलब्धौ कृतप्रयत्नः सन् करे कणे खरीभूय कठोरो भूत्वा अपरेषु सूरेषु भटेषु नयस्य न्यायस्य तत्त्वं व्यनक्ति प्रकटीकरोति, दिवसे प्राप्ते सति उच्चपदप्राप्त्यर्थं प्रयत्नः क्रियते करे दंडे खरत्वं क्रियत इति भावः ॥ ६१ ॥

लोकं ललाटंतपरश्मिदण्डै-
रुत्सार्य भानुर्विजनीकृतेषु ।
सरस्स्ववक्रान्वियदन्तरस्थः,
क्रोडे करान्न्यस्यति पद्मिनीनाम् ॥ ६२ ॥

लोकं० भानुः सूर्यः विजनीकृतेषु निर्जनेषु सरस्सु सरोवरेषु पद्मिनीनां क्रोडे उत्संगे वियदंतरस्थः सन् आकाशमध्ये स्थितः सन् अवक्रान् करान् न्यस्यति व्यापारयति, किं कृत्वा ? ललाटंतपरश्मिदंडैः ललाटंतपैः रश्मिदंडैः किरणदंडैः लोकं उत्सार्य परत्र कृत्वा ॥ ६२ ॥

पद्मं श्रियःसद्म बभूव भानोः,
करैरधूमायत सूर्यकान्तः ।
भर्तुः प्रसादे सदृशेऽपि संप-
त्फलोपलब्धिः खलु दैववश्या ॥ ६३ ॥

पद्मं० भानोः सूर्यस्य करैः किरणैः पद्मं कमलं श्रियःसद्म लक्ष्म्याः गृहं बभूव, सूर्यस्य करैः सूर्यकान्तः अधूमायत धूम-

वदाचरितः, भर्तुः स्वामिनः सदृशेऽपि प्रसादे संपत्फलोपलब्धिर्लक्ष्मीफलप्राप्तिः खलु निश्चितं दैववश्या दैवायत्ता स्यात् ॥६३॥

य: कोऽपि दध्रे निशि राजशब्दं,
दिगन्तदेशानियता ययौ सः ।
दधासि कस्योपरि तिग्मभावं,
पान्थैः श्रमार्तैरविरेवमूचे ॥ ६४ ॥

यः० श्रमार्तैः पान्थैः श्रमाकुलैः पथिकैः रविः सूर्यः एवं ऊचे । एवमिति किं ? यः कोऽपि निशि रात्रौ राजशब्दं दध्रे धरति स, सः इयता दिगंतदेशान् ययौ तर्हि कस्योपरि तिग्मभावं तीव्रत्वं दधासि ॥ ६४ ॥

तोयाशया धावित एष पान्थ-
व्रातो विमुह्यन् मृगतृष्णिकाभिः ।
अप्राप्य तोयं क्षरदश्रुपूरै-
रुत्थापयत्यम्बु किलोषरेऽपि ॥ ६५ ॥

तोया० एष पान्थव्रातः पथिकसमूहस्तोयाशया जलस्येच्छया धावितः, सन् तोयं जलं अप्राप्य क्षरदश्रुपूरैः किल इति सत्ये ऊषरेऽपि अंबु उत्थापयति, ऊषरे स्थानेऽपि जलप्रकटं करोति, किं कुर्वन् ? पान्थव्रातं मृगतृष्णिकाभिः विमुह्यन् ॥ ६५ ॥

अमी निमीलन्नयना विमुक्त-
बाह्यश्रमा मौनजुषः शकुन्ताः ।
श्रयन्ति सान्द्रद्रुमपर्णशाला,
अभ्यस्तयोगा इव नीरजाक्षि ॥ ६६ ॥

अमी० हे नीरजाक्षि कमललोचने ! अमी निमीलन्नयनाः

मीक्ष्यमानलोचनाः विमुक्तबाह्यभ्रमाः मौनजुषः एवंविधाः शकुन्ताः पक्षिणः सांद्रद्रुमपर्णशालाः निबिडवृक्षपत्रशालाः श्रयन्ति, उत्प्रेक्ष्यते—अभ्यस्तयोगा इव ॥ ६६ ॥

उदीयमानोऽकृत लोककर्म-
साक्षीत्यभिख्यामयमाहितार्थाम् ।
भास्वानिदानीं तु कृतान्ततात,
इति त्विषा त्रासितसर्वसत्त्वः ॥ ६७ ॥

उदी० अयं भास्वान् सूर्यः उदीयमानः सन् लोककर्म्मसाक्षी इति अभिख्यां नाम आहितार्थां सत्यार्थां अकृत कृतवान्, तु पुनरिदानीं अधुना कृतांततात इति अभिख्यां आहितार्थां अकृत, किंवि० सूर्यः ? त्विषा कान्त्या त्रासितसर्वसत्त्वः ॥६७॥

इतीरयित्वा विरतासु तासु,
तारुण्यमारूढमहर्निरीक्ष्य ।
सुमङ्गलाय स्वयशोनियुक्त-
धीमज्जना मज्जनसद्म भेजे ॥ ६८ ॥

इती० अथानन्तरं सुमङ्गला मज्जनसद्म मज्जनगृहं भेजे, किं कृत्वा ? अहर्दिनं तारुण्यं यौवनं आरूढं निरीक्ष्य, कासु सतीषु तासु सखीषु इति ईरयित्वा कथयित्वा विरतासु सतीषु, किंलक्षणा सुमंगला ? स्वयशोनियुक्तधीमज्जना, आत्मीययशसा नियुक्ता व्यापारिता, विद्वज्जना यया सा स्वयशोनि० ॥ ६८ ॥

तद्वक्षोजश्रीप्रौढिमालोक्य हैमैः,
कुम्भैर्मन्दाक्षेणेव नीचीभवद्भिः ।
धम्मःसंभारभ्राजिभिः स्नानपीठ-
न्यस्तां संन्यस्तां मज्जयामासुरासु ॥ ६९ ॥

तद्व० सख्यः स्नानपीठन्यस्तां उपविष्टां तां सुमङ्गलां अंभःसंभारभाजिभिः जलसमूहेन शोभमानैः भृतैः हैमैः सुवर्णसत्कैः कुंभैर्घटैराशु शीघ्रं मज्जयामासुः स्नानं कारयामासुः, किं कुर्वद्भिः कुंभैः ? उत्प्रेक्ष्यते—तद्वक्षोजश्रीप्रौढिं आलोक्य तस्याः सुमङ्गलायाः स्तनलक्ष्मीसत्काः प्रौढिं दृष्ट्वा मन्दाक्षेणेव लज्जयेव नीचीभवद्भिः ॥ ६९ ॥

जगद्भर्तुर्वाचा प्रथममथ जंभारिवचसा,
रसाधिक्यात्तृप्तिं समधिगमितामप्यनुपमाम् ।
स्वरायातैर्भक्ष्यैः शुचिभुवि निवेश्यासनवरे,
बलादालीपाली चटुघटनयाऽभोजयदिमाम् ॥७०

जग० आलीपाली सखीश्रेणिः शुचिभुवि पवित्रभूमौ आसनवरे इमां सुमंगलां बलान्निवेश्य स्वरायातैः स्वर्गात् आगतैर्भक्ष्यैः चटुघटनया चाटुवचनया अभोजयत्, किंलक्षणां सुमंगलां ? प्रथमं जगद्भर्तुर्वाचा श्रीऋषभदेवस्य वचनेन अथ जंभारिवचसा इन्द्रस्य वाण्या रसाधिक्यात् अनुपमां तृप्तिं समधिगमितामपि प्रापितामपि ॥ ७० ॥

सूरिः श्रीजयशेखरः कविघटाकोटीरहीरच्छवि-
र्धम्मिल्लादिमहाकवित्वकलना कल्लोलिनीनीरधिः ।
वाणीदत्तवरश्चिरं विजयते तेन स्वयं निर्मिते,
सर्गो जैनकुमारसम्भवमहाकाव्येऽयमेकादशः ॥ ७१ ॥

इति श्रीअञ्चलगच्छकविचक्रवर्तिश्रीजयशेखरसूरिविरचितायां श्रीजैनकुमारसंभवस्य तच्छिष्यश्रीधर्मशेखरसूरिविरचितायां टीकायां श्रीमाणिक्यसुन्दरसूरिशोधितायां एकादशसर्गव्याख्या समाप्ता ॥ ७ ॥

अथ प्रशस्तिः

सुरा सुरनराधीशसेव्यमानपदांबुजः ।
नाभिराजांगजो नित्यं श्रीयुगादिजिनो मुदे ॥ १ ॥
श्रीमदंचलगच्छे जयशेखरसूरयः ।
चत्वारस्तैर्महाग्रंथाः कविशक्रैर्विनिर्मिताः ॥ २ ॥
प्रबोधश्चोपदेशश्च चिंतामणिकृतोत्तरौ ।
कुमारसंभवं काव्यं चरित्रं धम्मिलस्य च ॥ ३ ॥
तेषां गुरूणां गुणबन्धुराणां शिष्येण धर्मोत्तरशेखरेण ।
श्रीजैनकुमारसंभवीयं सुखावबोधाय कृतेति टीका ॥ ४ ॥
देशे सपादलक्षे सुखलक्ष्ये षट्पुरे पुरप्रवरे ।
नयनवसुवार्धिचन्द्रे (१४८३) वर्षे हर्षेण निर्मिता सेयं ॥ ५ ॥
विद्वत्पद्मविकाशन् दिनकराः सूरीश्वरा भाश्वराः
माणिक्योत्तरसुन्दराः कविवरा कृत्वा प्रसादं परं ।
भक्त्या श्री जयशेखरे निजगुरौ शुद्धामकार्षुर्मुदा,
श्रीमज्जैनकुमारसंभवमहाकाव्यस्य टीकामिमां ॥ ६ ॥
यावन्मेरुर्महीपीठे स्थिरतां भजते भृशं ।
वाच्यमाना जनैस्तावट्टीकासौ नन्दताच्चिरम् ॥

॥ इति समाप्तः ॥

इति श्रेष्ठिदेवचन्द्र-लालभाइ-जैनपुस्तकोद्धारे ग्रन्थाः ।



श्रीमती आगमोदयसमिति तथा शेठ देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंडना हालमां मळतां ग्रंथो.

आगमोदय समितिनां ग्रंथो.

अंक.	नाम.	रूपिया.
४५	भक्तामरस्तोत्रपादपूर्त्तिरूप काव्यप्रथम विभागभाषांतर, टीका	३-०-०
४७	पंचसंग्रह-टीकासह	२-८-०
४८	विशेषावश्यक भाषांतर भाग २ जो	३-०-०
५०	जीवसमास प्रकरणम् सटीक	१-६-०
५१	स्तुतिचतुर्विंशतिका सचित्रा श्रीशोभनमुनिकृता संस्कृता	८-०-०
५२	स्तुतिचतुर्विंशतिका सचित्रा कवि धनपालकृता व ऐंद्रस्तुति	६-०-०
५३	चतुर्विंशतिका-सचित्रा श्री बप्प भट्टिसूरिकृता भाषांतरयुक्त	६-०-०
५४	भक्तामरस्तोत्रपादपूर्तिरूप काव्यद्वितीयविभागः टीका भाषांतर	३-८-०
५५	नंद्यादि (सप्तसूत्र) गाथाद्यकारादियुतो विषयानुक्रमः	२-०-०
५६	आवश्यकसूत्रम्-मलयगिरिकृत टीकायुक्तं (पूर्वभागः)	४-०-०
५७	लोकप्रकाश-प्रथमविभागः द्रव्यलोकः सर्ग १ थी ११ भाषांतर	३-८-०
५९	चतुर्विंशतिका-जिनानंद स्तुति सचित्रा-मेरुविजय-कृता भाषां०	६-०-०
६०	आवश्यकसूत्रम्-मलयगिरिकृत टीकायुक्तं (द्वितीय भागः)	२-८-०
	(फंडमांथी त्रीजो भाग संपूर्ण छपायो छे)	
६१	लोकप्रकाश-द्वितीयविभागः क्षेत्रलोकः सर्ग १२ थी २० भाषां०	३-८-०

शेठ दे० ला० जै० पु० फण्डनां ग्रंथो.

अंक.	नाम.	रूपिया.
८५	आवश्यकसूत्रम्–मलयगिरिकृत टीकायुक्तं (तृतीय भागः) (बे भाग समितिमांथी छपाया छे.)	२–८–०
८६	लोकप्रकाश–चतुर्थ विभागः सप्तत्रिंशतसर्गानि संपूर्ण ग्रन्थ	१–०–०
८७	भरतेश्वर–बाहुबलिवृत्ति द्वितीयविभागः (संपूर्णम्)	२–०–०

नवीन ग्रन्थो

८८	प्रशमरति प्रकरणम् वाचक उमास्वातिविरचितं बृहत्गच्छीय श्रीहरिभद्रसूरिकृतविवरणसमेतं ...	१–४–०
८९	अध्यात्मकल्पद्रुमः रत्नचंद्रगणि द्वयधनविजयगणिकृत टीका युक्त	३–८–०
९०	गौतमीय काव्यम्–रूपचंद्रगणिकृत महाकाव्यं ...	१–८–०
९१	सटीक वैराग्यशतकादि ग्रंथ पंचकम्–पृथक् पृथक् मुनिराजोक्त–व्याख्यान योग्य	१–०–०
९२	अभिधानचिंतामणिकोशादिपंच कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यादि विरचितं	४–०–०
९३	जैन कुमारसंभव सटीक. जयशेखरसूरिविरचितं धर्मशेखरसूरिकृत टीकासहितम	२–८–०
९४	सिद्धहेमचंद्र–शब्दानुशासन–बृहद्वृत्त्यवचूर्णिः नवपाद अवचूर्णिकार–अमरचंद्रः	मुद्रणालये

प्राप्तिस्थानम्—

शेठ देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड

बडेखान् चकला, गोपीपुरा–सुरत.



इति श्रेष्ठि-देवचंद-लालभातृ-जैन-पुस्तकोद्धार-ग्रन्थाङ्के-ग्रन्थाङ्कः ९३